भारत सावित्री

१



वासुदेवशरण अग्रवाल

223.1

NO. 1678

N 1440

भारत सावित्री

महाभारत का एक नवीन
एवं सारगर्भित अध्ययन

•

खण्ड १
आदि पर्व से
विराट पर्व तक

•

वासुदेवशरण अग्रवाल

१९८४
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

●

तीसरी बार : १९८४
मूल्य : २०-०० रु०

●

मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स,
नई दिल्ली-११००२८

प्रकाशकीय

हमारे प्राचीन साहित्य में जिन महान् ग्रंथों को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उनमें महाभारत का अपना स्थान है। भारत का शायद ही कोई ऐसा शिक्षित और अशिक्षित परिवार हो, जिसमें महाभारत का नाम न पहुंचा हो और जो उसकी महिमा को न जानता हो। रामायण की भांति इस अमर ग्रंथ को भी बड़ा धार्मिक महत्व प्राप्त है और इसकी कथा सर्वत्र बड़े चाव और आदर-भाव से पढ़ी और सुनी जाती है।

निस्संदेह महाभारत ज्ञान का भंडार और रत्नों की खान है। सागर की भांति इसमें जो जितनी गहरी डुबकी लगाता है, उसे उतने ही मूल्यवान रत्न प्राप्त होते हैं।

हमें हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक-माला में भारतीय साहित्य के अध्येता तथा चिंतक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस महान् ग्रंथ का एक नवीनएवं सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन वस्तुतः एक नई दृष्टि प्रदान करता है। स्थानाभाव के कारण यद्यपि बहुत-से विवरण उन्हें संक्षिप्त कर देने पड़े हैं, तथापि महत्त्व के प्रायः सभी विवरण इसमें आ गये हैं।

जैसाकि लेखक ने अपनी भूमिका में संकेत किया है, यह पुस्तक तीन खण्डों में प्रकाशित हुईहै। 'विराट पर्व' तक की सामग्री इस पहले खण्ड में आ गई है। युद्ध के अंत तक का अंश दूसरे खण्ड में, शेष तीसरे में। इस प्रकार इन तीनों खण्डों में संपूर्ण महाभारत का सार पाठकों को मिल जाता है।

हिंदी में अपने ढंग का यह पहला प्रकाशन है। इसकी सामग्री न केवल रोचक है, अपितु वह महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन के लिए पाठकों को एक नई प्रेरणा देती है।

हमें विश्वास है कि इन तीनों खण्डों का अध्ययन पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

—मंत्री

भूमिका

'भारत-सावित्री' के रूप में महाभारत का एक नया अध्ययन यहां प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन के अट्ठाइस लेख 'हिन्दुस्तान' साप्ताहिक पत्र में धारावाहिक रूप से १९५३-५४ में प्रकाशित हुए थे, शेष अंश बाद में लिखा गया है। पुस्तक तीन खण्डों में प्रकाशित हुई है। इस प्रथम खण्ड में 'विराटपर्व' तक की कथा आ गई है। दूसरे खण्ड में 'उद्योग-पर्व' से 'स्त्रीपर्व' अर्थात् युद्ध के अंत तक की कथा है और तीसरे खण्ड में 'शांतिपर्व' से लेकर महाभारत के अंत तक का अंश दिया गया है।

'भारत-सावित्री' नाम महाभारत के अंत में आया है। जैसे वेदों का सार गायत्री मंत्र या सावित्री है, वैसे ही संपूर्ण महाभारत का सार धर्म शब्द में है। भारत-युद्ध की कथा तो निमित्त मात्र है, इसके आधार पर महाभारत के मनीषी लेखक ने युद्ध-कथा को धर्म-संहिता के रूप में परिवर्त्तित कर दिया था। धर्म की नित्य महिमा को बताने के लिए ग्रंथ के अंत में यह श्लोक है :

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितास्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा. ५।६३, उद्योग. ४०।११-१२)

अर्थात्—काम से, भय से, लोभ से अथवा प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना उचित नहीं। धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। जीव नित्य है और शरीर (धातु) अनित्य है। इस श्लोक की संज्ञा भारत-सावित्री है (स्वर्गा० ५।६४)। यही महाभारत का निचोड़ या उसका गायत्री मंत्र है। विश्व की प्रेरक शक्ति का नाम सविता है। महाभारत-ग्रंथ का जो धर्म-प्रधान उद्देश्य है, वही उसका सविता देवता है। उसकी प्रेरणात्मक भावना को इस अध्ययन में यथासंभव सुरक्षित रखा गया है। यही इस नाम का हेतु है।

वेदों में सृष्टि के अखंड विश्व-व्यापी नियमों को ऋत कहा गया था।

ऋत के अनुसार जीवन का व्यवहार मानव के लिए श्रेष्ठ मार्ग था। ऋत के विपरीत जो कर्म और विचार थे, उन्हें वरुण के पाश या बंधन समझा जाता था। वैदिक परिभाषाओं का आनेवाले युग में विकास हुआ। उस समय जो शब्द सबसे ऊपर तैर आया, वह धर्म था। धर्म शब्द भारतीय संस्कृति का सार्थक और समर्थ शब्द बन गया। महाभारतकार ने धर्म की एक नई व्याख्या रक्खी है, अर्थात् प्रजा और समाज को धारण करने वाले, नियमों का नाम धर्म है। जिस तत्व में धारण करने की शक्ति है, उसे ही धर्म कहते हैं :

धारणाद्धर्म इत्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

जितना जीवन का विस्तार है, उतना ही व्यापक धर्म का क्षेत्र है। धर्म की इस व्याख्या के अनुसार धर्म जीवन का सक्रिय तत्त्व है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की निजी स्थिति और लोक की स्थिति संभव बन रही है। धर्म, अर्थ, काम की संज्ञा त्रिवर्ग है। इस त्रिवर्ग में भी धर्म ही मुख्य है एवं राज्य का मूल भी धर्म ही है :

त्रिवर्गोऽयम् धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति। (वन. ४।४)

धर्म अथवा मोक्ष के विषय में भी जो कुछ मूल्यवान अंश महाभारत में है, उसपर प्रस्तुत अध्ययन में विशेष ध्यान दिया गया है।

ब्रह्मवाद और प्रज्ञावाद के सम्मिलन से जीवन के जिस कर्मपरायण एवं उत्थानशील मार्ग की उद्भावना प्राचीन भारत में की गई थी, उसका बहुत ही रोचक और सर्वोपयोगी वर्णन महाभारत में पाया जाता है। गृहस्थ जीवन का निराकरण करने वाले श्रमणवाद और कर्म का तिरस्कार करनेवाले नियतिवाद या भाग्यवाद का सक्षम उत्तर इस नए धर्म-प्रधान दर्शन का उद्देश्य था। भुक्ति-मुक्ति अर्थात् त्रिवर्ग और मोक्ष इन दोनों के समन्वय का आग्रह उस धर्म की विशेषता है, जिसका प्रतिपादन महाभारत में हुआ है। महाभारत के तरंगित कथा-प्रवाह में जहां-जहां ये स्थल आये हैं—और उनकी संख्या पर्याप्त है—उनकी रोचनात्मक व्याख्या इस अध्ययन में इष्ट रही है।

साथ ही महाभारत में जो सांस्कृतिक सामग्री है, उसकी व्याख्या का

पुट भी यहां मिलेगा, यद्यपि इस विषय में सब सामग्री को विस्तार के साथ लेना स्थानाभाव से संभव नहीं था।

पूना से महाभारत का जो संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ है, उस पाठ को आधार मानकर यह विवेचन किया गया है। जहां संभव था, वहां यह सूचित करने का भी प्रयत्न किया गया है कि महाभारत के पाठ-विकास की परंपरा में कौन-सा अंश मौलिक और कौन-सा मूल के उपबृंहण का परिणाम था। इसमें दो विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। एक तो, जहां किसी प्रकरण या आख्यान के अंत में फलश्रुति का उल्लेख हुआ है, वह अंश उपबृंहण का फल माना गया है। दूसरे, जहां किसी कथांश को एक बार संक्षेप में कहकर पुन: उसीको विस्तार से सुनने या कहने की प्रार्थना की गई है, वह अंश भी प्राय: उपबृंहण या पाठ-विस्तार का ही परिणाम था। प्राय: जनमेजय पूछते हैं, "भगवन्, मैं इसे अब विस्तार से सुनना चाहता हूं।" (विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज, सभा. ४६।३)। और उत्तर में वैशम्पायन कहते हैं, "हे भारत, अब इसी कथा को मैं विस्तार से सुनाता हूं।"(शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भरतसत्तम। भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ।।, सभा.४६।५)। विस्तार से फिर सुनाने की बात जहां है, वहां स्पष्ट ही वह पुनरुक्ति है, जैसाकि इसीके आगे सभापर्व के ४६, ४७ और ४८ अध्यायों की भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री को देखने से प्रकट होता है। इसी प्रकार सभापर्व के २३ वें अध्याय में चारों दिशाओं की विजय संक्षेप में सुनने के बाद जनमेजय ने पूछा, "हे ब्रह्मन्! अब दिशाओं की विजय विस्तार से कहिये, क्योंकि पूर्वजों का महान् चरित्र सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।" (दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणानु कीर्तय। न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ।। सभा. २३।११)। फलस्वरूप इसके बाद के सात अध्यायों में दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है।

महाभारत की पाठ-परंपरा में इसके कई संस्करण संभावित ज्ञात होते हैं। उनमें से एक शुंगकाल में और दूसरा गुप्तकाल में संपन्न हुआ जान पड़ता है। इनमें भी पिछले संस्करण में पंचरात्र भागवतों ने बहुत-सी नई सामग्री अपने अभिनव दृष्टिकोण के अनुसार यथास्थान सन्निविष्ट कर दी थी। उसकी ओर भी प्रस्तुत अध्ययन में ध्यान दिलाया गया है। जीवन और धर्म

के विषय में भागवतों का जो समन्वयात्मक शालीन दृष्टिकोण था, उससे महाभारत के कथा-प्रसंगों में नई शक्ति और सरसता भर गई है। भागवतों का विशेष आग्रह धर्म के उस स्वरूप पर था, जिससे समाज की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम की महिमा प्रख्यात होती है। प्रायः भागवत दर्शन प्राचीन प्रज्ञावाद और ब्रह्मवाद का ही एक नूतन संस्करण था।

महाभारत के कथा-प्रवाह का सबसे रोचक अंश उसके देवतुल्य पात्रों का चरित्र-चित्रण है। वे पात्र महान् और अभिभावी होते हुए भी मानवीय हैं। वे मानव के धरातल पर कहते, सुनते, करते और सोचते हैं, यद्यपि सत्य की शक्ति और जीवन की अप्रतिहत अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके कर्म और विचार अतिमानवी-से लगते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनके चरित्र की जो उदात्त भावनाएं हैं, या जो दुर्बलताएं हैं, उनको बिलकुल खरे रूप में महाभारत के लेखक ने कहा है। इनमें धृतराष्ट्र का चरित्र या द्रौपदी का चरित्र कितना मानवीय है, यह पाठकों को मूल के शब्दों से ही ज्ञात होगा। ऐसे अंशों को यथासंभव अविकल रूप में उतार लेने का प्रयत्न किया गया है। भाषांतर में भी उनके गूंजते हुए स्वरों को सुना जा सकता है। धृतराष्ट्र को महाभारत में दिष्टवादी या भाग्यवादी दर्शन का माननेवाला कहा है। पुरुषार्थ और कर्म में उनकी आस्था न थी। जो है, वह निर्विघ्न वैसा ही बना रहे, यहीं तक उनके विचार की दौड़ थी। फिर दुर्योधन का मोह उनके मन में ऐसा भरा था कि नए संकल्प पर पानी फेर देता था। पांडवों को वारणावत भेजने का कुचक्र, जब दुर्योधन ने सामने रक्खा तो धृतराष्ट्र ने पहले तो कुछ पैंतरा बदला, पर फिर स्पष्ट स्वीकार किया, "बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में है, पर खुलकर कह नहीं सकता" (पृ० १०६)। ऐसे ही अर्जुन और सुभद्रा के विवाह का समाचार सुनकर पहले उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की, पर दुर्योधन और कर्ण के चांपने पर कहा, "जैसा तुम कहते हो, सोचता तो मैं भी वही हूं, पर विदुर के सामने खुलकर अपनी बात कह नहीं सकता" (पृ० १२२)। पांडवों के साथ द्यूत खेलने का प्रस्ताव चलने पर धृतराष्ट्र के सही विचारों ने एक बार उछाला लिया, पर भाग्यवाद की गोली ने उन्हें सुला दिया और उन्होंने यही कहा, "ब्रह्मा ने जो रच दिया है, सारा जगत् वैसी ही चेष्टा में लगा हुआ है" (पृ० १७४)। जब युधिष्ठिर द्यूत में हारने

लगे, तो धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार-बार पूछते हैं, "क्या सचमुच जीत लिया ?" और वह अपनी मुद्रा छिपा न सके (पृ० १८१)। यों तो महाभारत के लेखक ने युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि के चरित्रों को भी बहुत ही तराशे हुए खरे शब्दों में ढाला है, पर धृतराष्ट्र के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए जैसे चुटीले शब्द चुने गये हैं, वैसे औरों के लिए नहीं। पांडवों को दूसरी बार द्यूत-क्रिया में लगाने का प्रस्ताव जब दुर्योधन ने किया, तबभी उसको बरजने के स्थान में धृतराष्ट्र से यही कहते बना, "हां-हां, अभी पांडव रास्ते में होंगे, उन्हें जल्दी लौटा लाओ" (पृष्ठ १९२)। विदुर का हितवचन भी धृतराष्ट्र के मन में उल्टे विष उत्पन्न करता था, यहांतक कि एक बार तो विदुर को उन्होंने अपने यहां से निकालही दिया था, "मैं पांडवों के लिए अपने पुत्रों को कैसे छोड़ दूं? मैं तो तुम्हारा इतना आदर करता हूं, पर तुम मुझसे सदा टेढ़ी बातें ही करते हो। हे विदुर! तुम्हारा जहां मन हो, चले जाओ" (पृ० १९६)। पर बूढ़े धृतराष्ट्र में भी सचाई की कोर थी, जिससे वह भी हमारी सहानुभूति के पात्र हैं। विदुर को भली-बुरी सुनाने के बाद वह स्वयं बेहोश होकर गिर जाते हैं और कहते हैं, "हाय ! मेरा भाई विदुर कहां गया ? उसे जल्दी लाओ।" चरित्र-चित्रण में लेखक ने बहुत ही सचाई से रंग भरा है। अवसर पड़ने पर शकुनि-जैसे कपटी के मुंह से भी कहलाया गया है, "पांडव सत्यवादी हैं। वे शर्तों का पालन करेंगे और धृतराष्ट्र के बुलाने पर भी तेरह वर्ष का वनवास पूरा किए बिना वे न लौटेंगे।"

कथा-प्रवाह में द्रौपदी का चरित्र बरबस अपनी ओर ध्यान खींचता है। उसकी वेदना शब्दों के बंधन में नहीं आती। जैसे सहसा किसीको काठ मार गया हो, वैसे उसके वचन कृष्ण के सामने प्रकट होते हैं, "पांडवों की पत्नी, कृष्ण की सखी, धृष्टद्युम्न की बहन सभा में लाई गई—कहो कृष्ण, यह क्या हुआ? एक वस्त्र पहने हुई, स्त्री-धर्म से युक्त, मुझ दुखिया को राजसभा में लाये हुए देखकर धृतराष्ट्र के पापी पुत्र निष्ठुरता से हँसे—"कहो कृष्ण, यह क्या हुआ ? क्या यह सत्य है कि मैं भीष्म और धृतराष्ट्र की पुत्रवधू हूं?" (पृ० २०५)। वह वेदना भरे शब्दों में कहती हैं, "मैं धर्म को भला-बुरा नहीं कहती, ईश्वर और ब्रह्मा का निरादर तो कैसे कर सकती हूं ? इतना ही समझो कि मैं दुखिया हूं। कुछ प्रलाप करती हूं" (पृ० २१३)।

महाभारत की एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। उसमें कितनी ही प्राचीन भारतीय दिट्ठियों या दर्शनों का उल्लेख और उनके सिद्धांतों का भी विवेचन आगया है। भारतीय दर्शनों के इतिहास में पांच बड़े मोड़ पहचाने जा सकते हैं। पहला ऋग्वेद-कालीन दर्शन था, जिसमें सदसद्‌वाद, रजोवाद, अम्भोवाद, अहोरात्रवाद, अमृतमृत्युवाद, व्योमवाद आदि दार्शनिक दृष्टिकोण थे, जिनका उल्लेख 'नासदीय सूक्त' में आया है। दूसरा युग उन दिट्ठियों का था, जो उपनिषद्-युग के अंत में और बुद्ध से कुछ पूर्व अस्तित्व में आगई थीं। इनका उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है, जैसे कालवाद, नियतिवाद, स्वाभाववाद, यदृच्छावाद भूतवाद, योनिवाद आदि। इन मतों का विवेचन 'दीर्घनिकाय' के 'ब्रह्मजाल-सुत्त' में आया है एवं जैनों के अर्द्ध-मागधी आगम के 'सूत्रकृतांग' एवं उत्तरा-ध्ययन' में भी है। दार्शनिक विकास का तीसरा मोड़ मीमांसा, सांख्य, वेदांत-आदि षड्दर्शनों के रूप में देखा जाता है। विकास की चौथी सीढ़ी पंचरात्र, भागवत, पाशुपत, शैव आदि दर्शनों के रूप में अभिव्यक्त हुई। इसके बाद पांचवां मोड़ वह था, जिसमें अभिनव शांकर वेदान्त, भक्ति आदि दर्शनों के पारस्परिक प्रभाव, सम्मिलन और ऊहापोह आदि का विस्तार हुआ।

इनमें सें दार्शनिकविकास की जो दूसरी कोटि है, वही मूल महाभारत की पृष्ठभूमि थी, यद्यपि षड्दर्शन नामक तीसरी कोटि और पाशुपत पंच-रात्र आदि चौथी कोटि का भी कालांतर में महाभारत में सन्निवेश कर लिया गया। मंखलि गोसाल के नियतिवाद या भाग्यवाद और चार्वाक बृहस्पति के लोकायतवाद आदि दार्शनिक मतों का जैसा वर्णन महाभारत में आया है, वैसा बौद्ध और जैन-साहित्य में भी नहीं मिलता। यह सामग्री विशेष रूप से शांतिपर्व की व्याख्या में हमारे सामने आयगी, पर अन्य पर्वों में भी उसकी झांकी आती है, जैसे आरण्यकपर्व में द्रौपदी ने बृहस्पति के कहे हुए जिस नीति-शास्त्र को दुहराया है, वह लोकायत दर्शन ही था, जो मूल में कर्मवादी था। प्रत्यक्ष जीवन को सुधारने के विषय में उनका आग्रह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जहां भाग्यवादी निर्वेद को मानते थे और कर्म के प्रति उदासीन थे, वहां महाभारत के इस प्रकरण से (आरण्यकपर्व, अ० ३३) ज्ञात होता है कि बृहस्पति के लोकायत दर्शन में अनिर्वेद, उत्थान, पुरुषार्थ और

कर्म का बहुत महत्व था। लोकायतिक मत के अनुयायी यदृच्छावाद, दैववाद और स्वाभाववाद के दार्शनिक मतों में विश्वास न रखते थे (पृ. २१४-२१५)। इसी प्रकार आगे चलकर उद्योगपर्व में जो विदुर नीति है, वह प्रज्ञावाद नामक प्राचीन दर्शन का ही मूल्यवान संग्रह है, जो किसी प्रकार तैरता हुआ आकर महाभारत में बचा रह गया है। अगले भाग में यथास्थान इसकी व्याख्या मिलेगी। महाभारत की दार्शनिक सामग्री में जो पूर्वापर की जमी हुई तहें हैं, उनके आर-पार देखने की आंख जब एक बार बन जाती है, तो यह सामग्री मानो स्वयं अपनी कथा कहने लगती है और उसके पर्त खुलने लगते हैं। उपलब्ध स्थान की सीमा में अध्ययन का यह दृष्टिकोण भी यहां अपनाया गया है।

महाभारत ऐसा आकर ग्रंथ है कि आद्यंत उसके विषय का विवेचन करने के लिए बहुत अधिक स्थान, समय और शक्ति की आवश्यकता है। वैदिक साहित्य और चरण साहित्य के भी कई प्रकरण महाभारत में सुरक्षित बच गये हैं, जैसे आरण्यकपर्व का अग्निवंश अध्याय है, जिसकी व्याख्या स्कन्दजन्म की कथा के साथ कुछ विस्तार से यहां की गई। वस्तुतः महाभारत को पांचवां वेद ही कहा गया है। जैसे समुद्र और हिमालय रत्नों की खान हैं, वैसी ही महाभारत भी है। जितना स्थावर और जंगम जगत भारतीय दृष्टिकोण में आ सका था, वह महाभारत में इकट्ठा होगया है। इसके निर्माता भगवान द्वैपायन कृष्ण सत्यवादी और सर्वज्ञ थे, वे वैदिक यज्ञ-विधि और कर्मयोग के पारगामी थे, धर्म और ज्ञान के प्राचीन दर्शनों में सम्यक् निष्णात थे। सांख्य और योग में उनकी पूरी गति थी, अनेक तंत्र या शास्त्रों में उनका मन जागरूक था।

ऐसे महाभाग व्यास की यह कृति सचमुच महान् और सुविहित है। इसका जितना भी दोहन किया जाय, प्रज्ञानुसार, उतने ही फल की उपलब्धि हो सकती है।

—वासुदेवशरण

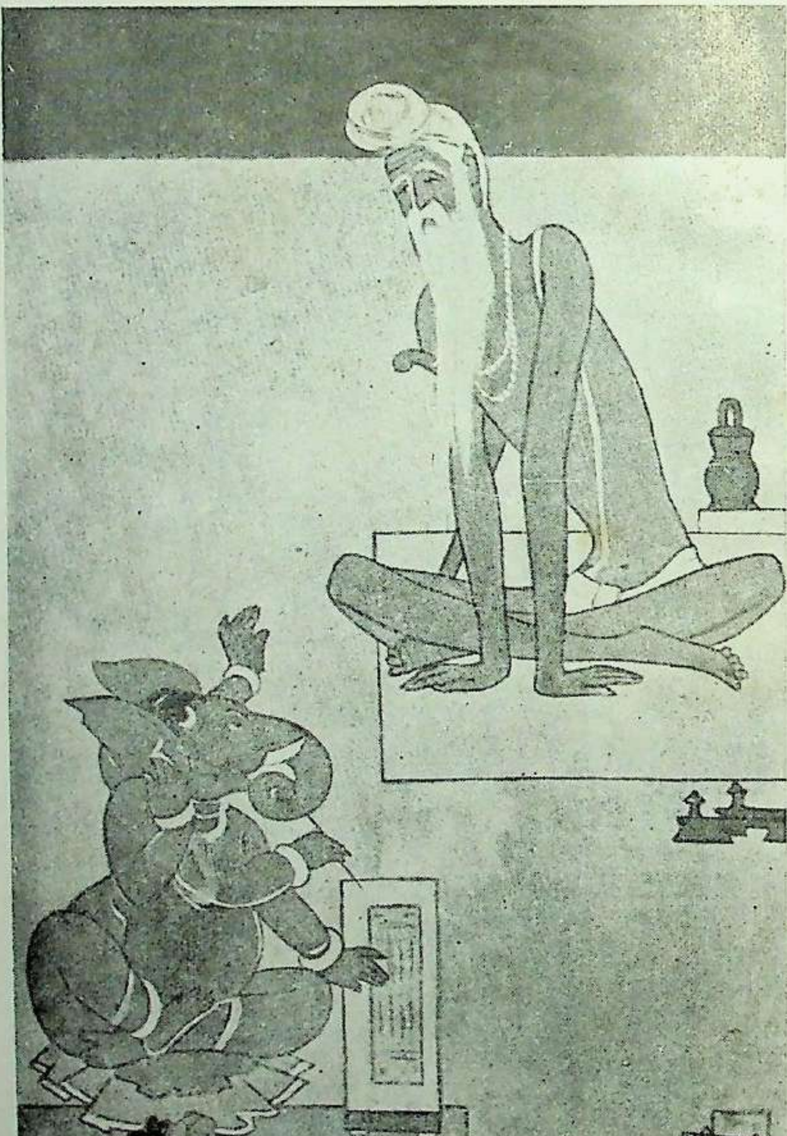
विषय-सूची

२. सभापर्व

३. आरण्यक पर्व

४. विराट पर्व

•



महर्षि वेदव्यास चित्रकार--श्रीजगन्नाथ अहिवासी

भारत-सावित्री

१ : : शतसाहस्री संहिता

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ।।

नारायण, नरों में श्रेष्ठ नर, तथा देवी सरस्वती को नमस्कार करके 'जय' का आरम्भ करना चाहिए।

महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञानसंहिता है। सदा उत्थानशील कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने विशाला बदरी के एकांत आश्रम में बैठकर भारतीय ज्ञान-समुद्र का अपनी विशाल बुद्धि से मन्थन किया, जिससे महाभारत-रूपी चन्द्रमा का जन्म हुआ। जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नों की खान हैं, उसी प्रकार यह महाभारत है। जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा; जो यहां नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं। व्यास का वाङ्मय-रूपी अमृत भारत राष्ट्र में व्याप्त है। वेदनिधि द्वैपायन का यह महाभारत-रूपी कमल गंगा की अन्तर्वेदी में विकसित हुआ सुरभित पुष्प है। लोकों को पवित्र करनेवाले इस महाकवि ने अपनी क्रांतिदर्शिनी प्रतिभा से शाश्वती बुद्धि का जो महान् प्रज्ञा-स्कंध स्थापित किया, वही महाभारत है।

अनन्त वेद-वृक्ष की छाया में बैठकर व्यास ने समग्र लोक-जीवन के आरपार देखनेवाले अपने प्रातिभ चक्षु से वेद और लोक का अपूर्व समन्वय महाभारत में प्रस्तुत किया है। परम ऋषि द्वैपायन का यह श्रेष्ठ आख्यान विलक्षण शब्द-भंडार से भरा है, जिसमें आदि से अन्ततक सौ पर्व हैं। सूक्ष्म अर्थ और न्याय से युक्त, वेदार्थों से अलंकृत, नाना शास्त्रों से उपबृंहित, विलक्षण रचना-कौशल से संस्कार-संपन्न, भारत के इतिहास और पुराण की ब्राह्मी संहिता का ही नाम महाभारत है, जो आद्यन्त धर्म से युक्त है।

युधिष्ठिर-रूपी धर्म भव्य महावृक्ष था। अर्जुन उसका तना था और भीमसेन उसकी शाखाएं थीं। माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव उसके फूल-फल थे। उसको रस से सींचनेवाली जड़ का नाम कृष्ण था, वही ब्रह्म है। सनातन भगवान् वासुदेव की महिमा का कीर्त्तन ही कृष्ण-द्वैपायन विरचित इस पवित्र उपनिषद् का लक्ष्य है। वही सत्य है। उसे ही ऋत कहते हैं। वही शाश्वत ब्रह्म है। वही सनातन ज्योति है। वही इस अनित्य, नश्वर जगत् में परम ध्रुव है। उसी देव से सत् और असत्, जन्म और मृत्यु एवं पंचभूतात्मक इस संसार की प्रवृत्ति है। वही इसके भीतर व्याप्त अध्यात्म है। उसीके ध्यान का बल पाकर मन को योगयुक्त करनेवाले अपनी आत्मा में भगवान् के रूप का इस प्रकार दर्शन करते हैं, जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखते हों।

ग्रंथ की विशेषताएं

कृष्ण द्वैपायन व्यास के इस महाभारत को कार्ष्णवेद भी कहते हैं। कुरुवंशियों का महान् चरित्र इसमें कहा गया है। एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर महाभारत—इन दोनों को देवर्षियों ने तुला पर रखकर तोला, तो महत्त्व और गुरुत्व में महाभारत ही अधिक हुआ। तभी इसका नाम महाभारत पड़ा। अमित तेजस्वी व्यास का जितना अभिमत था, वह इन लक्ष श्लोकों में भर गया है। ऋषियों से संस्तुत यह पुराण श्रव्य वस्तुओं में सर्वोत्तम है। यह पवित्र अर्थशास्त्र है। यह परम धर्मशास्त्र है। यह उच्चतम मोक्षशास्त्र है। यह वीरों को जन्म देनेवाला है। यह महान् कल्याणकारी है। ऐसे पुंसवन और स्वस्त्ययन इस जय नामक इतिहास को सुनना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का निचोड़ इस ग्रंथ में आ गया है। भाव-शुद्धि इस ग्रंथ की प्राण-शक्ति है। तप, अध्ययन, वेद-विधि, इनके पीछे यदि भाव-शुद्धि नहीं है, तो ये व्यर्थ हैं।

इस ग्रंथ में कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत शैली से महाप्राज्ञ ऋषि ने सबकुछ कहा है। इसमें अनादि अनन्त लोकचक्र के रहस्य का वर्णन है। इसमें ब्रह्मर्षि और राजर्षियों के चरित्र हैं। सविस्तर भूत-सृष्टि, सविज्ञान श्रुतियां, धर्म, अर्थ, काम, विविध शास्त्र, लोकयात्रा-विधान, इतिहास और उसकी व्याख्या, सभी कुछ पराशर के पुत्र, विद्वान् और तीव्र व्रतों का पालन

करनेवाले ब्रह्मर्षि व्यास ने अपने तप और ब्रह्मचर्य की शक्ति से कह दिया है। ऋषियों के आश्रमों में जो संस्कृति प्रतिपालित हुई, राजर्षियों के पुण्य-चरितों द्वारा जिसका विस्तार हुआ, लोक के लोम-प्रतिलोम में जो व्याप्त हुई, उस सांस्कृतिक गंगा को हिमालय से सागर पर्यन्त यदि एकत्र देखना हो, तो यह दर्शन व्यास के महाभारत में सदा के लिए सुलभ है। वासुदेव कृष्ण का माहात्म्य, पांडवों की सत्यता और धृतराष्ट्र के पुत्रों का दुर्वृत्त, यही तो भगवान् व्यास ने चौबीस सहस्र श्लोकों की भारत-संहिता में कहा। उसी भारत-संहिता से अनेक उपाख्यानों के मिल जाने से, नीति और धर्म के अनेक प्रकरणों के समाविष्ट हो जाने तथा भूगोल, इतिहास, धर्म और दर्शन की विपुल सामग्री के एकत्र हो जाने से लक्ष श्लोकात्मक महाभारत का जन्म हुआ।

वेदव्यास ने पूर्व काल में यह संहिता अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाई थी। उनसे अन्य अनुरूप शिष्यों को वह प्राप्त हुई और क्रमशः लोक में फैली। नारद, असित और देवल ने नारायणीय पंचरात्र-धर्म से इसका संस्कार किया। एक ही तत्त्व नारायण और नर इन दो नामों से विख्यात है— "नारायणो नरश्चैव तत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।" एक ही महान् सत्य के ये दो रूप हैं। वह नारायणी महिमा किस प्रकार नर-रूप में चरितार्थ होती है, इसका सांगोपांग निरूपण इस महाभारत का उद्देश्य है। वेदव्यास की दृष्टि में मनुष्य ही ज्ञान और विज्ञान का मध्यबिन्दु है—"मैं तुमसे यह रहस्य बतलाता हूं कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ कुछ नहीं है"—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषात्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्। (शांति १८०।१२)

'यह लोक कर्मभूमि है' (वन २६१।३५)। 'मनुष्य का लक्षण कर्म है' (आश्व० ४३।२०)। 'जैसा कर्म वैसा लाभ, यही शास्त्रों का निचोड़ है' (शांति २७९।२०)। 'जो स्वयं अपनी आंख से लोक का दर्शन करता है उसीको सचमुच मैं सर्वदर्शी मानता हूं' (उद्योग ४३।३६)। 'वेद का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्मसंयम है, आत्मसंयम से ही मोक्ष होता है, यही सब उपदेशों का सार है' (शांति २९९।१३)। 'जो 'एकमेवा-द्वितीयम्' तत्त्व है, उसे समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? समुद्र के पार

जाने के लिए जैसे नाव आवश्यक है ऐसे ही अकेला सत्य स्वर्ग का सोपान है' (उद्योग० ३३।४६)। 'मनुष्य का ध्रुव अंश उसका सत्य है। हे युधिष्ठिर, इस मनुष्य लोक में ही जो श्रेयस्कर है, उसे ही कल्याण का श्रेष्ठ रूप कहना चाहिए' (वन० १८३।१८८)।

इस प्रकार के अनेक रत्नों की कान्ति से यह ग्रंथ आलोकित है। भारतीय राजनीति, अध्यात्म-शास्त्र, समाज-विज्ञान, मानव-जीवन, धर्म, दर्शन— इन सबका सुनहला ताना-बाना इस महान् ग्रंथ में बुना हुआ है। वस्तुतः भारतवर्ष की वैदिक और लौकिक दीर्घनिकाय संस्कृति के लिए ब्रह्मजाल सुत्त के समान एक महाब्रह्मजाल सूत्र महाभारत के रूप में हमें प्राप्त है।

महाभारत के पहले पर्व में इसे इतिहास और पुराण दोनों नाम दिये गए हैं :

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।। (आदि०१।१५)
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रंथार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ।।
वेदैश्चतुर्भिः समितां व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।
संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम् ।।(आदि० १।१७,१९)

आदिपर्व की प्रथम पंक्ति में ही लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत को पौराणिक कहा गया है, जिन्होंने कुलपति शौनक के द्वादश वार्षिक सूत्र में महाभारत का पारायण सुनाया। प्राचीन वैदिक साहित्य में अमुक विद्या या अमुक शास्त्र के अध्ययन करनेवाले उसीके नाम से विख्यात होते थे। वैदिक महाविद्यालयों में—जिन्हें प्राचीन परिभाषा में 'चरण' कहा जाता था—वेद, ब्राह्मण, सूत्र आदि साहित्य के अध्ययन और अध्यापन करने की परम्परा थी और पाणिनि के 'तदधीते तद्वेद' सूत्र के अनुसार उन-उन विद्वानों का नामकरण होता था। कालान्तर में जब शास्त्रों की संख्या बढ़ी और नए-नए विषयों का प्रादुर्भाव हुआ, तब वैदिक चरणों में जो परिमित संख्यक विषय थे, उनके अतिरिक्त भी नए-नए विषय अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में आ गए। व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, अन्य वेदांग, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, गाथा, श्लोक, नटसूत्र, भिक्षुसूत्र इत्यादि अनेक नए विषयों की उद्भावना हुई और दिग्गज आचार्य इनसे संबंधित

ग्रंथों-उपग्रंथों की रचना करने लगे। उसी परम्परा में इतिहास-पुराण का अध्ययन भी विशेष रूप से किया जाने लगा। इस प्रकार की ऐतिहासिक और सृष्टि संबंधी अनुश्रुतियों पर विचार करनेवाले और उनकी रक्षा करने वाले विद्वानों का उल्लेख अथर्ववेद में आता है। वहां इस प्रकार के विद्वान् और मेधावी ऋषियों को पुराणवित् कहा गया है :

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथास मन्येत पुराणवित्॥ (अथर्व० ११।८।७)

'जैसी यह भूमि पहले थी, उसके जिस स्वरूप का ज्ञान मेधावी ऋषियों को था, उसे जो शब्दों में जानता है, उसे मैं पुराणकाल का वेत्ता—पुराण-वित्—कहता हूं।'

विश्व के सब पदार्थों का अन्तर्भाव नाम और रूप में है। रूप बराबर बदल रहे हैं और हमारे देखते-देखते ओझल होते चले जा रहे हैं, केवल नाम शेष रहता है। अतीत काल के उस नाम को जाननेवाले पुराणवित् हैं। आधुनिक शब्दों में कहें तो वे ही ऐतिहासिक हैं, जो उन अतीत युगों के मूर्त्तिमन्त चित्र शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार पुराणवेत्ता अर्थात् पुराणकाल के वृत्तांतों का पारायण करनेवाले विद्वानों की कल्पना उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी। अथर्ववेद-व्रात्यसूक्त में विद्याओं का परि-गणन करते हुए कहा गया है :

तमितिहासश्च पुराणं च गाथा च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्
इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद। (अथर्व० १५।६, ११-१२)

'इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी, ये विद्याएं व्रात्यसंज्ञक ब्रह्म के साथ फैलती हैं। वह, जो इस प्रकार विचार करता है, इस प्रकार की विद्याओं का प्रियधाम बन जाता है।' गाथा और नाराशंसी ये दोनों प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के अंग थे। यजुर्वेद में कहा है :

मनोन्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन
पितॄणां च मन्मभिः (यजु० ३।५३)

'नर का आशंसन करनेवाले गानों से और अपने पूर्वपुरुषों के महत्ज्ञान का चिन्तन करने से हम अपने भीतर मन का निर्माण करते हैं।' राष्ट्र के

मन को प्रदीप्त करने के ये ही दो उपाय हैं। पूर्वजों के संचित ज्ञान और कर्म का सम्यक् कीर्त्तन, अनुशीलन और आचरण पुनीत राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। जनमेजय ने मन की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर महाभारत के आरम्भ में ही कहा था :

नहि तृप्यामि शृण्वानः पूर्वेषां चरितं महत् (आदि० ५६।६)

इस दृष्टि से इतिहास का सम्यक् पारायण महत्त्वपूर्ण है। इतिहास-पुराण की इस प्राचीन परम्परा का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार के संवाद में भी पाया जाता है, जहां इतिहास-पुराण को पंचम वेद कहा है। पाली साहित्य से भी इसका समर्थन होता है। वहां चार वेदों के साथ आख्यान अथवा इतिहास को पांचवां वेद माना है (वेदं अक्खान पंचमन्, जातक ५।४५०; टीका इतिहास पंचमं वेदचतुकम्)। उपनिषद् का उल्लेख उस स्थिति का परिचायक है, जिसमें इतिहास-पुराण का स्वतंत्र अध्ययन उसी प्रकार होने लगा था, जैसे चरणों के अन्तर्गत वैदिक साहित्य का। इस प्रकार के विद्वान् पाणिनीय सूत्र 'तदधीते तद्वेद' के अनुसार ऐतिहासिक या पौराणिक कहे जाते थे।

वेद के अर्थ करनेवालों की कई परम्पराओं का उल्लेख करते हुए यास्क ने नैरुक्त और याज्ञिक्य सम्प्रदायों के अतिरिक्त ऐतिहासिक सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। वृत्र मेघ है, यह नैरुक्तों का मत था, किन्तु वृत्र त्वष्टा का पुत्र है, यह ऐतिहासिकों का मत था। इन्हीं ऐतिहासिकों ने वृत्रासुर और इंद्र के पल्लवित रोचक उपाख्यान की कल्पना की। इस प्रकार के कितने ही आख्यान और उनसे कम महत्त्व की आख्यायिकाएं वैदिक साहित्य के अन्तर्गत और लोक में बराबर बढ़ रही थीं। पौराणिकों के सम्प्रदाय में वे सुरक्षित होती जाती थीं। हिमालय से जैसे शतसहस्रसंख्यक निर्झर और वेगवती जल-धाराएं ढलानों पर बहती हुई उसके तटान्त में गंगा की जलधारा में जा मिलती हैं, वैसे ही वैदिक चरणों में और लोक में उत्पन्न ये अनेक आख्यान और कथाएं क्रमशः प्रवर्द्धमान होती हुई भारत-इतिहास के वाङ्मय में आ मिलीं और उसीसे महाभारत का पल्लवित, पुष्पित और प्रतिमण्डित वह रूप संपन्न हुआ, जो सूर्य, चन्द्र और तारों की भांति आज भी लोक में विराजमान है। उपाख्यानों से रहित चौबीस सहस्र

श्लोकों की चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता 'भारत' नाम से प्रसिद्ध थी। वही अनेक उपाख्यानों को आत्मसात् करके लक्ष श्लोकात्मक महाभारत की शतसाहस्री संहिता बन गई।

महाभारत के अनेकविध विषय

इस प्रकार इतिहास-पुराण की परम्परा या प्राचीन अनुश्रुतियों का अतिविशिष्ट संकलन और अध्ययन वैदिक संहिताओं का व्यास करनेवाले एवं लोक-विधान के तत्त्वज्ञ महामुनि कृष्णद्वैपायन ने किया। उनके चन्दनोक्षित कृष्ण शरीर, उन्नत मेरुदंड, पृथु ललाट, चमकीले नेत्र और प्रतिभावान् मन में लोक और वेद की समग्र सरस्वती स्फुरित हो उठी। उसीके साकार रूप में इस ब्राह्मी संहिता—नाना शास्त्रोपबृंहित, संस्कार-संपन्न, वैदिक और लौकिक सूक्ष्म अर्थों से समन्वित, पवित्र और धर्म्य महाभारत संहिता—का जन्म हुआ। इसमें पुराणसंश्रित कथाएं, धर्म-संश्रित कथाएं, राजर्षियों के चरित जैसे मुख्य विषयों का ताना-बाना कुरु-पांडवों के 'जय' नामक इतिहास के चारों ओर बुन दिया गया है। ययाति और परशुराम के बड़े-बड़े उपाख्यान, जिन्हें व्याकरण-साहित्य में यायातं और आधिरामं कहा गया है, किसी समय लोक में स्वतंत्र रूप से प्रचलित थे। वे महाभारत में संगृहीत होते गए। राजर्षियों के चरित ही वे नाराशसी स्तोम हैं, जिनका ऊपर अथर्ववेद में उल्लेख आया है और उन्हें ही पुराणों में वंशानुचरित कहा गया। इनका संग्रह भी इतिहास-पुराण का आवश्यक अंग बन गया था। इसी प्रकार गोत्र संस्थापक तपस्वी ऋषियों के विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में महान् चरित थे (उदाहरणार्थ गालव-चरित, उद्योग० १०४-१२१), जो इस संहिता में सम्मिलित किये गए।

कुछ समय तक भारत और महाभारत इन दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बना रहा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में दोनों का अलग-अलग नामोल्लेख हुआ है (६।२।३८)। उससे भी कुछ पूर्व आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४) में श्राद्ध में वन्दनीय आचार्यों का परिगणन करते हुए वैदिक ऋषियों के अतिरिक्त सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन, पैल इन चार व्यास-शिष्यों के साथ भारताचार्य और महाभारताचार्य का भी नाम आता है। कुछ कालो-

परान्त संभवतः शुंगकाल में पृथक् भारत ग्रंथ अपने ही बृहत्तर रूप महाभारत में अन्तर्लीन हो गया। इसी स्थिति का परिचायक महाभारत का यह श्लोक है :

इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ।।

ऊपर कहा गया है कि महाभारत में धर्म-संबंधी सामग्री का भी सन्निवेश हुआ है (धर्मसंश्रिताः कथाः, आदि० १।१४)। यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार महाभारत में नीति और धर्म की अपरिमित सामग्री आकर मिल गई। किन आचार्यों के प्रभाव से यह कार्य हुआ होगा ? इस प्रकार के रोचक प्रश्नों का मार्मिक विवेचन भारतदीपक श्री विष्णु सीता-राम सुकथनकर ने अपने 'भृगुवंश और भारत' नामक विस्तृत लेख में किया था। संक्षेप में उनकी स्थापना इस प्रकार थी :

भृगुवंशियों का प्रभाव

महाभारत में भार्गव सामग्री का अत्यधिक समावेश है। भगुओं की कितनी ही कथाएं कई बार महाभारत के उपाख्यानात्मक भाग में सम्मिलित की गई हैं। वैदिक साहित्य में भी भार्गवों का जो गौरव अविदित था, वह पहली बार महाभारत में पाया जाता है। भरतवंश की सीधी-सादी युद्धकथा में भार्गव-वंश की कथा कैसे मिल गई ? अपने आप ऐसा हो गया हो, सो बात नहीं। भार्गव-कथाओं के मेल से मूल भारत ग्रंथ को महाभारत का रूप दिया गया। पुरानी कथाओं को भार्गव रंग में रंजित किया गया। यह कार्य संभवतः व्यास का नहीं था। उनकी चतुर्विंशति साहस्री संहिता का नाम भारत था। वैशम्पायन ने यह परिवर्द्धन किया हो, यह संभावना भी कम है। अकेले उग्रश्रवा सूत ने एक ही बार में यह परिष्कार कर दिया हो, यह भी संभव नहीं है। वास्तविक बात यह है कि महाभारत का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण भार्गवों के प्रबल और साक्षात् प्रभाव के अन्तर्गत तैयार किया गया। यह कार्य कई शताब्दियों में संपन्न हुआ होगा। महाभारत काव्य था। उसका पाठ भी तरल अवस्था में था। किसी गाढ़े समय में सूतों द्वारा मूल भारत काव्य भार्गवों के प्रभाव में

आया और महाभारत रूप में परिवर्द्धित होकर प्रतिसंस्कृत हुआ। भारत-वंश की युद्ध कहानी के स्थान में महाभारत नए रूप में धर्मसंहिता बन गया। शांति और अनुशासन पर्वों के जो नीति और धर्मपरक अंश हैं, वे इसी भार्गवी प्रभाव के फल हैं। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। उन्होंने भरतवंश से भी पहले भार्गववंश की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की :

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् (आदि० ५।३)

आदिपर्व में आजतक महाभारत के दो प्रारम्भ पाये जाते हैं—अध्याय १ के श्लोक २०-२१ में भारत का व्यासकृत मंगलाचरण और अध्याय ४ के गद्यात्मक भाग १-३ में महाभारत का भार्गव प्रारम्भ। सौभाग्य से ये दोनों स्थल परस्पर-विरोधी होते हुए भी पास-पास रखकर सुरक्षित कर लिये गए। महाभारत के समस्त भार्गव-उल्लेखों का एकत्र विचार करने से यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है कि भारतवंश के युद्ध की कहानी में भृगुवंशियों के वर्णन को बहुत अधिक स्थान दिया गया है। भारत-युद्ध के चित्रपट का पृष्ठदेश प्रायः भार्गव-उपाख्यानों से भर दिया गया है। आदि-पर्व में पौर्वउपाख्यान, आरण्यकपर्व में कार्त्तवीर्यउपाख्यान, उद्योगपर्व में अम्बा-उपाख्यान, शांतिपर्व में विपुलोपाख्यान और अश्वमेधपर्व में उत्तंक-उपाख्यान भार्गवों के आख्यान हैं। आदिपर्व का सारा पौलोमपर्व और पौष्यपर्व का अधिकांश भाग भार्गव-उपाख्यानों से भरे हैं।

इसके अतिरिक्त भृगुवंशी ऋषियों के कई लम्बे संवाद इस ग्रंथ में हैं, जैसे भृगु-भरद्वाज-संवाद, च्यवन-कुशिक संवाद और मार्कण्डेय समास्या। उत्तंक की कथा, च्यवन और इंद्र के संघर्ष की कथा, भार्गव राम से द्रोण की अस्त्र-प्राप्ति की कथा और कर्ण के शिष्यत्व की कथा दो-दो बार आई है। जमदग्नि और परशुराम की जन्मकथा चार बार आई है। भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियों के इक्कीस बार नाश किये जाने का उल्लेख दस बार हुआ है और हर बार 'त्रिसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा' यही उसका रूप है, जिसे सूतों ने उनके विरुद्ध गान का अंतरा ही बना लिया था। भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियों के गर्व तोड़ने का उल्लेख तो लगभग बीस बार हुआ है। भार्गवों का यह गौरव महाभारत में ही स्फुट हुआ है। उनके यश और वीर्य का आभास वैदिक साहित्य में प्रायः नहीं है। सौ बातों

की एक बात यह कि कुलपति शौनक, जिनको उग्रश्रवा सूत ने महाभारत की कथा सुनाई, स्वयं भार्गव थे। किन्तु इस विषय में भी हमें विचारों का संतुलन रखने की आवश्यकता है।

महाभारत संपूर्ण ब्राह्मण-परम्परा का विश्वकोष और भारतीय उपाख्यानों का सनातन कल्पवृक्ष बन गया था। स्वयं महाभारत में कहा है :

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्। (आदि० ५६।३३)

अतएव भारतवंश की सीधी-सादी युद्धकथा को भारतीय धर्म के विश्वकोश में ढालने का भगीरथ आयोजन महाभारत में है। फिर भी अगस्त्य, आत्रेय, कण्व, कश्यप, गौतम, वसिष्ठ आदि ऋषिकुलों के वर्णन को महाभारत में उतना स्थान नहीं मिला, जितना भृगुवंश को। महाभारत के कथा-प्रवाह में वे कथाएं छिप-सी गई हैं, पर 'भार्गवों के उपाख्यान सिर ऊंचा उठाये हुए बार-बार हमारे सामने आकर दर्शन देते हैं, तथा भार्गव महापुरुषों के जो देवतुल्य आकार कल्पित किये गए हैं, वे भीष्म, कर्ण, कृष्ण और अर्जुन जैसे अतिमानवों के साथ टक्कर लेते हैं और कहीं उनको भी पीछे छोड़ जाते हैं।'[१]

भार्गव-सामग्री महाभारत के उस अंश में है, जिसका निर्माण उपाख्यानों से हुआ। अतएव यह असंदिग्ध परिणाम निकाला जा सकता है कि महाभारत के वर्त्तमान संस्करण में भारत कथाओं के साथ भार्गव-उपाख्यानों का जानबूझकर गठ-बंधन किया गया। महाभारत की अनुश्रुति के अनुसार ग्रंथ के संस्कर्ताओं ने सौभाग्य से इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है कि व्यास का मूल ग्रंथ भारत २४,००० श्लोकों का था और उसमें उपाख्यान नहीं थे (आदि० १। ६१)। किन्तु भार्गव शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ में लोमहर्षण के पुत्र पौराणिक उग्रश्रवा सूत ने जिस ग्रंथ का पारायण किया, उसमें घटनास्थल अशांत कौरव राजसभा से उठकर भार्गवों के प्रशांत आश्रम में स्थापित होता है।

कथा-भाग के अतिरिक्त महाभारत की नीति और धर्म-संबंधी सामग्री पर भी भार्गव प्रभाव पड़ा। यह सर्वसम्मत है कि धर्म और नीति का जैसा

१. श्री सुकथनकर, भृगुवंश और भारत, पृ० १५६।

सर्वांगपूर्ण और गंभीर विवेचन महाभारत में प्राप्त है, जिसके कारण हिंदू संस्कृति में इसे स्मृति का पद दिया गया और राष्ट्र की दृष्टि में शाश्वत सम्मान प्राप्त हुआ, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। धर्म और नीति विषय में भी भृगुओं का विशेष प्रभाव था। मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र सुनाने का कार्य भृगु ने ही किया, जिसके कारण मनुस्मृति को आज भी भृगुसंहिता कहा जाता है। भार्गव शुक्र का नीति विषय से संबंध प्रसिद्ध ही है। डा. बूहलर की गणना के अनुसार मनुस्मृति के २६० श्लोक (समग्र ग्रंथ का लगभग दशमांश) महाभारत के ३रे, १२वें और १३वें पर्वों में पाये जाते हैं।

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विशेषताएं

महाभारत उस प्रकार का इतिहास-ग्रंथ कदापि नहीं, जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिक्रम और आंकड़ों को इकट्ठा कर ठेठ इतिहास लिखा गया हो। उस प्रकार का नीरस ग्रंथ, यदि वह कभी लिखा गया होता तो क्या ३,०००से भी अधिक वर्षों तक जीवित रह सकता था? कौन नहीं जानता कि इतिहास के पंडितों द्वारा कड़े परिश्रम से रचे गए सैकड़ों पोथे लोकजीवन में अपना प्रभाव खोकर पुस्तकालयों की धूल चाटते हैं? कौन उन्हें दुबारा पढ़ने का कष्ट करता होगा? महाभारत उस प्रकार की ठूंठ पद्धति से रचा हुआ इतिहास न कभी था और न उसे ऐसा कभी समझना चाहिए। यह तो एक भावात्मक रचना है:

कृत मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।

यह काव्य महान् कलाकार की अद्भुत सर्जना है।

महाभारत के वर्तमान रूप के संबंध में यह भी ज्ञातव्य है कि वह नारायणीय धर्म का सर्वप्राचीन ग्रंथ है और आदि से अन्त तक भगवान् वासुदेव नारायण की महिमा के संकीर्त्तन के लिए प्रतिसंस्कृत किया गया है। व्यासकृत अत्यन्त तेजस्वी मंगलाचरण के तुरन्त बाद हृषीकेश विष्णु, चराचर के गुरु हरि के प्रति प्रणामात्मक मंगलाचरण भी पाया जाता है। ये दोनों मंगलाचरण इस प्रकार हैं:

आद्यं पुरुषमीशानं पुरहूतं पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्॥

असच्च सच्चैव यद्विश्वं सदसतः परम्।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम्॥
(आदि० १।२०, २१)।

इन श्लोकों में मानो छान्दस शब्दों के मोती चुन-चुनकर पिरोये गए हैं। इनके तुरन्त बाद ही यह मंगलाचरण है :

मंगल्यं मंगलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम्॥
(आदि० १। २२)।

अवश्य ही यह श्लोक पंचरात्र भागवतों द्वारा ग्रंथ-संस्कार का परिणाम है। 'नारायणो नरश्चैव तत्वमेकं द्विधाकृतम्' इस विराट कल्पना में विश्वास करनेवाले भागवतों ने ऐसे महान् ग्रंथ को अपनी धर्म-संहिता के रूप में ढाल लिया हो, इसमें आश्चर्य नहीं। नारद, देवल, असित, नारायण, वासुदेव आदि के अभिप्राय पंचरात्र प्रभाव की कथा पुकारकर कह उठते हैं। उन्हें ग्रंथ के मूल स्तर से पृथक् पहचानने में कठिनाई नहीं होती।

इसी महाभारत में एक तीसरी विलक्षण विशेषता यह है कि भारतवर्ष की उर्वरा भूमि में निषाद संस्कृति से संबंधित जो अनेक मान्यताएं थीं, उनका भी महाभारत में भरपूर सन्निवेश हुआ है। जैसा श्री हाप्किन्स ने महाभारतीय गाथा विज्ञान (एपिक माइथालॉजी) नामक अपने ग्रंथ में दिखाया है, भूमि से संबंधित अनेक धार्मिक विश्वास, जैसे यक्षदेवता, नागदेवता, नदीदेवता, वृक्षदेवता, पर्वतदेवता आदि, महाभारत के कथा-प्रवाह में अनायास सम्मिलित हो गए हैं और वैदिक देवताओं के बुने हुए जाल के साथ यहां वे भी अपनी सत्ता जमाये हुए हैं। संभवतः इन नाना देवताओं का समन्वय करने का कार्य भागवत धर्म ने ही शुरू किया, जैसा कि गीता के विभूतियोग नामक दसवें अध्याय के 'हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है,' इस प्रमाण से ज्ञात होता है।

साहित्यिक दृष्टि से महाभारत में किसी अतीत काल की संस्कृत भाषा का अत्यन्त समृद्ध स्वरूप पाया जाता है; भाषा की ऐसी विलक्षण शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। उपाख्यान शैली, छोटी-छोटी कहानियों की गल्प शैली (जिसमें पंचतंत्र की अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घसूत्री इन

तीन मछलियों की कहानी भी है), दर्शन और अध्यात्म के निरूपण की संवादात्मक शैली (सनत्सुजात पर्व, उद्योग ४२-४६; अनुगीता, अश्वमेध अध्याय १६-५१); प्रश्नोत्तर शैली (वन० १८०-१८१; यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी, वन० अध्याय ३१३); केवल प्रश्नात्मक शैली (नारद के मुख से राजधर्मानुशासन, सभा० ५); नीतिकथन शैली (विदुरनीति, उद्योग० ३३-४०); स्तोत्र शैली (नारदकृत महापुरुषस्तव शांति० ३३८; भीष्मकृत कृष्णस्तवराज, शांति० ४७; भगवन्नामनिरुक्त, शांति ३४१; व्यासोक्त शतरुद्रिय, अनु० १६१; शिवसहस्रनाम (शांति २८४) इत्यादि अनेक प्रकार की साहित्यिक शैलियों का अक्षय भंडार महाभारत में है।

नार्वे, आइसलैंड आदि उत्तराखंडवर्ती देशों की प्राचीन गाथाओं के विद्वान् आज मुक्तकंठ से सीमंड और उसके पुत्र स्नोरी की प्रतिभा का गुण-गान करते हैं, जिन्होंने आर्यों की ही एक शाखा त्यूतन लोगों की प्राचीन गाथाओं का संग्रह ११वीं-१२वीं शती के लगभग किया। सीमंड ने 'पोइ-टिक एड्डा' के नाम से सब उपाख्यानों को एकत्र किया। तदनंतर उसके पौत्र स्नोरी स्टर्लेसान ने, जिसका जन्म सन् ११७९-११८१ के बीच हुआ था और जो पीछे से आइसलैंड का राष्ट्रपति भी बन गया था, उन सब कथाओं का गद्य रूप में एक अत्यन्त उत्कृष्ट संस्करण तैयार किया। आज यही बात हम व्यास, शुक और रोमहर्षण के लिए भी कह सकते हैं, जिन्होंने सीमंड और स्नोरी से सहस्रों वर्ष पहले आर्यों के विराट् गाथा-वाङ्मय को अपने काव्य में गूंथकर उसे सदा के लिए अमर कर दिया। इसी कारण महाभारत वेद और पुराणों के उपाख्यानों का अक्षय भंडार बना हुआ है। 'एड्डा' और 'सागाओं' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि ये इतनी महान् कृतियां हैं कि इन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपीयर, दांते, गेटे बन जायंगे। शेक्सपीयर, दांते और गेटे के स्थान पर भास, कालिदास, माघ, भारवि और हर्ष का नाम रख देने से ये ही उद्गार वेदव्यास के लिए ठीक घटित होते हैं। स्वयं महाभारत में कहा है :

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्त कविबुद्धय।
इदं सर्वैः कविवरैराख्यानमुपजीव्यते ।।
(आदि २।२३७,२४१)

'अंगों और उपनिषदों के साथ चारों वेदों का जिसे ज्ञान है, किन्तु जो इस महाभारत संज्ञक आख्यान को नहीं जानता, उसे विचक्षण नहीं कह सकते। इस उपाख्यान को सुन लेने के बाद और कुछ अच्छा नहीं लगता, जैसे कोयल का मधुर स्वर सुन लेने पर कौवों के रूखे बोल नहीं सुहाते। इस उत्तम इतिहास से कवियों की विशाल प्रतिभाएं जन्म लेती हैं। इस आख्यान का आश्रय लिये बिना पृथिवी पर किसी कथा का अस्तित्व नहीं है, वैसे ही जैसे आहार के बिना शरीर धारण नहीं किया जा सकता। सारे श्रेष्ठ कवि इस आख्यान का आश्रय लेते हैं। सब आगमों में यह इतिहास श्रेष्ठ है और अर्थों की दृष्टि से प्रधान है। इस उत्तम इतिहास में भगवान् वेदव्यास की उत्तम बुद्धि उसी प्रकार ओतप्रोत है, जिस प्रकार स्वर और व्यंजनों में लोक और वेद की समस्त वाणी अर्पित है। प्रज्ञा से समृद्ध इस भारत इतिहास का श्रवण करना चाहिए।' (आदि० २।२३५-२४२)

महाभारत के ओज-पूर्ण प्रवाह के कितने ही प्रकरणों की गूंज राष्ट्र के कानों में अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी बराबर सुनाई देती रही है। शतसहस्र शाखाओं में फैले हुए पुराण वटवृक्ष के नीचे अखंड समाधि में विराजमान महर्षि वेदव्यास ने धर्मसंज्ञक किसी अपरिमेय एवं अचिन्त्य तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार किया तथा अपनी अलौकिक काव्य-प्रतिभा द्वारा उसे सब जनों के हितार्थ महाभारत में निबद्ध कर दिया। उनके भगीरथ तप से जो धर्माम्बुवती ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई उसकी सरस धारा में समस्त राष्ट्र ने सहस्रों वर्षोंतक अवगाहन किया है। जबतक भूमंडल पर चन्द्र और सूर्य का प्रकाश है, जबतक अग्निषोमीय पुरुष का मानवीय व्यवहार जगत् में चालू है, जबतक गंगा-यमुना के तटों पर आकाशचारी हंस प्रति निर्मल शरद् में उतरते हैं, तबतक भगवान की अनन्त महिमा को प्रख्यात करनेवाला यह जय नामक इतिहास लोक में अमर रहेगा।

२ : : कथा-सार तथा पर्व-सूची

महाभारत नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : कौरव और पांडव दोनों भरतवंशी थे, अतएव वे 'भारत' कहे गए ; भरतवंशियों के संग्राम या युद्ध की संज्ञा भी 'भारत' हुई । पाणिनीय सूत्र ४।२।५६ (संग्रामे प्रयोजन-योद्धृभ्यः) के अनुसार योद्धाओं के नाम से युद्ध का नाम रखा जाता था। अतः स्वाभाविक रीति से भरतों का संग्राम 'भारत' कहलाया। महा-भारत में एक स्थान पर 'महाभारत युद्ध' (अश्वमेध ८१।८) इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'बड़ा भारत युद्ध', अर्थात भरतों के बीच में जो बड़ा संग्राम हुआ वह 'महाभारतयुद्ध' कहलाया। अन्यत्र आदिपर्व में 'महाभारताख्यानम्' (५६।३०) शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है 'भरतों के महान् संग्राम की कहानी'। महाभारताख्यान का ही सक्षिप्त रूप महाभारत है।

महाभारत के वर्त्तमान रूप में १८ पर्व हैं । सब पर्वों में मिलाकर १,९४८ अध्याय और ८२,१४६ श्लोक होते हैं। यह संख्या पूना से संपा-दित-संशोधित संस्करण के अनुसार है । दक्षिण भारत से प्रकाशित विस्तृत पाठ में जिसे 'महल्लक पाठ' भी कह सकते हैं, अध्यायों की संख्या १,९५९ और श्लोकों की संख्या ९५,५८६ है । इस प्रकार की गणना 'पर्व संग्रह' नामक पर्व में भी पाई जाती है। ये पर्व १,००० ईसवी से पूर्व अवश्य ही महाभारत के अंग थे, क्योंकि जावा द्वीप से प्राप्त भारत में, जो लगभग ८वीं-९वीं शती के लगभग वहां गया होगा, इस प्रकार की पर्व-गणनात्मक सख्याएं पाई जाती हैं, और 'आंध्रभारतम्' नामक तेलुगु भाषा के अनुवाद में भी, जो विक्रम की १०वीं शताब्दी में बना, ये संख्याएं उपलब्ध हैं। १८ पर्वों में अध्याय और श्लोकों की संख्या इस प्रकार जाननी चाहिए :

पर्व	अध्याय	श्लोक
१. आदिपर्व	२१८	७९८४
२. सभापर्व	७२	२९११
३. आरण्यकपर्व	२९९	११६६४

४.	विराटपर्व	६७	२०५०
५.	उद्योगपर्व	१८६	६६९८
६.	भीष्मपर्व	११७	५८८४
७.	द्रोणपर्व	१७०	८९०९
८.	कर्णपर्व	६९	४९००
९.	शल्यपर्व	५९	३२२०
१०.	सौप्तिकपर्व	१८	८७०
११.	स्त्रीपर्व	२७	७७५
१२.	शांतिपर्व	३३९	१४५२५
१३.	अनुशासनपर्व	१४६	६७००
१४.	आश्वमेधिकपर्व	१३३	३३२०
१५.	आश्रमवासिकपर्व	४२	१५०६
१६.	मौसलपर्व	८	३००
१७.	महाप्रस्थानिक पर्व	३	१२०
१८.	स्वर्गारोहणपर्व	५	२००
	योग	१,९४८	८२,१३६

काश्मीर से प्राप्त शारदा लिपि में लिखी हुई महाभारत की प्रतियां पाठ की दृष्टि से सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। उनके पाठ प्राचीन एवं मूल के अधिकतम निकट हैं और अन्य संस्करणों की अपेक्षा श्लोक-संख्या भी उनमें कम है। दक्षिण भारत के संस्करण में सबसे अधिक मिलावट है, जो सभापर्व, विराटपर्व, अनुशासनपर्व, आश्वमेधिकपर्व और आश्रमवासिकपर्व में पाई जाती है। कुल मिलाकर उसमें १३,४५० श्लोक पहले और दूसरे पर्व ग्रंथ के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से अति महत्त्व रखते हैं। पहले पर्व में उग्रश्रवा सूत के पधारने की भूमिका देने के बाद पांडवों की संक्षिप्त कथा उसी ढंग पर दी है, जैसे मूल रामायण में राम की कथा।

पाण्डवों की संक्षिप्त कथा

मृगयाशील पांडु स्वजनों के साथ अरण्य में निवास करते थे। वहीं कुन्ती और माद्री ने मंत्रों की सहायता से धर्म, वायु, इंद्र और अश्विनों से

पांच पुत्र उत्पन्न किये। कुछ दिन तक वे बालक तपस्वियों द्वारा आश्रम में संवर्द्धित होते रहे। फिर ऋषि लोग सुन्दर जटाधारी ब्रह्मचारियों के वेश में रहनेवाले उन बालकों को हस्तिनापुर में लाकर कौरवों को यह कहकर सौंप गए कि ये पांडव हैं, तुम्हारे पुत्र, भाई, शिष्य और मित्र हैं। उनसे मिलकर समस्त कौरव और पुरवासी बहुत हर्षित हुए। इस प्रकार अखिल वेद और विविध शास्त्रों का अध्ययन करते हुए पांडव वहां पूजित होकर रहने लगे। सब प्रजागण युधिष्ठिर के सत्य व्यवहार, भीमसेन की धृति, अर्जुन के विक्रम और नकुल-सहदेव की विनय एवं कुन्ती की गुरु-शुश्रूषा से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। तब राजाओं के समूह में उपस्थित होकर अर्जुन ने पति का स्वयंवर करनेवाली कृष्णा को सुदुष्कर लक्ष्य-भेद करके प्राप्त किया। उसके फलस्वरूप वे सब धनुर्धारियों में पूज्य समझे जाने लगे। अर्जुन ने सब राजाओं को और बड़े-बड़े गणराज्यों को जीतकर युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार बहुविध अन्नराशि एवं दक्षिणाओं से युक्त महान राजसूय-यज्ञ युधिष्ठिर द्वारा आरम्भ किया गया। वासुदेव कृष्ण की नीति से और भीम और अर्जुन के बल से जरासंध एवं बल-गर्वित शिशुपाल मारे गए। उस यज्ञ में अनेक देशों से मणि, सुवर्ण, रत्न, गौ, हस्ति, अश्व और धन के अनेक उपायन युधिष्ठिर को प्राप्त हुए और दुर्योधन ने देखे। पांडवों की उस समृद्ध लक्ष्मी को देखकर उसके मन में ईर्ष्याजनित रोष उत्पन्न हुआ। मय शिल्पी ने विमान के आकार की जो सुन्दर सभा पांडवों के लिए बनाई, उसे देखकर भी दुर्योधन संतप्त हुआ। वहां उस सभा में दुर्योधन को जल-थल के भ्रम से चलने में कुछ हड़बड़ी करते देख कृष्ण के सामने ही भीम ने उसकी खिल्ली उड़ाई। भोगने के लिए अनेक प्रकार के रत्न और विविध भोगों के होते हुए भी दुर्योधन मनमलीन और तनक्षीण रहता था। धृतराष्ट्र को जब इसकी सूचना मिली तब पुत्र के स्नेह से उसने उसे पांडवों के साथ द्यूत की अनुमति दे दी। उसे सुनकर कृष्ण को बड़ा क्रोध आया और उनके मन को चैन न पड़ा।

धृतराष्ट्र के मनोभाव

इस प्रकार घटनाओं का सार रूप में परिगणन करने के बाद धृतराष्ट्र

के मनोभावों की झांकी यों दी गई है—'हे संजय, मेरी बात सुनो। तुम प्राज्ञ हो, मेरे ऊपर रोष न करना। मेरा मन युद्ध में नहीं है और न मुझे कुरुओं का नाश ही अच्छा लगता है। अपने और पांडु के पुत्रों में भी मैं भेद नहीं मानता, पर मैं वृद्ध हूं। मेरे उद्धत पुत्र मुझसे डांट-डपट करते हैं। मैं कुछ तो अन्धे होने की दीनता से और कुछ पुत्रों की प्रीति से सब सह लेता हूं, और उस जड़ दुर्योधन की भांति मोह के जाल में फंस जाता हूं।'

इस खिन्न मनःस्थिति में पड़े हुए धृतराष्ट्र मूल महाभारत की कहानी के छूटे हुए तार को पुनः वीरकाव्योचित गौरवयुक्त छन्द और शैली से आगे बढ़ाते हैं। ये ५५ श्लोक धुरंधर छन्द एवं शब्द-योजना और सूत्र-रूप में कथा को कहने की विशेषता के कारण अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होते हैं, जो महाभारत के मूल वीर-गाथात्मक रूप की स्मृति दिलाते हैं :

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने धनुष को खींचकर लक्ष्य को बेध दिया, और सब राजाओं के सामने ही द्रौपदी को जीत लिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि द्वारका में माधव की बहन सुभद्रा को अर्जुन ने बलपूर्वक ब्याह लिया और फिर युद्ध करने के स्थान पर बलदेव और वासुदेव वृष्णि दायज लेकर इंद्रप्रस्थ पहुंच गए, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि देवराज इंद्र की मूसलाधार वृष्टि को अर्जुन ने अपने बाणों से रोक दिया और खांडव-वन में अग्नि की भूख बुझा दी, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि शकुनि ने अक्षद्यूत में युधिष्ठिर का राज्य जीतकर उसे हरा दिया और फिर भी उसके चारों अद्वितीय भाई रुष्ट होने के स्थान में उसके पीछे-पीछे चल दिये, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि आंसुओं से रुंधे हुए कंठवाली, एक वस्त्र से शरीर ढके हुए दुखिया द्रौपदी को रजस्वलावस्था में ही अनाथ की भांति मेरे पुत्र सभा में ले आये, तब इस घोर पाप की प्रतिक्रिया से भयभीत मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि वन को प्रस्थान करते हुए पांडव सब भांति दुःखी

होकर भी अपने ज्येष्ठ बन्धु की प्रसन्नता के लिए केवल धर्म पर ही आरूढ़ रहे, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि सहस्रों स्नातक और भिक्षा-भोजन करनेवाले महात्मा ब्राह्मण युधिष्ठिर की भक्ति से खिचकर उनसे मिलने वन में जा पहुंचे तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने किरातरूपधारी देवदेव त्र्यंबक शिव को युद्ध में प्रसन्न करके पाशुपत महास्त्र प्राप्त कर लिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि सत्य पर आरूढ़ धनंजय अर्जुन ने स्वर्ग में जाकर साक्षात् इन्द्र से भली भांति दिव्य अस्त्रों का अध्ययन किया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि भीम और अन्य कुन्तीपुत्र मनुष्यों से अगम्य देश में वैश्रवण कुबेर से जाकर मिले, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कर्ण की सलाह मानकर, मेरे पुत्र घोष-यात्रा में गए और वहां पाण्डवों ने गन्धर्वों के बन्धन से उन्हें छुड़ाया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि स्वयं धर्म यज्ञ का रूप धरकर युधिष्ठिर से मिले और उनके पूछे हुए प्रश्नों का युधिष्ठिर ने समाधान कर दिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कौरवों के तगड़े वीरों को विराट देश में बसते हुए महात्मा अर्जुन ने अकेले ही मारकर भगा दिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि मत्स्य देश के राजा ने सत्कार के साथ अपनी पुत्री उत्तरा अर्जुन को अर्पित की और अर्जुन ने अपने पुत्र के लिए उसे स्वीकार कर लिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि सब भांति निर्जित, बन में गये हुए और स्वजनों से छूटे हुए युधिष्ठिर के पक्ष में भी सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हो गई, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने नारद से सुना कि नर-नारायण के रूप में कृष्ण और अर्जुन

को वह सदा ब्रह्मलोक में देखते हैं, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि वह माधव-वासुदेव, जिनके एक चरणन्यास से यह सारी पृथिवी परिमित है, सब प्रकार पाण्डवों के पक्ष में हैं, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कर्ण और दुर्योधन ने कृष्ण को पकड़ लेने की सूझ बांधी और कृष्ण ने उन्हें अपना विराट रूप दिखलाया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कृष्ण के प्रस्थान करने पर रथ के आगे अकेली खड़ी हुई कुन्ती को केशव ने सान्त्वना दी, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि वासुदेव पाण्डवों के मंत्री हैं तथा शान्तनु के पुत्र भीष्म और भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न द्रोण दोनों उन्हें आशीर्वाद देते हैं, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कर्ण ने भीष्म से यह कह दिया कि तुम्हारे युद्ध करने पर मैं युद्ध में सम्मिलित न होऊंगा, और वह सेना को छोड़कर हट गया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कृष्ण और अर्जुन तथा अनुपम गाण्डीव धनुष, ये तीन उग्र शक्तियां एक-साथ जुट गई हैं, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि विषाद से भरकर रथ में बैठे हुए दुखी अर्जुन को कृष्ण ने अपने शरीर में विराट रूप का दर्शन कराया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अमित्रघाती भीष्म युद्ध में सहस्रों रथियों का नाश तो कर रहे हैं, किन्तु सामने दिखाई देनेवाले पाण्डवों में से कोई नहीं मरता, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अत्यन्त शूर, युद्धों में अजेय भीष्म अर्जुन द्वारा शिखण्डी की ओट में मार दिये गए, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अनेक सोम-क्षत्रियों की मार-काट करके बूढ़े वीर भीष्म भी स्वयं शर-शय्या पर पड़ गए और उन-बाणों के रंग-बिरंगे पुंखों से घिर गए, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि भीष्म के पानी मांगने पर अर्जुन ने पातालफोड़ जल से भीष्म को तृप्त किया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि शुक्र और सूर्य दोनों ग्रह पाण्डवों की विजय के अनुकूल हैं और हमारी छावनी में नित्य सियार रोते हैं, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोण समर में विविध प्रकार की अस्त्र-विधि का प्रदर्शन करके भी किसी श्रेष्ठ पाण्डवों को नहीं मारते, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना की अर्जुन के नाश के लिए आते हुए हमारी ओर के महारथी संशप्तकों को उल्टे अर्जुन ने ही मार गिराया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि शस्त्रधारी द्रोणाचार्य से सुरक्षित एवं औरों से अभेद्य चक्रव्यूह को भेदकर सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु अकेले उसमें घुस गया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन के सामने अशक्त रहनेवाले वे महारथी बालक अभिमन्यु को घेरकर और उसका वध करके प्रसन्न होने का ढोंग करने लगे, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अभिमन्यु को मारकर मूढ़ धार्त्तराष्ट्र प्रसन्नता से चिल्लाने लगे, और उधर अर्जुन ने जयद्रथ के ऊपर अपने क्रोध का ज्वालामुखी छोड़ दिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने जयद्रथ-वध की अपनी प्रतिज्ञा शत्रु-दल के बीच में पूरी कर दी, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन के रथ के घोड़ों के थक जाने पर कृष्ण ने स्वयं अपने हाथ से उन्हें खोलकर जल पिलाया और खिला-पिलाकर पुनः जोड़कर वह रथ ले गए, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अपने घोड़ों के तरोताजा हो जाने पर रथ में बैठ-

कर गांडीवधारी अर्जुन ने और सब योद्धाओं को छेक लिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोणाचार्य की हस्ति-दुर्मद सेना को दलित करके सात्यकि कृष्ण और अर्जुन से जा मिले, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कर्ण ने भीम को पकड़कर भी केवल कुछ कह-सुनकर और धनुष की नोंक से कोंच कर छोड़ दिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोण, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और शल्य-जैसे शूरवीरों ने भी जयद्रथ के वध को चुपचाप सह लिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि देवराज इन्द्र द्वारा प्रदत्त दैवी शक्ति को कृष्ण ने कर्ण से घटोत्कच पर चलवाकर उसे छल लिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि जिस शक्ति से समर में अर्जुन का नाश होने को था, उसे सूतपुत्र कर्ण ने पहले ही छोड़ दिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि धृष्टद्युम्न ने धर्म का उल्लंघन करके रथ में अकेले बैठे हुए प्राणोत्सर्ग के व्रती द्रोणाचार्य को मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि द्वैरथ-युद्ध में सब लोगों के सामने माद्रीपुत्र नकुल अकेले अश्वत्थामा से भिड़ गए, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि द्रोण की मृत्यु के बाद द्रोणपुत्र अश्वत्थामा दिव्य नारायण-अस्त्र का प्रयोग करके भी पाण्डवों का अन्त न कर सका, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अत्यन्त शूर कर्ण को भी पार्थ ने भाई-भाई के उस युद्ध में मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुःशासन और उग्र कृतवर्मा ने युधिष्ठिर को अकेले में पाकर भी कुछ नहीं किया, तब मुझे विजय की

आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि युधिष्ठिर ने मद्रराज शल्य को, जो कृष्ण के सामने डर जाता था, मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कलह-द्यूत के मूल, छलछंदी, पापी शकुनि को सहदेव पाण्डव ने संग्राम में मार दिया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय!

'जब मैंने सुना कि दुर्योधन विरथ और भग्नदर्प होकर सरोवर के जल में जा सोया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि कृष्ण के साथ पाण्डव गंगा-ह्रद में छिपे हुए असहनशील दुर्योधन को जाकर डपटने लगे, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि गदायुद्ध में विविध पैंतरों से मण्डल बनाकर लड़ते हुए दुर्योधन को कृष्ण की बताई युक्ति से भीम ने मार डाला, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा आदि ने द्रौपदी के सोते हुए पुत्रों का वध करके बड़ा बीभत्स और निन्दित कार्य किया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि क्रुद्ध भीम से पीछा किये जाने पर अश्वत्थामा ने ब्रह्मशिरस् अस्त्र को सींक के भीतर रखकर चलाया, और गर्भस्थ पाण्डवों का नाश-जैसा जघन्य कार्य किया, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अर्जुन ने भी अपने ब्रह्मशिरस् अस्त्र को चलाकर उससे अश्वत्थामा के अस्त्र को काट दिया और अश्वत्थामा को अपने मस्तक की मणि देनी पड़ी, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ में स्थित परीक्षित पर भी अस्त्र चला दिया और फिर भी व्यास और कृष्ण ने उसकी रक्षा कर ली, तब मुझे विजय की आशा नहीं रही, संजय !

'हे संजय, युद्ध के परिणामस्वरूप पुत्र-पौत्रों से विहीन गान्धारी और अपने पिता और भाइयों से विहीन बहुएं शोचनीय दशा को प्राप्त हो गईं एवं पाण्डु के पुत्रों ने दुष्कर कर्म करके असपत्न राज्य प्राप्त कर लिया। इस

महायुद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना काम में आ गई, और केवल दस योद्धा शेष रहे, तीन हमारे और सात पाण्डवों के।' (आदि० १।१०२-१५८)

इन अति प्राचीन श्लोकों में भारत-युद्ध और कुरु-पाण्डवों के चरित की पूरी रूपरेखा आ गई है। निश्चय ही महाभारत का असली ठाट यही रहा होगा, जिसके ऊपर वैदिक और लौकिक उपाख्यानों, गाथाओं, अनेक धार्मिक विश्वासों, नीतिपरक और धर्मपरक संवादों की एक विस्तृत छाजन छा दी गई। फलतः मूलरूप में निखरे और साफ-सुथरे वीरगाथा-काव्य ने राष्ट्रीय महाकाव्य और धार्मिक विश्वकोष का रूप धारण कर लिया।

पर्वों की सूची

वर्तमान महाभारत के १८ पर्वों का विभाग कितना प्राचीन है, यह सुनिश्चित नहीं। लेकिन इन पर्वों के पीछे महाभारत का दूसरे प्रकार का विभाग था, जिसमें १०० पर्व गिने जाते थे। इन पर्वसंग्रह-पर्व (आदि० २।३३।२३३) को भारत का समास या संक्षिप्त रूप कहा गया है। वस्तुतः यह महाभारत की अत्यंत प्राचीन विषय-सूची समझी जा सकती है, जब उग्रश्रवा सूत के मुख से सम्पन्न हुए महाभारत का बृहत्-रूप अस्तित्व में आ चुका था।

इस भारत इतिहास के पर्वों का संग्रह इस प्रकार है: सबसे पहले (१) पर्वानुक्रमणी-पर्व, फिर (२) पर्वसंग्रह-पर्व, (३) पौष्य-पर्व, (४) पौलोम-पर्व, (५) आस्तीक-पर्व, और (६) आदिवंशावतारण-पर्व हैं। उसके बाद अत्यन्त अद्भुत (७) सम्भव-पर्व है। फिर (८) लाक्षागृहदाह-पर्व (९) हैडिम्ब-पर्व, (१०) बकवध-पर्व और (११) चैत्ररथ-पर्व हैं। इसके बाद (१२) देवी पांचाली का स्वयम्वर-पर्व है, और पुनः (१३) वैवाहिक पर्व है। तदनन्तर (१४) विदुरागमन-पर्व, (१५) राज-लम्भ-पर्व, (१६) अर्जुनवनवास-पर्व, और (१७) सुभद्राहरण पर्व हैं। सुभद्रा का हरण हो जाने के बाद कृष्ण और बलराम के दायज लेकर इन्द्रप्रस्थ जाने की कथावाला (१८) हरणहारिक-पर्व है। उसके बाद (१९) खाण्डवदाह-पर्व है, जिसमें मय के साथ पाण्डवों का परिचय हुआ। उसके बाद (२०) सभा-पर्व, तब (२१) मन्त्र-पर्व, (२२) जरासंधवध-पर्व और (२३) दिग्विजय-पर्व की

कथा है। दिग्विजय के बाद (२४) राजसूयिक-पर्व, तब (२५) अर्घाभि-हरण-पर्व है, जिसमें अनेक देशों के राजा युधिष्ठिर के लिए तरह-तरह की भेंट लेकर आये। तब (२६) शिशुपालवध-पर्व, (२७) द्यूत-पर्व और उसके बाद (२८) अनुद्यूत-पर्व की कथा है। फिर (२९) आरण्यक-पर्व, (३०) किर्मीर-वध-पर्व, (३१) शिव और अर्जुन के युद्ध का कैरात-पर्व, और उसके बाद (३२) इन्द्रलोकाभिगमन-पर्व है। पुनः (३३) तीर्थयात्रा-पर्व में कुरुराज युधिष्ठिर की तीर्थयात्रा का वर्णन है। तब (३४) जटासुरवध-पर्व, (३५) यक्षयुद्ध-पर्व, (३६) आजगर-पर्व और उसके बाद (३७) मार्कण्डेय-समास्या-पर्व एवं (३८) द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद पर्व हैं। फिर (३९) घोषयात्रा-पर्व, (४०) मृगस्वप्नभय-पर्व, (४१) व्रीहिद्रौणिक-पर्व और तदनन्तर जयद्रथ द्वारा वन में (४२) द्रौपदी-हरण-पर्व है। फिर (४३) कुण्डला-हरण-पर्व, उसके बाद (४४) आरणेय-पर्व और तब (४५) वैराट-पर्व है। इसके बाद (४६) कीचकवध-पर्व, पुनः (४७) गोग्रहणापर्व और तब (४८) उत्तरा और अभिमन्यु का वैवाहिक-पर्व है। इसके बाद महाद्भुत (४९) उद्योग-पर्व है। तब (५०) संजय-यान-पर्व, और उसके बाद (५१) धृतराष्ट्र-प्रजागर-पर्व है। उसके बाद गुह्य अध्यात्म-दर्शन से युक्त (५२) सनत्-सुजातीय-पर्व है। तब (५३) यानसन्ध-पर्व, (५४) भगवद्यान-पर्व, (५५) कर्ण-विवाद-पर्व, पुनः (५६) कुरु-पाण्डव-सेनाओं का निर्याण-पर्व और तदनन्तर (५७) रथातिरथ-संख्या-पर्व है। उसके बाद (५८) उलूक-दूतागमन-पर्व और (५९) अम्बोपाख्यान-एवं (६०) भीष्माभिषेचन-पर्व है। इसके अनन्तर (६१) जम्बूखण्ड-विनिर्माण-पर्व और (६२) द्वीपों के विस्तार का वर्णन करनेवाला, भूमि-पर्व है। उसके बाद (६३) गीता-पर्व और (६४) भीष्मवध-पर्व है। तब (६५) द्रोणा-भिषेक-पर्व, (६६) संशप्तकवध-पर्व, (६७) अभिमन्युवध-पर्व, (६८) प्रतिज्ञा-पर्व, (६९) जयद्रथवध-पर्व, (७०) घटोत्कचवध-पर्व, (७१) द्रोण-वध-पर्व और (७२) नारायणास्त्र मोक्ष-पर्व हैं। इसके बाद (७३) कर्ण-पर्व, और तब (७४) शल्य-पर्व है। फिर (७५) ह्रदप्रवेश-पर्व, (७६) गदायुद्ध-पर्व, (७७) सारस्वत-पर्व, और उसके बाद (७८) भयंकर सौप्तिक-पर्व है। तदनन्तर बहुत ही दारुण (७९) ऐषीक पर्व है, फिर

(८०)जलप्रदानिक-पर्व, (८१) स्त्री-पर्व और (८२)श्राद्ध-पर्व है, जिसमें कुरुओं की श्राद्ध-क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इसके बाद (८३) युधिष्ठिर का आभिषेचनिक-पर्व, (८४) चार्वाक-निग्रह-पर्व और (८५) गृहप्रविभाग-पर्व हैं। तदनन्तर शान्ति-पर्व का महाप्रकरण है, जिसके अन्तर्गत (८६)राजधर्मानुकीर्त्तन, (८७) आपद्धर्म और (८८) मोक्षधर्म ये तीन बड़े पर्व सम्मिलित हैं। इसके बाद (८९) आनुशासनिक-पर्व है। तब भीष्म का (९०) स्वर्गारोहण-पर्व है। पुनः सब पापों का नाश करने-वाला (९१) आश्वमेधिक-पर्व है, और उसके बाद (९२) अनुगीता-पर्व में अध्यात्म विषयों का विवेचन है। पुनः (९३) आश्रमवास-पर्व, (९४) पुत्रदर्शन-पर्व, और (९५) नारदागमन-पर्व हैं। तत्पश्चात् अत्यन्त घोर (९६)मौसल-पर्व है, और पुनः(९७)महाप्रस्थानिक-पर्व एवं (९८)स्वर्गा-रोहण-पर्व है। इस प्रकार ये ९८ पर्व हुए। इन्हींके दो परिशिष्ट हैं, एक (९९)हरिवंश-पर्व और दूसरा (१००)भविष्यत्-पर्व है जो हरिवंश पुराण का अंतिम भाग है। ये १०० पर्व महात्मा व्यास द्वारा कहे गए थे, किन्तु सूत पुत्र लोमहर्षण ने नैमिषारण्य में १८ पर्वों का विभाग ही कहा (३३-७१)।

ऊपर की इस सूची से यह स्पष्ट होता है कि १८ पर्वों का यह वर्तमान विभाग मूल महाभारत में विद्यमान न था। उसमें पर्वों की संख्या कथानुसार थी। छोटे-छोटे पर्वों का वह बंटवारा प्रवाह की दृष्टि से अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है; किन्तु इस उलझे हुए प्रश्न में रोचक तथ्य यह है कि वर्त-मान १८ पर्वों के नाम भी ज्यों-के-त्यों ऊपर की सूची में सम्मिलित हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. आदिवंशावतारण-पर्व (६); २. सभा-पर्व (२०); ३.आरण्यक-पर्व (२९); ४. वैराट-पर्व (४५); ५. उद्योग-पर्व (४९); ६. भीष्मा-भिषेचन-पर्व (६०); ७. द्रोणाभिषेक-पर्व (६५); ८. कर्ण-पर्व (७३); ९. शल्य-पर्व (७४); १०. सौप्तिक-पर्व (७८); ११. स्त्री-पर्व (८१); १२. शान्ति-पर्व, जिसके तीन भाग कहे गए हैं, राजधर्म (८६); आपद्धर्म (८७) और मोक्षधर्म (८८); १३. आनुशासनिक-पर्व (८९); १४.आश्व-मेधिक-पर्व (९१); १५. आश्रमवास-पर्व (९३); १६. मौसलपर्व (९६) १७. महाप्रस्थानिक-पर्व (९७); और १८. स्वर्गारोहण-पर्व (९८)।

ज्ञात होता है कि किसी समय जब महाभारत का नवीन संस्करण तैयार हुआ तब १०० पर्वोंवाले विभाग के स्थान में १८ पर्वोंवाला विभाग अधिक प्रसिद्ध हो गया। हमारा अनुमान है कि महाभारत की पाठ-परंपरा में गुप्तकाल में ऐसा सम्भव हुआ होगा। गुप्तकाल में कई महत्त्वपूर्ण प्रकरण महाभारत में एवं अन्य पुराणों में भी यथास्थान सन्निविष्ट कर दिये गए। बाणभट्ट ने महाभारत की कथा के विषय में लिखा है कि वह उस समय तीनों लोकों में व्याप्त हो रही थी :

किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्॥

(हर्षचरित १।९)

ऊपर लिखी हुई १०० पर्वों की सूची में आदिवंशावतारण नामक पर्व छठवां है। इसीसे पहले पर्व का आदिपर्व नाम रखा गया। इससे पूर्व पांच पर्व और हैं, जिनमें पर्वानुक्रमणी-पर्व और पर्वसंग्रह-पर्व तो एक प्रकार से महाभारत की विषय-सूचियां ही हैं। पौष्य, पौलोम और आस्तीक, ये तीन पर्व स्पष्ट ही आदिपर्व की मूल कुरु-पाण्डव-कथा के पहले जोड़े गए हैं। पौष्य-पर्व में उत्तंक का माहात्म्य, पौलोम-पर्व में भृगुवंश का विस्तार और आस्तीक-पर्व में गरुड़ और नागों के जन्म की एवं जनमेजय के सर्प-सत्र की कथाएं हैं। सौभाग्य से अनुक्रमणी-पर्व के बाद एक कोने में यह किंवदन्ती पड़ी रह गई है कि प्राचीन काल में महाभारत का आरम्भ आदि पर्व के तीन स्थलों से माना जाता था—किसी के मत में मन्वादि अर्थात् मनुप्रतिपादित हैमाण्ड सृष्टि वर्णनवाले श्लोकों से (१।२७); किसी के मत में आस्तीक पर्व (१३।१) से; और किसी के मत में वसुउपरिचर की कथा (५७।१) से।

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥

(आदि० १।५०)

पहले अनुक्रमणी-पर्व और दूसरे पर्व-संग्रह-पर्व में सब मिलाकर महाभारत की तीन विषय-सूचियां मिलती हैं। इनमें से 'जब मैंने सुना...तब विजय की आशा नहीं रही,' ये श्लोक भाषा, छन्द आदि की विशेषताओं

के कारण सबसे प्राचीन वेदव्यास-कृत मूल स्तर के ज्ञात होते हैं। वाल्मीकि रामायण में जो स्थान मूल रामायण नामक पहले सर्ग का है, जिसमें बीज-रूप से रामायण की कथा विद्यमान है वही स्थान महाभारत में इस संक्षिप्त प्रकरण का है। स्वयं इस प्रकरण के आदि में लिखा है :

ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः।
अनुक्रमणिमध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम्॥

(आदि० १।६२)

अर्थात्—व्यासजी ने स्वयं ही १५० श्लोकों में सब पर्वों के वृत्तान्तों की अनुक्रमणी का अध्याय रचा था। इस अनुक्रमणी में वस्तुतः इतने ही श्लोक हैं, जो इन दो श्लोकों से आरम्भ होते हैं :

दुर्योधन अभिमान का महावृक्ष है। कर्ण उसका तना है। शकुनि उसकी शाखाएं हैं। दुःशासन उसके फूल-फल हैं और बेसमझ राजा धृत-राष्ट्र उसका मूल है।

इसके विपरीत :

युधिष्ठिर धर्म-रूपी महावृक्ष है। अर्जुन उसका तना है। भीमसेन उसकी शाखाएं हैं। माद्री के पुत्र उसके फूल-फल हैं। कृष्ण, ब्रह्म और ब्राह्मण उस धर्म-वृक्ष के मूल हैं।

पर्वसंग्रह-पर्व के सौ अध्यायों का परिगणन अवश्य ही शुंगकाल में हुआ, क्योंकि उसमें हरिवंश और उसके ही अन्तिम भाग 'भविष्य-पर्व' इन दोनों को महाभारत का खिल भाग मानकर सौ पर्वों की गिनती पूरी की गई है। हरिवंश-पुराण के भविष्य पर्व में सेनानी पुष्यमित्र शुंग का स्पष्ट उल्लेख आया है :

औद्भिज्जो भविता कश्चित्सेनानीः काश्यपो द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति॥

(भविष्य-पर्व २।४०)

अर्थात्—औद्भिज्ज या शुंगवंश में काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण सेनानी उत्पन्न होगा, जो कलियुग में पुनः अश्वमेघ यज्ञ करेगा। सौ पर्वों की पूरी सूची के बाद लगभग १६० श्लोकों में १८ पर्वोंवाले महाभारत की विस्तृत विषय-सूची भी पाई जाती है, जो सौ पर्वोंवाली विषय-सूची बन जाने के

बाद जब महाभारत का बृहत्-रूप स्थिर होने लगा, तब गुप्तकाल में बनाई गई होगी।

३ : : जनमेजय का नाग-यज्ञ

अठारह पर्वोंवाले महाभारत के पहले पर्व का नाम आदि-पर्व है। उसमें २१८ अध्याय और ७,९८४ श्लोक हैं। पहले दो अध्यायों में प्रस्तावना रूप में महाभारत की रचना और उसकी विषय-सूची का तीन प्रकार से वर्णन करने के बाद तीसरे अध्याय से पौष्य-पर्व आरम्भ होता है, जो भाषा और शैली की दृष्टि से महाभारत के सबसे विलक्षण अध्यायों में से है। यह पर्व गद्य-शैली में लिखा हुआ है। बीच-बीच में लगभग १५ वैदिक शैली के छन्द भी हैं। अवश्य ही यह सूत्रकालीन चरण-साहित्य का एक टुकड़ा है, जो महाभारत की मूल कथा के साथ संबंधित न होते हुए भी किसी प्रकार ग्रंथ के आरम्भ में ही जुड़ गया। पौष्य-पर्व की कथा इस प्रकार है :

पौष्य-पर्व की कथा

परीक्षित जनमेजय भाइयों के साथ कुरुक्षेत्र में दीर्घसत्र यज्ञ करता था। उसे देवशुनी सरमा ने भावी अनिष्टसूचक शाप दिया। सत्र समाप्त होने पर जनमेजय हस्तिनापुर लौट आया, किन्तु उसे उस अनिष्ट से बचने की चिन्ता बनी रही। एक बार राजा मृगया के लिए वन में गया हुआ था। वहां उसने सोमश्रवा ऋषि को अपना पुरोहित वरण किया और उसके साथ राजधानी में लौटा। तब राज्य का भार भाइयों को सौंपकर जनमेजय ने तक्षशिलापर चढ़ाई की और उस देश को वश में किया।

इस चलती हुई कथा के बीच में ही धौम्य ऋषि की कहानी आ जाती है। आयोद धौम्य के आरुणि, उपमन्यु और वेद नामक तीन शिष्य थे। गुरु ने क्रमशः तीनों शिष्यों को परीक्षा की कसौटी पर कसा। तीनों ही खरे उतरे। आरुणि को एक खेत की मेंड़ बांधने भेजा। उसने मेंड़ के स्थान पर स्वयं लेट कर बहते हुए पानी को रोका, जिससे गुरु प्रसन्न हुए। यही

आरुणि पीछे चलकर पंचाल देश के महाविद्वान दार्शनिक उद्दालक आरुणि हुए, जिनका उपनिषदों में उल्लेख आता है। उपमन्यु को गाय चराने पर नियुक्ति किया और उपाध्याय धौम्य ने ऐसी कड़ाई बरती कि शिष्य को कुछ खाने को न मिले। ऐसी अवस्था में आक के पत्ते खाकर जीवित रहने से उपमन्यु दोनों नेत्रों से अन्धा हो गया और वह कुएं में गिर गया। वहीं उसने वैदिक ऋचाओं से देवों के वैद्य अश्विनीकुमारों की स्तुति की, जिससे उन्होंने प्रसन्न होकर उसे फिर चक्षुष्मान किया। तीसरा शिष्य वेद दीर्घ कालतक गुरुकुल में गुरु की शुश्रूषा करता रहा और रात-दिन बैल की तरह सरदी, गरमी, भूख और प्यास का दुःख सहकर सदा गुरु को प्रसन्न करता रहा और अन्त में उनकी आज्ञा से गृहाश्रम में लौटा। इसी वेद नामक ब्राह्मण को जनमेजय और पौष्य ने अपना पुरोहित बनाया। उसका शिष्य उत्तंक था, जिसने गुरु की अनुपस्थिति में ऋतुमती गुरुपत्नी की प्रार्थना को अस्वीकार करके अपनी गुरु-भक्ति का परिचय दिया। उससे आचार्य वेद प्रीतिमान हुए। गुरु-दक्षिणा के लिए आग्रह करने पर गुरु और गुरुपत्नी ने उत्तंक को आज्ञा दी कि वह पौष्य नामक राजा की रानी के सुन्दर कुण्डल लाकर गुरुपत्नी को अर्पित करे। उत्तंक ने अपनी सचाई और तप से वे कुण्डल प्राप्त किये, किन्तु नागराज तक्षक ने बीच में विघ्न डाला और वह कुण्डल लेकर पाताल में अदृश्य हो गया। उत्तंक ने हिम्मत न हारी और किसी प्रकार नागलोक में जाकर कुण्डल लाकर गुरुपत्नी को दिए।

तक्षक ने उत्तंक को जो दुःख दिया था, वह बात उसे न भूली। तबतक जनमेजय तक्षशिला जीतकर लौट आये थे। उत्तंक ने हस्तिनापुर जाकर राजा को नागों से बदला लेने के लिए भड़काया। तीर ठीक निशान पर लगा, क्योंकि जनमेजय के पिता परीक्षित को तक्षक नाग के डसने से अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था, और प्रतिशोध की अग्नि जनमेजय के मन में जल रही थी। उत्तंक ने जनमेजय को सर्प-सत्र के लिए तैयार कर दिया।

पौष्य पर्व प्राचीन साहित्य में स्वच्छन्द तैरते हुए प्रकरण की भांति था, पर इस जगह आकर महाभारत में चिपक गया है। इसके बाद चौथे अध्याय में पौराणिक उग्रश्रवा सूत के नैमिषारण्य में पहुंचने का पुनः गद्य में उल्लेख है। सूतजी से ऋषियों ने कहा, "कुलपति शौनक अग्निशाला

में हैं।" जब शौनक यज्ञायतन से निकले, तब सब ऋत्विजों और सदस्यों के बैठ जाने पर उन्होंने सूतजी से कहा, "इस महाभारत पुराण में सबसे पहले आदि-वंश की कथा सुनी जाती है, किन्तु मेरी इच्छा पहले भार्गव-वंश की कथा सुनने की है।" उत्तर में सूतजी भार्गव-वंश की कथा सुनाने लगे। इसमें विशेष रूप से भृगु की पत्नी पुलोमा के गर्भ से च्यवन के जन्म की कथा है। इन्हीं च्यवन के आश्रम के समीप वधूसरा नाम की नदी बहती थी। इसी नदी के किनारे रहने के कारण भार्गव लोक में 'ढूसर' नाम से विख्यात हैं। भार्गव च्यवन की सुकन्या नामक पत्नी से प्रमति, प्रमति से रुरु और रुरु से शुनक का जन्म हुआ। रुरु की पत्नी प्रमद्वरा की मृत्यु भी सांप के काटने से हुई थी। बहुत विलाप करने के बाद रुरु ने अपनी आयु का आधा भाग देकर प्रमद्वरा को पुनरुज्जीवित किया। इस प्रकार रुरु के मन में भी नागों के प्रति वैर की भावना उत्पन्न हो गई।

इसके बाद १३वें अध्याय से ५३वें अध्याय तक आस्तीक-पर्व की कथा कही गई है। इसीमें जनमेजय के नागयज्ञ की विस्तृत कहानी है। इसीमें कद्रू और विनता की स्पर्द्धा एवं नाग और गरुड़ के जन्म की कथा है। समुद्र-मंथन द्वारा चौदह रत्नों के उत्पन्न होने का आख्यान भी यहीं है। सागर-मन्थन से चन्द्रमा, श्रीदेवी, सुरा, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभमणि और धन्वन्तरि उत्पन्न हुए। धन्वन्तरि के हाथ में अमृत का श्वेत कमंडलु था। उसे देखकर दानव अमृत पाने के लिए बड़ा कोलाहल मचाने लगे। तब विष्णु ने मोहिनी रूप धारणकर असुरों को छल लिया और अमृत देवों को बांट दिया।

गरुड़ोपाख्यान

गरुड़ का उपाख्यान प्राचीन वैदिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग था। वहीं से वह समृद्ध रूप से महाभारत के आरम्भ में सन्निविष्ट हो गया। आर्यगाथाशास्त्र में देशान्तरों तक गरुड़-उपाख्यान के सूत्र फैले हुये पाये जाते हैं। महाप्रतापी गरुड़ अग्नि की तरह जलते हुए अपने सुनहले पंखों से वायु को धुनते हुए स्वर्ग में जाकर अमृत प्राप्त करते हैं। वैदिक परिभाषा में सूर्य की संज्ञा गरुत्मा सुपर्ण थी और पुराणों के अनुसार गरुड़ भी सुपर्ण है।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में—**एकःसुपर्णः स समुद्रमाविवेश**—इस मंत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—यह पुरुष समुद्र है, उसमें बसनेवाला प्राण सुपर्ण है (**पुरुषो वै समुद्रः प्राणो वै सुपर्णः**) गरुड़ पक्षिराज या खगेन्द्र हैं और सूर्य की भी संज्ञा खगेन्द्र है। 'ख' अर्थात् आकाश में चलनेवाले जो ग्रह-उपग्रह हैं, उनमें प्रधान या इन्द्र सूर्य हैं। ज्योतिष में ग्रहों को खेट या खग कहते हैं। सूर्य के सभी उत्तरायण और दक्षिणायण ये दो पक्ष हैं, अथवा संवत्सर-रूपी काल के जो सूर्य का रूप है, दो षण्मास दो पक्ष के समान हैं।

इस प्रकार भारतीय गाथा शास्त्र की यह प्राचीन मान्यता थी कि वैदिक अभिप्रायों को उपाख्यानों द्वारा उपबृंहित किया जाय। महाभारत में ही कहा गया है :

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

इतिहास और पुराण का उद्देश्य वैदिक अभिप्रायों की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत करना था। ऐसा करने के लिए पुराणकारों ने उपाख्यानों का ही आश्रय लिया। अनेक उपाख्यानों के मूल में वैदिक अर्थ बीज-रूप से छिपे हुए हैं। पुराणकारों की सर्वसम्मत शैली के अनुसार इन आख्यानों के क्रमशः प्रवर्द्धमान रूप भी हमें प्राप्त होते हैं। गरुड़ और लोमश देश और काल के प्रतीक हैं। इस प्रकरण में देवता और ऋषियों द्वारा आकाश-मार्ग को चीरकर उड़ने और गरजते हुए महाकाय गरुड़ की स्तुति एवं कद्रू द्वारा हरि-वाहन इन्द्र की स्तुति प्राचीन काव्यों की शक्ति से ओत-प्रोत है। इन्द्र का युग तो वैदिक काल की समाप्ति के साथ ही बीत चुका था :

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्॥ (ऋ० १०।१०३।१)

इस प्रकार की प्रदीप्त स्तुतियों के पात्र महान् इन्द्र पुराणों में अन्य प्रकार के देवता बन जाते हैं। फिर उनकी स्तुति के प्रसंग नहीं आते। अतएव महाभारत के इस इन्द्र-स्तोत्र में प्राचीन वैदिक शब्दों और अभिप्रायो की गूंज भली मालूम होती है

'हे नमुचि और बल का संहार करने वाले देव, हे सहस्राक्ष शचीपति, तुम्हें प्रणाम है। हे पुरन्दर, तुम प्रभूत जलों की सृष्टि करते हो। तुम्हीं मेघ, वायु और अम्बर में विद्युत अग्नि हो। तुम मेघों को उड़ाकर तितर-

वितर करनेवाले प्रभंजन और तुम्हीं घन-स्वरूप हो। तुम घोर वज्र और तुम्हीं घोषवान् बलाहक हो। तुम लोकों के स्रष्टा और अप्रतिहत संहर्ता हो। तुम सब भूतों में ज्योति हो। तुम्हीं आदित्य और अग्नि हो। तुम भुवन के मध्य में भरे हुए अद्भुत आश्चर्यकारी महत् यक्ष हो। तुम देवताओं में उत्तम, तुम्हीं विष्णु और तुम्हीं नारायण हो। तुम्हीं अमृत और तुम्हीं सोम हो। मुहूर्त्त, तिथि, लव, क्षण इत्यादि काल के रूप में तुम्हीं हो। शुक्ल और कृष्ण पक्ष, कला, काष्ठा, संवत्सर, ऋतु और मास, रजनी और दिन तुम्हारे ही रूप हैं। शैलकाननवती वसुन्धरा एवं भास्कर के प्रकाश से आलोकित अम्बर तुम्हीं हो। तिमि और तिमिंगिलों से एवं अनेक मकर और झषों से भरे हुए, महोर्मियों से युक्त महोदधि तुम्हीं हो। तुम्हारा ही नाम महत् यश है। अतएव मनीषी मुदितमना महर्षि सदा तुम्हारा पूजन करते हैं। अध्वरों में तुम सोम पान करते हो। वषट्कार का उच्चारण करके अर्पित की हुई हवियां तुम्हें ही प्राप्त होती हैं। विप्र लोग तुम्हारे लिए यजन करते हैं और वेदांग या यज्ञांगों में तुम्हारा ही गान होता है। यज्ञपरायण ऋत्विक् तुम्हारे ही निमित्त सब वेदों से यज्ञांगों का संकलन करते हैं।' (आदि० २१।७-१७)

इसी प्रकार कद्रू के स्तोत्र से प्रसन्न हुए हरिवाहन इन्द्र ने नील मेघों के समूह से व्योम को भर दिया और समस्त पृथिवी चारों ओर सलिल से भर गई। इसी गरुड़ोपाख्यान में एक अभिप्राय यह भी आया है कि तपोधन बालखिल्य मुनियों को गोष्पद-मात्र जल में डूबते-उतराते देखकर इन्द्र ने उनका उपहास किया। उससे उत्तप्त होकर उन मुनियों ने इन्द्र को नीचा दिखाने के लिए कश्यप और विनता से गरुड़ और उसके भाई अरुण को उत्पन्न किया। पीछे कश्यप के कहने से यह समझौता हुआ कि गरुड़ पक्षियों के इन्द्र होंगे और स्वर्ग के राजा इन्द्र उन्हें भाई मानेंगे। इन्द्र को समझाया गया कि उन्हें इस प्रकार ब्रह्मवादी ऋषियों की अवमानना न करनी चाहिए। स्वर्ग में अमृत के रक्षकों को परास्त कर गरुड़ अमृत का घट ले आये, और आकाश में विष्णु से उनकी भेंट हुई। अमृत ले आने पर भी गरुड़ ने स्वयं उसे जूठा नहीं किया, इससे विष्णु प्रसन्न हुए और उन्होंने गरुड़ से वर मांगने को कहा। गरुड़ ने दो वर मांगे—एक यह कि मैं अन्त-

रिक्ष में आपसे ऊपर रहूं और दूसरा यह कि अमृत के बिना भी मैं अजर-अमर बनूं। विष्णु से ये दो वर प्राप्त कर गरुड़ ने कहा, "मैं भी आपको वर देना चाहता हूं। आपको जो रुचे वह मांग लें।" तब विष्णु ने यह वर मांगा कि महाबली गरुड़ उनके वाहन हों, और गरुड़ के मांगे हुए वर को निभाने के लिए उन्होंने गरुड़ को अपने ध्वज पर स्थान दिया, जिससे विष्णु का ध्वज गरुड़-ध्वज नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नारायण और गरुड़ में यह बातचीत हो ही रही थी कि अमृत के चले जाने से खीझे हुए इन्द्र ने लपककर अपना वज्र गरुड़ पर चला दिया। गरुड़ ने हँसते हुए कहा, "हे इन्द्र, जिन दधीचि की हड्डियों से यह अस्त्र बना है, उन ऋषि का, वज्र का और हे शतक्रतु, तुम्हारा भी मैं मान करता हूं, किन्तु देखो, यह एक अपना पखना तुम्हारे सामने डालता हूं, इसका तुम अन्त पा जाओ तो जानूं। तुम्हारे इस वज्र की चोट से मुझे क्या पीड़ा होने वाली है!"

गरुड़ के उस सुन्दर और अद्भुत पंख को देखकर इन्द्र ने समझ लिया कि यह केवल पक्षी नहीं, यह तो महान् यक्ष है। चट् बात बदलकर इन्द्र ने कहा, "मैं तो केवल तुम्हारे बल की परीक्षा करता था। हे पक्षिराज! आओ, तुम्हारी-हमारी मित्रता हो।"

तब गरुड़ ने उत्तर दिया, "अपने गुणों का संकीर्तन किसीके लिए श्लाघनीय नहीं, किन्तु तुम सख्यभाव से पूछते हो तो तुम्हें सखा मानकर कहता हूं। पर्वत, वन और समुद्रों से भरी हुई पृथिवी को, और जितने भी स्थाणु और जंगम संपिण्डित लोक हैं, उन सबको अपने पंख की एक सींक से लेकर उड़ सकता हूं, और तुम भी चाहो तो उसके सहारे लटक सकते हो, ऐसा मेरा बल है।"

इतना सुनना था कि किरीटी देवन्द्र को तीन त्रिलोक ही दिखाई देने लगे और उसने तुरन्त गरुड़ से मैत्री जोड़कर याचना की, "आपको सोम से क्या प्रयोजन? कृपा करके मेरा सोम मुझे लौटा दें। आप जिन्हें इसे दे देंगे वे फिर मुझे बाधा पहुंचायंगे।"

गरुड़ ने कहा, "मैं अपनी माता को दास्य से छुड़ाने के लिए इस सोम को भूमंडल पर ले जा रहा हूं, किन्तु मैं तुम्हारी बात भी पूरी करूंगा। मैं

जहां इस सोम को रख दूं, वहां से तुम उसे ले जा सकते हो।"

ऐसा ही हुआ। गरुड़ ने जहां सोम रखा, वहां की घास अमृत के स्पर्श से पवित्र कुशा 'डाभ' बन गई। इन्द्र अपना सोम वापस ले गए और सोम के लोलुप नागों ने उस स्थान को चाटा तो उनके हाथ कुछ न लगा, केवल उनकी जिह्वाएं बीच से चिरकर दो हो गईं और वे भुजंग सदा के लिए प्रतापी गरुड़ के भक्ष्य बन कर रह गए।

सोम और अमृत, ये दोनों वैदिक आध्यात्मिक अभिप्राय थे। 'अमृत ही सोम है', 'प्राण सोम है', रेत सोम है', 'अन्न सोम है', 'औषधियों में रस सोम है', 'जल सोम है' इस प्रकार की अनेक परिभाषाएं ब्राह्मणों में मिलती हैं, जिनका मूल वेद में था। संसार में जो कुछ भी संशुद्ध, संयत और निर्मल या शुक्रिय शक्ति है, वह सोम है। मनुष्य शरीर में और ब्रह्मांड में सर्वत्र सोम का यह अभिषेक हो रहा है और यही अमृत-तत्त्व जीवन के मूल में प्राण बनकर उसका संवर्द्धन और पोषण कर रहा है। इस अमृत में प्रकाश की शक्तियों का भाग है, जिनके प्रतिनिधि गरुड़ हैं। तामसी या आसुरी वृत्तियां इस सोम को नहीं पातीं, यद्यपि सदा इसके लिए लालायित रहती हैं। सत्य, सोम, अमृत ये एक ओर हैं। इनके विपरीत, अनृत, सुरा और मृत्यु, दूसरी ओर है। दोनों में शाश्वत संघर्ष है। भारतवर्ष की प्रतीक-भाषा में गरुड़ प्रकाश या स्वर्ग की शक्तियों की संज्ञा है, और सर्प पृथिवी के भीतर छिपकर रेंगनेवाले प्राणों की संज्ञा हैं। इन दोनों का 'देवासुर संग्राम' सदा होता रहता है। जहां प्राण या जीवन है, वहीं यह संघर्ष भी है। अमृत का घट स्वर्गलोक में है। अमृत के इस घट को अथर्ववेद में हिरण्यमय कोष कहा है, जो इस शरीररूपी अयोध्यापुरी में निहित है :

अष्टाचक्रा नवाद्वारा देवानां पूरयोध्या।
अस्यां हिरण्ययो कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्व १०।२।३१)

शरीररूपी अयोध्यापुरी में मस्तिष्करूपी स्वर्ग है, उसी में हिरण्य का कोश या सोम और अमृत का घट है। ब्राह्मण-ग्रंथों में सोम को हिरण्य का पर्याय माना है। शुक्र और रेत भी सुवर्ण के पर्याय हैं। वैदिक अध्यात्म संकेतों के व्याख्यान ही पुराणों की कथाएं हैं।

इस सौपर्णाख्यान के अन्त में फलश्रुति का निम्नलिखित श्लोक मिलता है :

> इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा
> पठेद् वा द्विजजनमुख्यसंसदि ।
> असंशयं त्रिदिवमियात्स पुण्यभाक्
> महात्मनः पतंगपतेः प्रकीर्तनात् ॥
> (आदि० ३०।२७)

'जो व्यक्ति इस कथा को सुनेगा या जनसंसद में इसका पाठ करके दूसरों को सुनावेगा, वह पुण्यात्मा गरुड़ के चरित का कीर्तन करने से निश्चय स्वर्गलोक प्राप्त करेगा।'

यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणों की प्राचीन शैली के अनुसार यदि बीच में किसी कथा में फलश्रुति पाई जाय तो अवश्य ही वह प्रकरण या उतना अंश मूल ग्रंथ में बाद में जोड़ा हुआ समझना चाहिए। ऐतिहासिक और पौराणिक आचार्य अपने शास्त्रों का उपबृंहण करने के लिए समय-समय पर मूल ग्रंथों में अनेक उपाख्यान एवं धार्मिक और नैतिक विषय जोड़ते रहते थे। इस समय हम उसे प्रक्षेप कहकर अच्छा नहीं समझते, किन्तु प्राचीन ग्रंथों के प्रति संस्कृत रूप की वह मान्य पद्धति थी। इस प्रकार बढ़ाये जानेवाले प्रसंगों को मूलग्रंथ में जोड़ते हुए भी उनमें कोई ऐसी पहचान प्रायः रख दी जाती थी, जिससे वे अलग जाने जा सकें। फलश्रुति इस प्रकार की एक प्रधान युक्ति थी। इस गरुड़ोपाख्यान से यह भी स्पष्ट होता है कि मूल वैदिक देव इन्द्र के स्थान में नारायण-विष्णु की उपासना महाभारत-काल में प्रचलित होने लगी थी। विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई उपेन्द्र और उनके वाहन गरुड़ को भी इन्द्र का भाई मानकर एक प्रकार से इन्द्र, विष्णु और गरुड़ इन तीनों में समन्वय स्थापित किया गया।

जनमेजय का सर्प-सत्र

आस्तीक-पर्व के शेषांश (आदि० ३१-५३) में सर्प या नाग-संबंधी बहुत-सी सामग्री देते हुए परीक्षित का उपाख्यान और जनमेजय का सर्प-

सत्र वर्णित किया गया है। परीक्षित को शाप लगा और तक्षक के डसने से उनकी मृत्यु हुई। फिर जनमेजय राज्यासन पर बैठे और उन्होंने सर्प-सत्र की आयोजना की। अध्याय ३१ में और पुनः अध्याय ५२ में अनेक नागों के नाम आये हैं। वासुकि, तक्षक, ऐरावत और धृतराष्ट्र इन प्रधान नागों के कुलों में उत्पन्न अनेक नामों की वर्गीकृत नामावली महाभारत में पाई जाती है।

प्राचीन भारत में नाग-पूजा का बहुत अधिक प्रचार था। अनेक स्थानों में नागों के थान बने हुए थे, विशेषतः जलाशयों के निकट नागों की स्थापना की जाती थी। कुषाण-काल तक भी नाग-पूजा का अत्यधिक प्रचार पाया जाता है। उसके पुरातत्त्वगत प्रमाण मथुरा की शिल्पकला में तथा अन्यत्र भी पाये गए हैं। भरहुत के स्तूप से प्राप्त शिलापट्ट पर एक दृश्य अंकित है, जिसमें एलापत नागराज भगवान बुद्ध के बोधिमण्ड के सामने सिर झुकाकर वन्दना कर रहा है। महाभारत की सूची में भी ऐरावत नागराज का उल्लेख है। राजगृह में मणिनाग का बड़ा पूजा-स्थान था, जिसका उल्लेख वन-पर्व के तीर्थयात्रा-पर्व में आया है। पुरातत्त्व की खुदाई में भी राजगृह के मणियार मठ नामक स्थान में शिलालेख पर मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनसे नागमणि की पूजा वहां सिद्ध होती है। उस मणिनाग का उल्लेख भी इस सूची (३१।६) में आया है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य के 'चतुर महाराज' नामक चार लोकपालों में स्थान पानेवाले धृतराष्ट्र नामक देवता की भी गणना इस सूची में है।

नागों के अनेक स्थानों और मन्दिरों का उल्लेख प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी आता है। परीक्षित जनमेजय की कथा में नागों से संबंधित कुछ प्राचीन विश्वास और कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का सम्मिलन हुआ है। बहुत संभव है कि नाग नामक जाति के साथ, जिनकी एक राजधानी तक्षशिला में थी, जनमेजय का संघर्ष हुआ, क्योंकि इसी आदिपर्व के आस्तीक-उपाख्यान में स्पष्ट लिखा है कि जनमेजय ने तक्षशिला पर चढ़ाई करके वहां नागों को परास्त किया और विजयी होकर हस्तिनापुर लौटे। तदनन्तर उत्तंक द्वारा उत्तेजन पाकर उन्होंने नागों से वैर शोधने का निश्चय किया, जिसका मुख्य कारण तक्षक द्वारा उनके पिता परीक्षित की मृत्यु थी। भार-

तीय गाथा-शास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, लोकवार्त्ता और आध्यात्मिक प्रतीक शास्त्र, इन सबमें प्राचीन भारतीय नाग-पूजा और सर्पों से संबंधित सामग्री पाई जाती है, जिसके एकत्र अध्ययन की और उसके द्वारा अनेक मिले-जुले तारों को सुलझाने की आवश्यकता है।

इस प्रकरण की कथा में कहा गया है कि व्रतधारी यायावर ऋषियों के कुल में जरत्कारु नामक ऋषि हुआ, जिसने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की। पृथिवी पर विचरते हुए एक स्थान पर उसने अपने पितरों को किसी वृक्ष की शाखा से लटकते हुए देखा। उस शाखा को एक मूषक काट रहा था। जरत्कारु ने पास जाकर पूछा, "यह क्या है ?" तब उन मुनियों ने कहा, "हम तुम्हारे पूर्वज यायावर ऋषि हैं, तुम्हारे गृहस्थ-धर्म न करने से इस दशा को प्राप्त हुए हैं। यह कालरूपी मूषक हमारे कुल-तन्तुओं को काट रहा है। उसका मूल भी इसने आधा खा लिया है। अतएव हे जरत्कारु, तुम तप की बुद्धि छोड़ो, नहीं तो नरक में पड़ोगे। यहां हम और तुम्हारे पूर्व पितामह पड़े हैं। तप या यज्ञ अथवा और भी जो पावन वस्तुएं हैं, वे सब मिलकर भी अकेली संतान के तुल्य नहीं हैं, ऐसा सज्जनों का मत है। अतएव तुम विवाह करके पुत्रोत्पादन करो।"

यह सुनकर जरत्कारु बड़ा दुःखी हुआ और उसने कहा, "अच्छा, मैं अपना पहला विचार छोड़कर विवाह कर लूंगा, यदि मुझे मेरे ही नामवाली कोई कन्या मिलेगी।"

वासुकि नाग की जरत्कारु नामक कन्या से मुनि जरत्कारु का विवाह हुआ और उससे आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी आस्तीक ने मातृ-कुल के पक्षपात से जनमेजय के नागयज्ञ में जाकर उसके सर्प-सत्र को समाप्त कराया। इस आस्तीक-उपाख्यान के अन्त में भी फलश्रुति पाई जाती है जिससे इसका भी महाभारत के संकलन में जोड़ा जाना स्पष्ट ज्ञात होता है।

स्वयं शौनक आस्तीक-चरित्र सुनने के बाद कहते हैं, "हे सूतजी, यहां तक तो तुमने मेरी प्रार्थना पर भृगुवंश के आख्यान से आरम्भ करके इतनी कथा कही। अब जो व्यासजी की कही हुई कथा है, उसे सुनाओ।" इसके उत्तर में सूतजी ने कहा, "व्यासजी ने जो महत् भारत-आख्यान कहा था, जो उन पुण्यात्मा महर्षि के मन-रूपी समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुआ था,

उसे मैं तुमसे कहता हूं।"

आस्तीक के चरित में यायावर मुनियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। ज्ञात होता है कि पूर्व काल में यायावर नामक ऋषि कठोर व्रतों का आचरण करते हुए गृहस्थाश्रम और सन्तानोत्पत्ति से पराङ्मुख होकर विचरते थे:

यायावरा नाम वयं मुनयः शंसितव्रताः।
लोकात्पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयाद् विभो॥
(आदि० ४१।१६)

इन्हींके कुल में जरत्कारु हुए, जिन्होंने कुल की महिमा को पुनः प्रतिष्ठापित किया और विवाह द्वारा कुलतन्तु-संवर्द्धन-रूपी धर्म की ओर यायावर-संप्रदाय की प्रवृति कराई। बौधायन धर्मसूत्र (२४-३१) में यायावर ऋषियों का उल्लेख है कि वे रास्ते में ही चलते-चलते ठहर जाते थे और वहीं पर अग्नि-होत्र आदि क्रियाएं पूरी करते थे।

इस वर्णन से ऐसा लगता है कि यायावर मुनि अपने छकड़ों पर ही अपना सामान लादकर सदा फिरन्दरों की भांति एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाऊ-चूल्हा जीवन व्यतीत करते थे। ये ही पीछे वैखानस-धर्म के अनुयायी हुए। वैखानस शब्द में ही यह संकेत है कि इनके छकड़ों में पहिया और धुरा एक में ठोस मिला रहता था और धुरे पर पहिया घूमने की बजाय पहिया धुरे को साथ लेकर घूमता था। इसी कारण इनके पहियों में 'ख' या 'छिद्र' नहीं होता था, जैसा दूसरे पहियों में पाया जाता है, अर्थात इनके पहियों में अरे ठुके हुए नहीं होते थे, अपितु पहिये ठोस लकड़ी के बनाये जाते थे। फिर यायावर लोग 'शालीन' कहलाने लगे, क्योंकि उन्होंने 'शाला' या घर बनाकर रहना आरम्भ कर दिया (बौधायन धर्मसूत्र ३।१।३-४)।

महाभारत के इसी प्रकरण से ज्ञात होता है कि यायावर ऋषियों का विशेष आग्रह कुल की संस्कृति, कुल की अभिवृद्धि और कुल की स्थापना पर था (आदि० ४१।२१-२२)। शौनक भी कुलपति थे, जिन्होंने नैमिषारण्य के जंगल में अपने कुलों की एक बस्ती बना रखी थी। बहुत संभव है कि इसी कारण यायावर ऋषियों के कुलवर्द्धक आस्तीक का चरित कुलपति शौनक ने विशेष रूप से सुनने की इच्छा प्रकट की।

इसके उपरान्त कथाकार की कल्पना के अनुसार व्यासजी स्वयं जनमेजय के सर्प-सत्र में पधारते हैं, और जनमेजय उनसे अपने प्रपितामह कुरु और पांडवों के चरित सुनाने की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि व्यासजी उन घटनाओं के स्वयं द्रष्टा थे; किन्तु एक ही श्लोक कह कर पास बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायन को कथा सुनाने की आज्ञा देकर व्यासजी वहां से चले गए, "कौरवों और पांडवों का पूर्व काल में जैसा युद्ध हुआ और तुमने जैसा मुझसे सुना है, सब सुनाओ।" अपने गुरु की यह आज्ञा शिरोधार्य कर वैशम्पायन ने सब पुरातन इतिहास राजा जनमेजय, उनकी सभा के सदस्यों और सब क्षत्रियों से कहना आरम्भ किया।

४ :: शकुन्तलोपाख्यान

महाभारत के वर्तमान रूप में जो अठारह पर्व हैं, उनमें १९४८ अध्याय हैं। उनके लगभग आधे अर्थात् एक सहस्र अध्यायों में कुरु-पांडवों के पारस्परिक भेद और युद्ध की कथा है। राज्य के लिए उन महावीर क्षत्रियों का एक-दूसरे के हाथों जो शोचनीय विनाश हुआ, उसके रूखे निष्करुण साहित्यिक बोझे को इस देश की अध्यात्म भावना किस प्रकार सह पाती, यदि मनीषी वेदव्यास ने नीति और धर्म के अनेक प्रसंग, दर्शन और अध्यात्म के तेजस्वी प्रकरण, देवता और ऋषियों के चरित्र, पुराण राजर्षियों के वंशानुचरित, लौकिक वैदिक उपाख्यान, भुवनकोश, तीर्थ-यात्रा, इतिहास और पुराणों की अनेकविध लोकव्यापी सामग्री से उसे इस प्रकार संवारकर धर्म-संहिता का रूप प्रदान न कर दिया होता। महाभारत के लगभग एक सहस्र अध्याय इस प्रकार की सामग्री से समृद्ध हैं। किसी कुशल वास्तुविद्याचार्य की भांति मेधावी द्वैपायन मुनि ने इस सामग्री को आदि से अन्त तक ग्रंथ के समग्र रूप में संजो दिया है। चलते हुए कथा-प्रवाह के बीच में महान् उपाख्यान पर्वत-शृंगों के समान सिर ऊंचा किये खड़े हैं। इसी प्रकार यत्र-तत्र धर्म और अध्यात्म के पवित्र सरोवर इस महती संहिता में भरे हुए मिलते हैं, जिनके तीर्थों में अवगाहन करके मन

नवीन प्रज्ञा से विकसित और प्रफुल्लित हो जाता है। महाभारत के अष्टादश पर्वों की कथा का सिंहावलोकन करते हुए इस प्रकार के पुण्य स्थलों का विशेष रस लेते हुए आगे बढ़ना होगा।

महाभारत के आदि-पर्वसंज्ञक प्रथम पर्व में अनुक्रमणी और पर्व-संग्रह पर्व के अनन्तर पौष्य-उपाख्यान, उसी के अन्तर्गत उत्तंक-उपाख्यान, पौलोम-पर्व, रुरु और प्रमद्वरा का उपाख्यान, आस्तीक-जन्म-कथा, अमृत-मंथन, सौपर्ण-उपाख्यान, जनमेजय का सर्प-सूत्र और तक्षक-मोक्ष, इतनी कथाएं भूमिकारूप में कही गई हैं। इसके अनन्तर कुरु-पांडव-चरित्र का आरम्भ होता है। उसमें पहला आदिवंशावतरण-पर्व (अ० ५७-६१) है: इसके आरम्भ में चेदि देश के राजा वसु उपरिचर की कहानी है। राजा वसु वैरागी बनकर आश्रम में तप करने लगे और क्षत्रियोचित अस्त्रों को उन्होंने त्याग दिया। तब इन्द्र ने साक्षात् उपस्थित होकर उन्हें समझाया:

"हे पृथिवीपति, पृथिवी के योग्य यह धर्म नहीं है। तुम उस धर्म की रक्षा करो, जिसके धारण करने से इस जगत को धारण किया जा सकता है। वही लोक का कल्याण करनेवाला लोक्य-धर्म है। उसमें सावधान होकर अपना मन लगाओ। पृथिवी पर उस धर्म से युक्त होगे तो द्युलोक से मैं पृथिवी पर स्थित तुम्हें अपना प्रिय सखा मानूंगा। तुम नर्मदा से सिंचित उस चेदि जनपद में निवास करो, जो पृथिवी का दूध से भरा हुआ स्तन है और जो पशु, धन-धान्य और रत्नों से पूर्ण है। वहां के मनुष्य धर्मशील और साधु हैं। वहां हँसी में भी कोई झूठ नहीं बोलता। चेदि जनपद में वसुधा वसु से पूर्ण है, सब वर्ण स्वधर्म में स्थित हैं और भूमि के जितने योग्य गुण हैं, वे सब वहां विद्यमान हैं। मैं तुम्हें स्फटिक का बना हुआ आकाशचारी एक विमान देता हूं, जिसके कारण तुम शरीरधारी देवता की भांति सर्वत्र विचरोगे। दूसरे, मैं तुम्हें वैजयन्ती माला देता हूं, जिसके कमल कभी मुरझाते नहीं। इस इन्द्रमाला को धारण करने पर कोई भी संग्राम में तुम्हें शस्त्रों से न जीत सकेगा।"

इन्द्रध्वज-महोत्सव

इस प्रकार प्रसन्न होकर इन्द्र ने उपरिचर राजा को एक तीसरी वस्तु

और दी, जिसे वैणवी यष्टि या इन्द्रध्वज कहा गया है। राजा वसु ने उस इन्द्र-यष्टि को एक वर्ष बीतने पर विधि-विधान से पृथिवी पर सीधा खड़ा कर दिया और तब से आज तक प्रत्येक जनपद में प्रति वर्ष उस इन्द्र-यष्टि का पूजन किया जाता है। पहले दिन संध्या को जंगल में जाकर एक महावृक्ष चुन लेते हैं और उसमें से काटकर बत्तीस हाथ या अड़तालीस फुट लम्बी यष्टि तैयार करते हैं। अगले दिन वह ऊंची लाट अनेक भांति से अलंकृत और गंधमालाओं से विभूषित करके पृथिवी पर सीधी खड़ी की जाती है और समस्त जनपद महोत्सव मनाता है, जिसे कुरु जनपद (मेरठ जिले) में आज तक 'इंदर का जग्य' कहा जाता है। यह इन्द्र-यष्टि क्या है ?

भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः।

(आदि० ५७।११)

यह इंद्र-यष्टि भगवान शंकर के हास्य का रूप है। समस्त जनपद के जीवन का जो मग्नानन्दी पक्ष है, उसका प्रतीक यह इन्द्र-यष्टि थी। आबाल-वृद्ध-वनिता सब हँसमुख जीवन व्यतीत करते हुए नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद और उत्सव की प्रवृत्ति से फूलते-फलते जनपदीय जीवन का जो रूप प्रस्तुत करते हैं, उसका सर्वोत्तम चिह्न इन्द्र-ध्वज या इन्द्र-यष्टि पूजन था। इस उत्सव को 'इन्द्रमह' भी कहते थे। यह आर्य जाति का अत्यन्त प्राचीन महोत्सव था। प्राचीन लोकवार्त्ता-शास्त्र के विद्वान यूरोप में 'मेपोल' नामक उत्सव को इसी इंद्र-यष्टि पूजन का प्रतिरूप मानते हैं। उसमें और भारतीय इन्द्रमह में विशेष साम्य है। वृक्ष-मह, यक्ष-मह, नदी-मह, गिरि-मह, इन्द्र-मह, धनुष-मह, ये भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्सव प्राचीन काल में प्रचलित थे। मथुरा में कृष्ण के गोवर्द्धन-धारण की जो कथा है, उसके मूल में यही बात है कि इन्द्रमह-उत्सव का निराकरण करके गिरिमह नामक उत्सव का कृष्ण ने व्रज में विधान किया।

महात्मा वसु की प्रेमपूर्वक की हुई पूजा से इन्द्र प्रसन्न हुए और बोले :

"जो मनुष्य और राजा मुदित होकर इस इन्द्र-यष्टि का पूजन करेंगे और इन्द्रमह उत्सव मनावेंगे, उनके राष्ट्र में श्रीलक्ष्मी और विजयलक्ष्मी का निवास होगा और समस्त जनपद सब भांति प्रसन्न रहेगा।"

वेदव्यास का जन्म

राजा वसु के पांच महाबलशाली पुत्र हुए, जिन्होंने पांच देश और नगर बसाये। वसु के राज्य में कोलाहल नामक पर्वत से निकलकर शुक्तिमती (वर्तमान केन) नदी बहती थी। राजा वसु से ही सत्यवती नाम की एक कन्या यमुना-प्रदेश में उत्पन्न हुई, जिसका नाम मत्स्य-गन्धा भी था। राजा ने प्रति-पालन के लिए उस कन्या को यमुना-तीरवासी धीवर राज को सौंप दिया। जब वह रूप-यौवन संपन्न हुई तब नाव चलाते समय उसके घाट पर तीर्थयात्रा के लिए निकले हुए पराशर ऋषि आ पहुंचे और उसपर मोहित हो गए। ऋषि के संसर्ग से सत्यवती ने गर्भ धारण किया और यमुना के बीच में स्थित द्वीप में पराशर के पुत्र द्वैपायन व्यास को जन्म दिया। काला वर्ण होने के कारण उनका जन्मनाम कृष्ण था। इस प्रकार महाभारत के काल में दो कृष्ण थे। एक देवकीपुत्र वार्ष्णेय वासुदेव कृष्ण और दूसरे सत्यवतीपुत्र द्वैपायन पाराशर्य कृष्ण, जिन्होंने आगे चलकर वेद की संहिताओं का विभाग किया और जो वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं कृष्ण से निर्मित होने के कारण महाभारत को 'कार्ष्ण वेद' भी कहा गया है। भारतीय साहित्य के इतिहास में वेदव्यास ने सचमुच अद्भुत कार्य किया। वेद और लोक की जितनी कविता उस समय तक विरचित हुई थी, उस सबके संग्रह का श्रेय व्यास को है। उन्होंने अपने उस संग्रह या संहिता को पांच शिष्यों को पढ़ाया। पैल को ऋग्वेद, जैमिनि को सामवेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, सुमन्तु को अथर्ववेद, और इन चारों से अतिरिक्त जो पांचवां वेद महाभारत था, उसे अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। इनमें से प्रत्येक ने इस प्रकार प्राप्त उस साहित्य के उत्तरदायित्त्व को पूरा करने के लिए अपने विषय की पृथक-पृथक संहिताएं बनाईं। उन्हीं पांच मूल संहिताओं से चारों वेद और पांचवां इतिहास-पुराण प्राचीन भारतीय वाङ्मय में और लोक में वृद्धि और प्रचार को प्राप्त हुआ। अपरिमित लोक साहित्य और ऋषि परिवारों में प्रणीत विशाल वैदिक साहित्य के संरक्षण और पारस्परिक समन्वय का श्रेय द्वैपायन वेदव्यास को है। भारतीय वाङ्मय के सुदीर्घ इतिहास में लोक-संस्कृति और वेद-संस्कृति के

समन्वय का जैसा विलक्षण कार्य व्यास ने किया, वह अनुपम, अपरिमित और महाफल देनेवाला हुआ।

अंशावतरण पर्व के शेष भाग में कुरु-पांडव वीरों के और उनके समकालीन अनेक राजाओं के जन्मों का उल्लेख है। इस सारे प्रकरण की कल्पना अवतारवाद के सिद्धांत को मान कर हुई है। कौन किसका अवतार है, यही इस वर्णन में ढूंढ़-ढूंढ़कर बताया गया है। यह प्रकरण पंचरात्रों द्वारा अवतारवाद की कल्पना परिपक्व होने पर जोड़ा गया प्रतीत होता है। इसीमें वह प्रसंग भी मिलता है, जिसमें पाप के भार से आर्त्त पृथिवी वैकुण्ठ में नारायण के पास जाकर प्रार्थना करती है कि वह अवतार लें। विष्णु इसे स्वीकार करते हैं। अवश्य ही इस प्रकार की कल्पना वैदिक या ब्राह्मण-साहित्य का अंग न थी। अनेक देवता, असुर, दानव, नाग, सुपर्ण, गन्धर्व आदि के जन्म के पौराणिक आख्यान एवं ब्रह्मा के मानस-पुत्रों की एवं दक्ष की पचास पुत्रियों से अनेक प्रकार की संतति उत्पन्न होने का भी इसमें वर्णन है, जिसपर पुराण-शैली की छाप है और यह उसी टकसाल की उपज जान पड़ती है। वस्तुतः अंशावतरण-पर्व का बहुत ही थोड़ा भाग मूल महाभारत का अंश माना जा सकता है। द्रोण बृहस्पति के अंश से उत्पन्न हुए, अश्वत्थामा महादेव और यम के अंशों के एकत्र मिलने से, कृपाचार्य एकादश रुद्रों के गण से, शकुनि द्वापर से और सात्यकि मरुतों से उत्पन्न हुए।

इस शैली में महाभारत के योद्धाओं के जन्म की अतिमानवी कल्पना इस प्रकरण में पाई जाती है :

इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा।
अंशावतरणं राजन् राक्षसानां च कीर्तितम्॥

इस प्रकरण के अन्त में फलश्रुति दी हुई है, जो इस बात की सम्भव पहचान है कि वह अंश मूलग्रंथ में पीछे से जोड़ा गया।

शकुन्तलोपाख्यान

इसके बाद संभव-पर्व की कथा शुरू होती है, जिसमें शकुन्तलोपाख्यान और ययाति-उपाख्यान हैं। कुरु-पाण्डवों के पूर्व पुरुष भरत के जन्म की

कथा को आवश्यक रीति से महाभारत, में स्थान मिलना चाहिए था। जनमेजय ने कहा, "ब्रह्मन्, आपसे अंशावतरण सुनने के बाद अब मैं यह जानना चाहता हूं कि कुरुओं के वंश का आरम्भ कैसे हुआ?" इसके उत्तर में वैशम्पायन ने शाकुन्तल-उपाख्यान का वर्णन किया।

पौरवों में वंशकर्त्ता दुःषन्त वीर्यवान राजा थे, जो चतुरन्त पृथिवी के गौरव और आटविक राज्यों एवं रत्नाकर समुद्र के भी शासक थे। उस जनपदेश्वर के राज्य में कोई पापकृत् नहीं था। धर्म में रति रखनेवाले जनों को धन और अर्थ की प्राप्ति होती थी। चोर, क्षुधा और व्याधि का भय उसके जनपद में न था। पर्जन्य समय पर बरसते थे और पृथिवी सस्यों से फलवती होती थी। वसुधा पर सब रत्नों की समृद्धि थी। उस महीपाल के राज्य से पुर और राष्ट्र प्रसन्न थे।

एक बार वह महाबाहु आखेट के लिए गहन वन में गया। वहां अनेक प्रकार से मृगया-विनोद के अनन्तर उसने मालिनी नदी के तट पर बसा हुआ तपोधन महर्षि कण्व का सुन्दर आश्रम देखा। राजा ने सेना तो बाहर वन के द्वार पर छोड़ दी और स्वयं राजचिह्नों को उतारकर मंत्रि-पुरोहितों के साथ आश्रम में प्रवेश किया। वह आश्रम ब्रह्मलोक के समान वेद की ध्वनियों से गूंज रहा था। थोड़ी दूर चलकर राजा ने मंत्रियों को भी पीछे छोड़ दिया और उस शून्य आश्रम में ऋषि का दर्शन न पाकर वन को गुंजाते हुए पुकार कर कहा, "यहां कौन है?"

उसका यह शब्द सुनकर श्रीलक्ष्मी के समान रूपवती एक कन्या तापसी के वेश में सामने आई। उसने राजा को देखकर उसका स्वागत किया, आसन, पाद्य, अर्घ्य आदि देकर कुशल पूछी और प्रसन्न होकर कार्य के विषय में प्रश्न किया। राजा ने उत्तर दिया, "मैं महाभाग कण्व का समादर करने आया हूं। हे भद्रे, वह कहां गए हैं? कहो।"

यह कन्या शकुन्तला ही थी। उसने कहा, "मेरे पिता फल लेने के लिए वन में गए हैं। एक मुहूर्त तक प्रतीक्षा कीजिए, तब उनसे भेंट होगी।"

उस कन्या की रूप शोभा देखकर राजा ने प्रश्न किया, "हे सुन्दरी, तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? किस कारण वन में रहती हो? तुम्हारे दर्शन से मेरा मन खो गया है। तुम्हारे विषय में मैं अधिक जानना चाहता

हूं।"

उस एकान्त आश्रम में राजा की यह बात सुनकर वह कन्या हंसी और बोली, "हे दुःषन्त, मुझे भगवान् कण्व की पुत्री कहते हैं।"

राजा ने कहा, "महाभाग कण्व तो ऊर्ध्वरेत प्रसिद्ध हैं। चाहे स्वयं धर्म अपने आचार से विचलित हो जाय, पर कठोरव्रती कण्व चलित नहीं हो सकते। तुम उनकी पुत्री कैसे हो सकती हो ? मुझे इसमें संशय है !"

शकुन्तला ने उत्तर दिया, "मैंने जैसा सुना है, कहती हूं। किसी ऋषि ने आकर मेरे जन्म के विषय में पूछा था। उसे भगवान् कण्व ने जो बताया, वह सुनो। पूर्व समय में विश्वामित्र ने महान तप किया। इन्द्र को आशंका हुई कि कहीं तप से दीप्तवीर्य वह मुनि उसे अपने स्थान से च्युत न कर दें। डरकर इन्द्र ने मेनका को आज्ञा दी, 'जाओ और अपने रूप यौवन की चेष्टाओं से इस मुनि को लुभाकर तप से निवृत्त करो।'

"मेनका सोचने लगी कि महाक्रोधी और महातपस्वी विश्वामित्र वही हैं, जिन्होंने वसिष्ठ को भी कष्ट दिया था, जिन्होंने क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर हठात् ब्राह्मण-पद प्राप्त किया था, जिन्होंने कौशिकी नदी के तीर पर अपना आश्रम बनाया था, जिन्होंने क्रुद्ध होकर नई सृष्टि की रचना करते हुए श्रवणादि नक्षत्रों का नया चक्र ही बना डाला था। ऐसे उग्रकर्मा विश्वामित्र से मुझे भय है, किन्तु हे देवराज, मन्मथ कामदेव को मेरा सहायक बनाओ और वन को वसन्त की सुरभित वायु से भर दो। वह वायु मेरे वस्त्रों को उड़ाती हुई मेरी सहायता करे। मैं जाऊंगी और तुम्हारा कार्य करूंगी।' उसके उपस्थित होने पर विश्वामित्र रूप से काम के वशीभूत हो गए। उनके चिरकाल रमण से मेनका ने शकुन्तला को जन्म दिया। मेनका उस बालिका को मालिनी नदी के किनारे हिमालय के रमणीय प्रस्थ पर छोड़कर चली गई। तब शकुन्तों (पक्षियों) ने उसकी रक्षा की। कण्व ने उसे निर्जन विपिन में पक्षियों से घिरी हुई देखकर अपने आश्रम में लाकर पुत्री की तरह पाला और शकुन्तला नाम रखा। इस प्रकार पिता कण्व ने उन महर्षि से मेरे जन्म की कथा कही थी। मैं अपने पिता के विषय में कुछ नहीं जानती और कण्व को ही अपना पिता मानती हूं।"

यह सुनकर दुःषन्त ने सहसा यह प्रस्ताव किया, "हे सुन्दरी, तुम मेरी

भार्या बन जाओ। मैं सारा राज्य तुम पर न्योछावर करता हूं। तुम मेरे साथ गांधर्व विवाह करो, जो सब विवाहों में श्रेष्ठ कहा जाता है।"

शकुन्तला ने कहा, "हे राजन, मेरे पिता आश्रम से बाहर फल लेने गए हैं, तुम मुहूर्त भर ठहरो। वही आकर मुझे प्रदान करेंगे।"

किन्तु दुःषन्त को इतना धैर्य न हुआ। उसने कहा, "मैं चाहता हूं, तुम मुझे अभी स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिए ही ठहरा हूं। मेरा मन तुमसे अनुरक्त हो गया है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, आत्मा ही आत्मा की गति है, तुम अपने आप अपना दान कर सकती हो। यह धर्म के अनुकूल है। मैं सकाम हूं, तुम भी सकामा हो, मेरे साथ गांधर्व विवाह करने के योग्य हो।"

यह सुनकर शकुन्तला ने उत्तर दिया, "हे पौरव, यदि यही धर्म का मार्ग है, यदि मैं स्वयं अपना प्रदान करने में सक्षम हूं, तो मेरी एक शर्त सुनो और मेरे साथ प्रतिज्ञा करो कि मेरा जो पुत्र होगा, वही तुम्हारे अनन्तर युवराज बनेगा।"

दुःषन्त ने बिना विचारे यह बात मान ली और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अपने नगर में ले चलूंगा। यह कहकर उसने विधिवत शकुन्तला के साथ विवाह किया और कुछ समय के उपरान्त उसे आश्वासन देकर कि तुम्हारे लाने के लिए अपनी चतुरंगिणी सेना भेजूंगा, वह वहांसे अपने नगर की ओर चला गया; पर मन में वह सोचता था कि न जाने तपस्वी कण्व यह सब सुनकर क्या करेंगे।

मुहूर्त भर बाद कण्व आश्रम में लौट आये। लज्जावश शकुन्तला उनके सामने न जा सकी, परन्तु कण्व ने सब जान लिया। वह सोच-समझकर बोले, "तुम राजवंश की हो। मुझसे बिना पूछे तुमने आज जो संबंध किया है, वह धर्म का विघातक नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिए गांधर्व विवाह श्रेष्ठ कहा गया है। सकाम पुरुष के साथ सकामा स्त्री एकान्त में मंत्रों के बिना वैसा सम्बन्ध करती है। वह दुःषन्त तो धर्मात्मा और महात्मा है, जिसे तुमने अपना पति चुना है। तुम्हारी कोख से जो महात्मा पुरुष जन्म लेगा वह उस समग्र महापृथिवी का भोग करेगा, जिसके दोनों ओर दो समुद्र चितवनों के समान हैं। उसका अप्रतिहत-चक्र पृथिवी पर फैलेगा और वह चक्रवर्ती कहलायेगा।"

यह सुनकर शकुन्तला ने कण्व के चरण धोये और नम्रतापूर्वक कहा, "हे पिता, मैंने जिस दुःषन्त को अपना पति चुन लिया है, उसके ऊपर आप प्रसन्न हों।"

दुःषन्त की विस्मृति

इस प्रकार हम देखते हैं कि शकुन्तला के उपाख्यान का यह पूर्व भाग कालिदास के शाकुन्तल उपाख्यान से लगभग मिलता है और कुछ अंशों में भिन्न भी है, क्योंकि कालिदास ने कवि की दृष्टि से अपने कथानक को अधिक संयत और परिमार्जित बनाया है। शकुन्तला को वचन देकर दुःषन्त के चले जाने पर भरत का जन्म हुआ। उसका जन्म-नाम सर्वदमन रखा गया। जब वह बड़ा हुआ तब कण्व ने शकुन्तला से कहा कि अब इसके यौव-राज्य का समय आ गया है, और अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि शकुन्तला को पति के पास शीघ्र ले जाओ!

इस प्रकार शकुन्तला ने हस्तिनापुर में राजा के सामने उपस्थित होकर भरत को सामने करते हुए निवेदन किया, "हे राजन्, यह आपका पुत्र है, इसका यौवराज्य-पद पर अभिषेक कीजिए, जैसा कि आपने कण्व के आश्रम में मेरे साथ समागम होने पर वचन दिया था।"

उसकी यह बात सुनकर दुःषन्त ने उस प्रसंग का स्मरण रहते हुए भी कहा, "हे दुष्ट तापसी, तेरे साथ मेरा धर्म या काम का कोई संबंध हुआ हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं। तू यहां ठहर या जहां मन हो चली जा अथवा जो इच्छा हो, कर।"

इतना सुनना था कि मनस्विनी शकुन्तला लज्जा से विजड़ित और दुःख से मानो भूमि में गड़ गई। क्रोध से उसके नेत्र लाल हो गए और होठ फड़कने लगे। उसके नेत्रों से चिनगारियां निकलने लगीं। उसने राजा की ओर देखा और अपने क्रोध को छिपाते हुए कहा, "हे महाराज, सबकुछ जानकर भी अनजान की तरह से आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, मानो कोई साधारण व्यक्ति हो? इस विषय में सच और झूठ का साक्षी आपका हृदय है। जो एक प्रकार हुई बात को दूसरी प्रकार से कहता है वह चोर और पापी है।" यह कहते-कहते शकुन्तला आवेश में आ गई और बोली, "अब

तुम अपने को अकेला मानते हो। क्या तुम्हें हृदय में रहनेवाले उस पुराण-मुनि कामका स्मरण नहीं रहा, जो सबके पाप-कर्म को जानता है। मैं स्वय तुम्हारे पास आई हूं, यह जानकर मुझ पतिव्रता का अपमान मत करो। अर्घ्य की पात्र भार्या का सम्मान न करके उलटे तुम सभा में उसकी उपेक्षा करते हो, यह उचित नहीं। मैं कुछ शून्य में रुदन नहीं कर रही; क्या तुम मेरी बात नहीं सुन रहे ? यदि याचना करती हुई मेरे वचन के अनुसार तुम न करोगे तो हे दुःषन्त, तुम्हारा मस्तक सौ टुकड़े होकर उड़ जायगा। पति भार्या में प्रविष्ट होकर स्वयं पुत्र रूप में जन्म लेता है। पुरानेकवियों के अनुसार यही जाया का जायात्व है। भार्या मनुष्य का आधा भाग है, भार्या श्रेष्ठतम सखा है, भार्या त्रिवर्ग का मूल है, भार्या के साथ ही गृहमेधी लोग क्रियावान बनते हैं। जो भार्यावान हैं, उन्हींके जीवन में आमोद-प्रमोद हैं। प्रियवादिनी भार्या एकान्त में मित्र, दुःख में माता और धर्म-कार्यों में पिता होती है। यदि साथ में स्त्री है तो मार्गस्थ मनुष्य को जंगल में भी विश्राम मिलता है। हे राजन्, इस कारण विवाह उत्तम धर्म है। आत्मा ही पुत्र-रूप में उत्पन्न होता है, अतएव मनुष्य को उचित है कि अपने पुत्र की माता, निज भार्या, को माता के समान आदर दे। भार्या में उत्पन्न पुत्र दर्पण में प्रतिबिम्बित आत्मा के समान है, जिसके दर्शन से सुख मिलता है। चाहे कैसा भी दुःख और रोग क्यों न हो, मनुष्य पत्नी से वैसे ही सुख पाता है, जैसे गरमी से व्याकुल मनुष्य जल में। आवेश में आकर भी मनुष्य को स्त्री से अप्रिय वचन न कहने चाहिए, क्योंकि रति, प्रीति और धर्म उसीके अधीन हैं। स्त्रियां संतति के जन्म का सनातन और पवित्र क्षेत्र हैं। ऋषियों की भी क्या शक्ति है, जो स्त्री के बिना संतान उत्पन्न कर सकें ? हे पौरव, उमंग कर आये हुए अपने पुत्र की तुम अवहेलना क्यों करते हो ? जब इसका जन्म हुआ तब आकाशवाणी ने कहा था कि यह सौ अश्वमेधों का करने वाला होगा। मृग के पीछे दौड़ते हुए तुम मेरे पिता के आश्रम में कौमार अवस्था में मेरे पास आए थे। अप्सराओं में श्रेष्ठ मेनका ने स्वर्ग से पृथिवी पर आकर विश्वामित्र द्वारा मुझे जन्म दिया था। हां, मैंने पूर्व जन्म में कौन-सा अशुभ कर्म किया, जो मेरी वह असली मां जन्मते ही मुझे छोड़कर चली गई और आज तुम भी मुझे छोड़ रहे हो ! तुमसे परित्यक्ता

मैं भले ही आश्रम में लौट जाऊं, पर अपने इस बाल-पुत्र को छोड़ना तुम्हें उचित नहीं।"

यह सुनकर दुःषन्त ने उत्तर दिया, "हे शकुन्तला, तुममें उत्पन्न इस पुत्र का मुझे ज्ञान नहीं। स्त्रियां यों ही असत्य कह देती हैं। तुम्हारी बात पर कौन विश्वास करेगा? तुम्हारी माता मेनका कैसी निष्ठुर और पुंश्चली थी, जो उतारी हुई माला की तरह तुम्हें हिमालय की चट्टान पर फेंककर चली गई और क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मणत्व का लोभी तुम्हारा वह पिता विश्वामित्र भी कामपरायण ही था। सचमुच मेनका अप्सराओं में और तुम्हारा पिता महर्षियों में श्रेष्ठ हैं, तभी तो उनकी संतान तुम पुंश्चली के समान वचन कह रही हो! इस तरह की अविश्वसनीय बात कहते तुम्हें लज्जा नहीं लगती, और विशेषतः मेरे सामने? हे दुष्ट तापसी, हट जाओ। कहां वह उग्र महर्षि, कहां वह मेनका अप्सरा और कहां तापसी वेश में दीन बनी हुई तू! और कैसे इतने थोड़े समय में तेरा यह बालपुत्र शरीर से इतना विशाल और बली लगने लगा, जैसे शहतीर हो! हे पुंश्चली, मुझे तेरी सब बात गड़बड़ जान पड़ती है। जो तू कहती है उसका मुझे कुछ पता नहीं। मेरी-तेरी कुछ जान-पहचान नहीं। जहां तेरा मन हो, जा।"

स्त्रियोचित स्वाभिमान

दुःषन्त के अति निष्ठुर वचन सुनकर शकुन्तला क्रोध से तिलमिला गई और उसका स्त्रियोचित स्वाभिमान जाग उठा। उसने कहा, "हे राजन, दूसरे की आंख का तिनका तुम देखते हो, पर अपनी आंख का ताड़ देखते हुए भी क्या तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता? मेनका सदा देवों में रहती है। सब देव मेनका के अनुगत हैं। हे दुःषन्त, तुम्हारे जन्म से बढ़कर मेरा जन्म है। तुम धरती में घिसटते हो, मैं आकाश में उड़ती हूं। अपने और मेरे बीच का अन्तर देखो, जैसे सरसों और सुमेरु का हो। इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, इनके घरों में मेरा आना-जाना है। इतना मेरा प्रभाव है। मैं एक बात लोकोक्ति के रूप में कहती हूं, कुछ चिढ़ाने के लिए नहीं। खूसट आदमी जबतक दर्पण में अपना मुंह नहीं देखता, तबतक अपने-आपको सबसे अधिक सुन्दर समझता है, पर जब शीशे में वह अपना दागदगीला मुंह देख लेता है

तब अपनी हीनता जान जाता है। जो रूपवान् है, वह किसीका अनादर नहीं करता। जो दुर्वचन कहता है वह लोक में परनिंदक कहलाता है। मनुष्यों के शुभाशुभ वचनों को सुनकर मूर्ख शूकर की भांति केवल गंदगी लेता है, पर बुद्धिमान उन्हींमें से हंस की भांति क्षीर रूपी गुणवत् वाक्यों को चुन लेता है। भला, इससे भी बढ़कर हँसी की बात और कोई लोक में है, जो दुर्जन अपने को सज्जन कहे ? आत्मसदृश पुत्र को उत्पन्न करके जो उसकी अवहेलना करता है, उस मनुष्य की श्री को रुष्ट देवता हर लेते हैं। पितरों को नरक के उस पार पहुंचाने के लिए पुत्र धर्म की नाव है। हे राजन्, सत्य और धर्म का पालन करो, कपट करना ठीक नहीं। हजार अश्वमेधों के साथ सत्य को तराजू पर चढ़ाकर यदि तोला जाय तो भी सहस्र अश्वमेधों से सत्य ही भारी बैठेगा। सब वेदों का अध्ययन, सब तीर्थों में स्नान एक ओर और सत्य बोलना दूसरी ओर—ये दोनों एक-दूसरे के बराबर बैठें अथवा न भी बैठें। सत्य से परे कोई धर्म नहीं और न झूठ से बढ़कर कोई तीखी वस्तु है। सत्य परब्रह्म है, सत्य ही सबसे बड़ी प्रतिज्ञा है। हे राजन्, तुम अपनी उस सत्य की प्रतिज्ञा को मत छोड़ो। पर यदि झूठ से ही तुम्हें प्रेम हो तो मैं जाती हूं, तुम्हारे जैसे के साथ मेरा कोई मेल नहीं। पर हे दुःषन्त, याद रखना, तुम्हारे बिना भी यह मेरा पुत्र पर्वतों के कुण्डल से अलंकृत इस चतुरन्त पृथिवी का पालन करेगा।"

इतना कह शकुन्तला जाना ही चाहती थी कि अन्तरिक्ष से आकाश-वाणी ने दुःषन्त से कहा, "शकुन्तला ने सत्य कहा है। तुम्हीं इस गर्भ के जनक हो। अतएव हे दुःषन्त, शकुन्तला के पुत्र का भरण करो। जीतेजी अपने पुत्र का परित्याग बड़ा अकल्याण है। तुम्हारे भरण करने से यह पुत्र भरत कहलायेगा। हे पौरव, शाकुन्तल दौःषन्ति भरत को तुम स्वीकार करो।"

यह सुनकर दुःषन्त ने पुरोहित और अमात्यों से कहा, "आप लोगों ने देवदूत की बात सुनी। मैं भी समझता हूं कि यह मेरा पुत्र है; किन्तु यदि इसके कहने से ही मैं इसे स्वीकार कर लेता तो लोग संदेह करते।"

यों कह राजा ने पुत्र और स्त्रीको स्वीकार करके शकुन्तला से कहा, "हे देवी, मैंने एकान्त में तुम्हारे साथ वह संबंध किया था, अतएव शुद्धि

के लिए मैंने इस प्रकार के व्यवहार का विचार किया। तुमने कुपित होकर जो अप्रिय वचन मेरे प्रति कहे, मैंने वे सब क्षमा किये।"

इस प्रकार दुःषन्त ने भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त किया और भरत का तेजस्वी एवं अप्रहितचक्र लोगों को गुंजाता हुआ सारी पृथिवी पर फैल गया। उसने अनेक राजाओं को जीतकर अपने वंशवर्ती बनाया और वह सार्वभौम चक्रवर्ती हुआ। उसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। उसी भरत से कुरु-पांडवों का कुल भारत कहलाया। उसीसे लोक में भारती कीर्ति फैली। उस भरत के वंश में अनेक देवकल्प राजा हुए। भरत, कुरु, पुरु, अजमीढ़ के वंश में जन्म लेनेवाले क्षत्रिय भारत, कौरव और पौरव नामों से विख्यात हुए। उन्हीं भरतवंशियों का स्वस्त्ययन, पवित्र, धन्य, यशस्य और आयुष्प्रद यह महान उपाख्यान महाभारत है।

५ :: राजा ययाति का उपाख्यान

आदि-पर्व के सम्भव-पर्व में शकुन्तलोपाख्यान के बाद उन्नीस अध्यायों का ययात्युपाख्यान नामक बड़ा उपाख्यान है। इसके दो भाग हैं, पूर्व-यायात और उत्तर-यायात। ययाति भी कौरवों के पूर्व-पुरुष थे। अतएव आरम्भ में उनके चरित्र का सविस्तृत वर्णन करना आवश्यक समझा गया।

चन्द्रवंश में नहुष के पुत्र ययाति हुए। ययाति ने असुरगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से विवाह किया। देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु दो पुत्र उत्पन्न हुए। इसी प्रकार शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्यु, अनु और पुरु नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उशना शुक्र के शाप से ययाति अकाल में ही जराजीर्ण हो गए। उन्होंने अपने पुत्रों की युवावस्था को लेकर अपनी जरावस्था का परिवर्तन करना चाहा। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु इन चार बड़े पुत्रों में से कोई इसके लिए तैयार नहीं हुआ, किन्तु सबसे छोटे पुरु ने पिता की आज्ञा स्वीकार कर ली और अपना यौवन देकर ययाति का बुढ़ापा स्वयं ले लिया। यौवन की शक्ति से पुनः युवा बनकर ययाति ने अपनी दो पत्नियों एवं विश्वाची

नामक अप्सरा के साथ चैत्ररथ वन में दीर्घ कालतक सुखों का उपभोग किया। अन्त में उस जीवन की निस्सारता को देखकर उससे भी विरक्त हो गए। उन्होंने पुरु को उसका यौवन देकर उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त किया और स्वयं स्वर्ग को चले गए।

इतनी कथा ययाति-उपाख्यान के पूर्व भाग में है। इसे ही व्याकरण-साहित्य और महाभारत में पूर्व-यायात कहा गया है। इसके बाद ययाति का स्वर्ग में जाना, वहां इन्द्र से वार्तालाप, अपने पुण्य के विषय में दर्पोक्ति, उसके कारण स्वर्ग से पतन एवं पुनः स्वर्ग-आरोहण की कथा उपाख्यान के अंतिम भाग में है, जिसे उत्तर-यायात कहते थे। किसी समय यह उपाख्यान महाभारत से स्वतंत्र रूप में प्रचलित था। इस उपाख्यान के अंत में भी फलश्रुति का श्लोक (आदि० ८८।२५) पाया जाता है, जो इस बात का निश्चित प्रमाण है कि यह प्रकरण बाहर से तैरता हुआ मूल ग्रंथ में स्थान पा गया।

ययाति-उपाख्यान के इस मूल पाठ को प्राचीन आख्यानविदों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से अत्यन्त प्रतिमंडित किया। इस उपाख्यान के आरम्भ में राजाओं की वंशावली भी दी हुई है। प्रचेता के पुत्र दक्ष ने अपनी पचास कन्याओं में से तेरह का विवाह कश्यप मारीच से किया। उनमें दाक्षायणी के गर्भ से विवस्वान्, विवस्वान् से वैवस्वत यम, यम से मार्तण्ड और मार्तण्ड से मनु का जन्म हुआ। मनु से मानव-वंश लोक में फैला। वैवस्वत मनु के नौ पुत्र और इला नाम की कन्या थी। इला से पुरुरवा का जन्म हुआ। ऐल पुरुरवा और उसकी पत्नी उर्वशी के ज्येष्ठ पुत्र का नाम आयु था। आयु से नहुष का जन्म हुआ, जिसने धर्म से पृथिवी का पालन किया और अन्त में इन्द्र-पद भोगकर ऋषियों का अपमान करने से वह अधोगति को प्राप्त हुआ। इसी नहुष का पुत्र ययाति था।

कच-देवयानी प्रसंग

ययाति के चरित्र-वर्णन के प्रसंग में एक सरस लघु कथा बृहस्पति के युवा पुत्र ब्रह्मचारी कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की है। एक बार देवता और असुरों में ऐश्वर्य के लिए बड़ा संघर्ष हुआ। उस देवासुर-

संग्राम में विजय पाने की इच्छा से देवों ने बृहस्पति को अपना पुरोहित बनाया और असुरों ने उशना कवि को। दोनों पुरोहितों में लागडांट थी। देवता जिन दानवों को युद्ध में मारते, उशना अपनी संजीविनी विद्या के बल से उन्हें पुनः जीवित कर देते थे। बृहस्पति के पास संजीविनी विद्या न थी। इससे देवता दुःखी हुए। उन्होंने बृहस्पति के ज्येष्ठ पुत्र कच से कहा, "हे कच, तुम हमारी सहायता करो। असुरों के गुरु शुक्राचार्य ब्राह्मण के पास जो विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर आओ। तुम्हीं अपने शील, दाक्षिण्य, माधुर्य, आचार और इंद्रिय-निग्रह से कवि उशना को और उसकी पुत्री देवयानी को भी अपने अनुकूल बना सकोगे।"

कच ने यह बात स्वीकार की और शीघ्र ही वृषपर्वा असुर की राजधानी में जाकर शुक्राचार्य से निवेदन किया, "मैं अंगिरा ऋषि का पौत्र और बृहस्पति का पुत्र हूं। मेरा नाम कच है। आप कृपया मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें। आपको गुरु मानकर मैं ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करूंगा। कृपया अनुमति दें।"

कच की स्पष्टवादिता से प्रसन्न हो शुक्राचार्य ने उत्तर दिया, "हे कच, तुम्हारा स्वागत है, मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूं। तुम अर्चनीय हो, मैं तुम्हारी अर्चना करूंगा। तुम्हारे द्वारा बृहस्पति भी मुझसे अर्चित हों।"

इस प्रकार कच ने भृगु-पुत्र शुक्राचार्य के पास व्रत धारण किया। अपने उपाध्याय तथा उनकी कन्या देवयानी को प्रसन्न करते हुए वह रहने लगे। देवयानी प्राप्तयौवना थी। कच गीत, नृत्य और वाद्यों से एवं पुष्प-फल आदि से देवयानी को प्रसन्न करते तथा देवयानी भी ब्रह्मचर्याश्रम के नियम और व्रतों का पालन करनेवाले उस विप्र युवक के साथ गाती-बजाती और एकान्त में परिचर्या करती थी।

इस प्रकार रहते हुए कच को पांच वर्ष बीत गए। अब दानवों को किसी प्रकार कच का पता लग गया। उन्होंने उसे जंगल में अकेले पाक संजीविनी विद्या की रक्षा के लिए मार डाला और भेड़ियों को खिला दिया। गाएं अकेली जंगल से घर आईं। कच को वापस न आया देखकर देवयानी ने पिता से कहा, "हे तात, अवश्य ही कच को असुरों ने मार डाला है। मैं

उसके बिना जीवित न रह सकूंगी।" इतना सुनकर शुक्राचार्य ने संजीविनी विद्या के बल से उसे जीवित कर दिया। दूसरी बार पुनः असुरों ने वही किया और फिर उसी प्रकार शुक्राचार्य ने उसे जीवनदान दिया। शुक्राचार्य कच की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे संजीविनी विद्या का वरदान दिया।

इस प्रकार गुरु से विद्या सीखकर कच ब्रह्मचर्य-व्रत का समावर्तन करके लौटने के लिए तैयार हुआ। उसी समय देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया। कच ने कहा, "हे सुन्दरी, जैसे तुम्हारे पिता पूज्य एवं मान्य हैं वैसे ही तुम भी पूजनीय हो। तुम भार्गव शुक्राचार्य के लिए प्राणों के समान प्रिय हो और गुरु-पुत्री होने के कारण मेरे लिए भी धर्मतः पूज्य हो। हे देवयानी, तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं।"

इस पर देवयानी ने सौहार्द, अनुराग और उत्तम भक्ति का स्मरण दिलाते हुए कहा, "तुम मेरे पिता के पुत्र नहीं हो, उनके गुरु अंगिरा के पुत्र के पुत्र हो। अतएव तुम्हारे साथ संबंध होने में मुझे कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता।"

किंतु कच ने यही कहा, "तुम मेरी धर्म की बहन हो, मैं तुम्हारे यहां बहुत सुख से रहा, मुझे विदा दो और मेरी मंगल-कामना करो। कभी-कभी मेरा स्मरण करती रहना और प्रमादरहित होकर नित्य मेरे गुरु की सेवा करना।"

किन्तु देवयानी इतने से माननेवाली न थी। उसने कहा, "हे कच, यदि धर्मानुमोदित काम के विषय में तुम मेरी बात न मानोगे तो मेरे पिता से प्राप्त की हुई यह विद्या तुम्हें फलवती न होगी।"

यह सुनकर कच ने अपने आपको उसी प्रकार शांत रखते हुए कहा, "तुम मेरी गुरुपुत्री हो। उलटकर मैं तुम्हारे लिए कोई बुरी बात नहीं कहता। हे देवयानी, मैं ऋषियों से अनुमोदित धर्म की बात तुमसे कहता था, फिर भी तुमने मुझे शाप दिया। इस शाप का हेतु काम है, धर्म नहीं। तुम्हारा जो मनोरथ है, वह मुझसे तो पूरा नहीं होगा, और भी कोई ऋषि-पुत्र तुम्हारा पाणिग्रहण न करेगा। और जो तुमने यह कहा कि यह संजीविनी विद्या मुझे न फलेगी तो इसे मैं किसी दूसरे को सिखा दूंगा, उसे यह फलवती होगी।"

यह कहकर कच देवताओं के पास लौट आया। कच की यह कथा प्राचीन आश्रमों में अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारियों के शुभ आचारों का चमकता हुआ हीरा है।

ययाति का जरा-परिवर्तन

ययाति के उपाख्यान में वह अंश काव्यपूर्ण है, जिसमें वह अपने पांच पुत्रों के साथ जरा देकर यौवन लेना चाहता है। देवयानी के सिखाने से शुक्राचार्य ने ययाति को अकाल में ही जराजीर्ण हो जाने का शाप दिया। अनुनय-विनय करने पर शुक्राचार्य ने यह कहकर उसपर कृपा की कि मेरा वचन तो अन्यथा न होगा, किंतु तुम अपना वृद्धत्व किसी दूसरे को दे सकते हो।

ययाति ने कहा, "जो पुत्र मुझे अपना यौवन देगा वह राज्य, पुण्य और कीर्ति का भाजन बनेगा।" शुक्राचार्य ने भी इसका अनुमोदन किया और तब ययाति ने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से कहा, "हे तात, उशना कवि के शाप से मुझे बुढ़ापे ने आ दबोचा है। मेरे शरीर में झुर्रियां पड़ गई हैं और बाल पक गए हैं। यौवन के सुखों से मुझे अभी तृप्ति नहीं हुई है। हे यदु, तुम मेरे इस जरारूपी पाप को ओढ़ लो और मुझे अपना यौवन दो, जिससे मैं विषयों में रमण करूं। सहस्र वर्ष पूरे होने पर मैं तुम्हारा यौवन लौटा दूंगा और अपनी पापिष्ठ जरावस्था स्वयं ओढ़ लूंगा।"

यदु ने उत्तर दिया, "बुढ़ापे से मनुष्य ढीलाढाला हो जाता है। उसके बाल पक जाते हैं। देह में झुर्रियां छा जाती हैं। उस दुबले और अशक्त को कोई देखना नहीं चाहता। उसमें काम करने की शक्ति नहीं रहती। यौवन के जितने सुख हैं, उनसे वह वंचित हो जाता है। मुझे ऐसा बुढ़ापा नहीं चाहिए।"

तब ययाति ने तुर्वसु से वही बात कही। तुर्वसु ने उत्तर दिया, "काम और भोगों का नाश करनेवाली, बुद्धि और प्राण को हरनेवाली बुढ़ौती मुझे नहीं चाहिए।"

इसके बाद ययाति ने शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु से वही बात कही। द्रुह्यु ने कहा, "जो बूढ़ा हुआ, वह न हाथी, न रथ, न अश्व की सवारी कर सकता

है और न स्त्री के साथ विहार कर सकता है। बुढ़ापे के कारण बोलने की शक्ति भी ठीक-ठीक नहीं रहती। ऐसी बुढ़ौती मैं न लूंगा।"

इस पर ययाति ने अनु से अपना यौवन देने के लिए कहा। अनु ने उत्तर दिया, "बुड्ढा आदमी बच्चे की तरह गंदा रहता है। न उसके खाने-पीने का कोई नियम होता है, न समय पर अग्निहोत्र आदि कर पाता है। ऐसा बुढ़ापा मुझे नहीं चाहिए।"

निराश होकर ययाति ने सबसे छोटे पुत्र पुरु से कहा, "हे पुरु, तुम मुझे सबसे अधिक प्यारे हो। देखो, मुझे बुढ़ापे ने दबोच लिया है। मुझे अपने यौवन में भाग दो, जिससे कुछ समय तक और विषयों का सुख ले सकूं।"

यह सुनकर पुरु ने पिता से कहा, "महाराज, आप जैसा कहते हैं, मैं आपके वचन का पालन करूंगा। आपकी यह जरा और श्रीहीन अवस्था मैं ले लूंगा, आप मेरा यौवन लीजिए और मनचीते काम-भोगों से विलसिए। आप जैसा कहते हैं, आपको अपना यौवन देकर और आपका बुढ़ापा लेकर मैं तदनुकूल आयु और रूप धारण करूंगा।"

यह सुनते ही ययाति प्रसन्न हो गए और उन्होंने पुरु को आशीर्वाद दिया। यौवन पाकर ययाति ने यथाकाम, यथोत्साह, यथाकाल और यथा-सुख अपने प्रिय विषयों का उपभोग करते हुए समय व्यतीत किया। यज्ञों से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को, अन्नपान से अतिथियों को, परिपालन से प्रजाओं को, अनुग्रह से दीन अनाथों को, कामनाओं की पूर्ति से द्विजों को, अनुकम्पा से शूद्रों को, निग्रह से दस्युओं को और धर्म से समस्त प्रजाओं का अनुरंजन किया। साक्षात् इंद्र के समान युवा ययाति ने विषयों में मन लगा-कर, किंतु धर्म से अविरुद्ध उत्तम सुखों का अनुभव किया। अनेक समृद्ध कामनाओं को प्राप्त करके वह पहले तृप्त और अन्त में खिन्न हो गए, और समय पूरा होने पर अपने पुत्र पुरु से बोले, 'हे पुत्र, तुम्हारे यौवन से मैंने मनचाहे विषयों का उत्साह के साथ यथासमय उपभोग किया। हे पुरु, अब मेरा मन भर गया है। तुम अपना यौवन और यह राज्य भी ग्रहण करो।"

इतना कहकर नहुषात्मज ययाति पुनः जराजीर्ण बन गए। जिस समय सबसे छोटे पुत्र पुरु का अभिषेक करने के लिए वह तैयार हुए तब ब्राह्मण आदि चारों वर्णों ने उपस्थित होकर राजा से कहा, "महाराज, शुक्राचार्य

के नाती, देवयानी के पुत्र, यदु सबसे ज्येष्ठ हैं, उनसे छोटे तुर्वसु हैं, उसके बाद शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु और अनु हैं। इन ज्येष्ठ पुत्रों का उल्लंघन करके आप छोटे पुरु को क्यों राज्य देना चाहते हैं ? आपसे हम सब कहते हैं कि आप धर्म का पालन करें।"

ययाति ने प्रजाओं का वचन सुनकर उत्तर दिया, "हे ब्राह्मणप्रमुख चारों वर्णों के पुरुषो, आप सब मेरी बात सुनें, क्यों मैं ज्येष्ठ-पुत्र को राज्य नहीं देना चाहता। मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदु ने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया। जो पिता के प्रतिकूल है, उसे सज्जनों की परिभाषा के अनुसार पुत्र नहीं माना जा सकता। जो माता और पिता की आज्ञा माननेवाला, उनके प्रति हितबुद्धि रखनेवाला और उनके अनुकूल है, वही पुत्र है। पुत्र वही है, जो माता-पिता के साथ पुत्र का व्यवहार करे। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु ने मेरा बहुत अनादर किया। पुरु ने ही मेरी बात मानी और मुझे विशेष आदर दिया। इसीलिए छोटा होता हुआ भी वह मेरा दायाद है। पुत्र का सच्चा रूप पुरु में है, जिसने मेरी जरा के बदले में अपना यौवन देकर मेरी इच्छा पूरी की। स्वयं कवि शुक्राचार्य ने यह वर दिया है कि जो पुत्र तुम्हारा अनुवर्ती होगा वही पृथिवी का राजा होगा। अतएव मैं आप सबसे अनुनय करता हूं कि पुरु को राज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त कीजिए।"

प्रजाओं ने इस दृष्टिकोण से सहमत होते हुए कहा, "जो पुत्र गुण-सम्पन्न है, जो माता-पिता का हितकारी है, चाहे छोटा भी हो, वही सब कल्याणों का अधिकारी है। अतएव तुम्हारा प्रियकारी पुत्र पुरु ही राज्य के योग्य है। तब क्या कहा जा सकता है ?" इस प्रकार संतुष्ट हुए पौर-जानपद जन की स्वीकृति पाकर ययाति ने पुरु का राज्याभिषेक किया और स्वयं वन को प्रस्थान किया।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनु द्वारा उपदिष्ट प्राचीन राजनीति के अनुसार सबसे ज्येष्ठ पुत्र को राजसिंहासन पाने का अधिकार होता था। इसी प्रथा के अनुसार दशरथ ने राम को युवराज बनाया था, किंतु कैकेयी के षड्यंत्र के कारण उस विधान का उल्लंघन हुआ। यहां भी प्रजाओं ने देखा कि ययाति मनु की उस नीति का उल्लंघन कर रहा है, तब पौर और जानपद प्रतिनिधियों ने सभा में उपस्थित होकर उसे टोका। यह

निश्चित है कि पौर-जानपद प्रजाओं का समर्थन पाये बिना ययाति यदु आदि पुत्रों के अधिकार को नहीं छीन सकते थे। यहां ययाति ने यौवराज्य-पद प्राप्त करने के लिए पुत्र की एक नई परिभाषा दी है। ज्ञात होता है कि यह परिभाषा शुक्राचार्य की उपदिष्ट नीति के अनुसार थी। जब हम शुक्र-नीति की तुलना मानवधर्मशास्त्र से करते हैं तब कई बातों में शुक्र का मत अधिक उदार या सुधारवादी जान पड़ता है। मनु ने राजा को ईश्वर का अंश माना है, शुक्र ने नहीं। राजा के प्रजापालनरूपी कर्त्तव्य के विषय में भी शुक्राचार्य की दृष्टि अधिक उदार है।

ययाति के उपाख्यान के उत्तर भाग में ययाति और इंद्र का संवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मणों के साथ वन में निवास करते हुए अनेक प्रकार का तप करके ययाति स्वर्ग में गए। वहां देवताओं ने उनका स्वागत-पूजन किया। एक बार इंद्र ने ययाति से पूछा, "हे राजन्, जब पुरु ने अपना रूप देकर आपसे जरा प्राप्त की और आपने कालान्तर में उसे राज्य सौंपा तब सत्य कहिए, आपने उससे क्या कहा ?"

ययाति ने उत्तर दिया, "मैंने पुरु से कहा, 'गंगा और यमुना के बीच में जितना प्रदेश है, जो इस पृथिवी का मध्य भाग है, उसके तुम राजा हो और जो तुम्हारे भाई हैं वे इसके चारों ओर के प्रत्यन्त देशों के राजा हैं। मैंने उससे यह भी कहा, 'जो क्रोध नहीं करता, वह क्रोध करने वाले से श्रेष्ठ है। जो सहनशील है, वह उससे बढ़कर है, जो सहन नहीं कर सकता। जो मानवेतर हैं, उन सबकी तुलना में मनुष्य प्रधान है। जो विद्वान है, वह न जाननेवालों में प्रधान होता है। यदि कोई अपने से जली-कटी बातें कहे तो स्वयं वैसा न कहना चाहिए। जो उन बातों को सहन कर लेता है, उसका तेज दुर्वचन कहने वालों को फूंक डालता है और उसके सब पुण्यों को हर लेता है। मनुष्य को चाहिए कि किसीका मर्म न दुखाए, किसीसे कठोर बात न कहे। जो क्षुद्र है उससे किसी बढ़िया वस्तु को ग्रहण न करे। जो वचन दूसरे को उद्वेग पहुंचानेवाला और हृदय छीलनेवाला है और नारकी है, उसे कभी न कहे। जिसकी वाणी रूखी और मर्मान्तिक है, जिसके शब्द शूल की तरह दूसरों को चुभते हैं, ऐसे मनुष्य के मुख में साक्षात् नाश की देवी निर्ऋति रहती है। ऐसे पुरुष को नितान्त श्रीहीन समझना चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि सदा अपना आचार आर्यों के जैसा रखे और सज्जनों का आचार ग्रहण करे। उसके सम्मुख सज्जन ही पूजा के लिए हों और पृष्ठ पर भी सज्जन ही रक्षा करनेवाले हों। इस प्रकार सज्जनों से नाता जोड़नेवाला वह असंतों के तीखे वचनों को भी सहन करे। वचन-रूपी बाण असज्जन के मुख से छूटते रहते हैं, जिनसे मारा हुआ दूसरा व्यक्ति रात-दिन छटपटाता है। जो बाण दूसरे के मर्म को छेद देते हैं उन वचनरूपी बाणों को बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों पर कभी न चलाये। तीनों लोकों में इस प्रकार का कोई वशीकरण नहीं है, जिस प्रकार मीठी बोली, दान और प्राणियों के साथ मैत्री भाव है। इसलिए सदा मीठी बात कहो, कभी कड़वी नहीं। जो पूजा के योग्य हैं, उन्हें सम्मान दो, सदा दूसरों को दान दो, स्वयं कभी याचक न बनो। यही वह आर्यवृत्त है, जिसका मैंने राज्य देते समय पुरु को उपदेश दिया।'

"मनुष्य मानवेतर प्राणियों से श्रेष्ठ है; देव, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, आदि सब मानव से घटकर हैं, क्योंकि मनुष्य के पास कर्मशक्ति है, उसके पास दस अंगुलियोंवाले दैव के दिये हुए दो हाथ हैं।" व्यास का यह दृष्टिकोण मानव की महिमा को प्रख्यात करता है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है, "यह रहस्य ज्ञान मैं तुमसे कहता हूं। मानव से श्रेष्ठ यहां और कुछ भी नहीं है।' "

इतना सुनकर इन्द्र ने ययाति को आगे छेड़ते हुए पुनः प्रश्न किया, "हे राजन्, सब कर्मों से छुट्टी पाकर और घर त्याग कर जब तुम वन में गए तब की बात तुमसे पूछता हूं। तुम्हारा तप किसके बराबर था?"

यह प्रश्न सुनकर ययाति के मन में अहंकार की एक रेखा दौड़ गई। उसने कहा, "देवताओं में, मनुष्यों में, गन्धर्वों में और महर्षियों में मैं किसी को ऐसा नहीं देखता, जिसका तप मेरे जैसा हो।"

इन्द्र ने चट उसकी बात पकड़ली और कहा, "तुमने जो अपने सदृश हैं, जो अपने से श्रेष्ठ हैं और जो अपने से घटकर हैं, उन सबके प्रभाव को जाने बिना कैसे सबका तिरस्कार कर डाला? इसलिए तुम्हारा पुण्य सीमित हो गया। औरों को सीमित समझने से तुम भी सीमित हो गए। तुम्हारा पुण्योपार्जित लोक भी अन्तवाला हो गया। अब तुम क्षीण होकर नीचे गिरोगे।"

ययाति ने कहा, "हे इन्द्र, यदि देवर्षियों, गन्धर्वों और मनुष्यों का अपमान करने से मैंने अपना पुण्यलोक खो दिया है और मुझे सुरलोक से विहीन होना ही है, तो हे देवराज, मैं चाहता हूं कि मैं सज्जनों के बीच में जाकर मिलूं।"

इन्द्र ने उनकी यह बात स्वीकार की और ययाति स्वर्ग से गिरकर सद्धर्म का जो विधान है, उसकी रक्षा करनेवाले अष्टक राजर्षि के पास उपस्थित हुए। अष्टक ने उनसे पूछा, "इन्द्र के समान रूपवान हे युवक, तुम कौन हो, जो अग्नि की तरह स्वतेज से दीप्त हो? तुम्हें सूर्य-पथ से नीचे आते हुए देखकर हम सब भ्रम में पड़ गए हैं कि अग्नि और सूर्य जैसे अमित प्रकाशवाला यह कौन आ रहा है? हम सब तुम्हारे पतन का कारण जानने के इच्छुक हैं। तुम कौन हो और क्यों यहां आये हो?"

ययाति ने उत्तर दिया, "मैं नहुष का पुत्र और पुरु का पिता ययाति हूं। सब भूतों का अपमान करने के कारण अल्पपुण्य बनकर देवता और सिद्धर्षियों के लोक से च्युत हो गया हूं। मैं आयु में तुम सबसे बड़ा हूं, इसलिए मैंने तुम्हें अभिवादन नहीं किया। जो विद्या में, तप में और आयु में वृद्ध होता है वही द्विजों में पूज्य समझा जाता है।"

अष्टक ने कहा, "क्या तुम यह कहते हो कि जो आयु में बड़ा है वह वृद्ध है? मैं इसे नहीं मानता। मेरी दृष्टि में तो जो आयु में वृद्ध होते हुए विद्वान भी हो, वही पूज्य है।"

इस प्रसंग में ययाति और अष्टक की प्रश्नोत्तरी के रूप में महाभारत-कार ने नीति-प्रधान जीवन और प्रज्ञावान पुरुष के आचार की सुन्दर व्याख्या दी है। ययाति ने अपने जीवन में अनेक प्रकार के अनुभव किये थे। उनका कुछ निचोड़ इस वार्त्तालाप में पाया जाता है।

ययाति का नियतिवाद

ययाति ने अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहा, "कर्मों का प्रतिकूल आचरण ही पाप कहा गया है। जो कर्म जिस प्रकार से करना चाहिए, उसे उसके उचित ढंग से न करना, यही बुराई का कारण है। जो व्यक्ति कर्म में श्रद्धा नहीं रखता, उसका वह कर्म भी पाप-युक्त हो जाता है।

जो सज्जन हैं वे कभी असज्जनों का अनुकरण नहीं करते। उनकी अपनी आत्मा उन्हें अनुकूल मार्ग पर ले चलती है। जीवन में अनेक प्रकार के भाव आते हैं, वे दैव के अधीन हैं। ऊंच-नीच, सुख-दुःख इत्यादि सम-विषम परिस्थितियों में मनुष्य की निजी चेष्टा कुछ काम नहीं देती। मन में समझ लेना चाहिए कि विधाता वाम है। ऐसा सोचकर धीर व्यक्ति अपने आपको खिन्न नहीं होने देता। जन्तु दैवाधीन होकर सुख या दुःख पाता है, अपने मन से नहीं। अतएव नियति को बलवान समझकर न दुःख से सन्तप्त हो और न सुख से हर्षित हो। धीर पुरुष सदा अपने आपको सम अवस्था में रखे। हे अष्टक, भय से मुझे कभी मोह नहीं होता। मेरे मन में किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता। विधाता लोक में मुझे जिस तरह चलाते हैं उसे ही मैं ध्रुव भवितव्यता मानता हूं। सुख और दुःख दोनों अनिवार्य हैं, फिर मुझे किस बात का सन्ताप हो ? मैं जानता हूं कि मुझे क्या करना चाहिए और किस प्रकार के कर्म से मेरे मन को पीछे पछतावा न होगा। मैं इस बात में अपने-आपको सावधान रखता हूं कि सन्ताप के काम से बचूं।"

ययाति का यह दार्शनिक दृष्टिकोण वही है, जो आजीवक मत के आचार्य मस्करी गोसाल का था। वह नियतिवादी थे। कर्म द्वारा सुख और दुःख को नहीं टाला जा सकता, यह गोसाल का अभिमत था। बौद्ध और जैन-साहित्य में मक्खलि गोसाल की बहुत चर्चा आती है। शांति-पर्व के मोक्ष-धर्म-पर्व में आजीवकों के नियतिवाद का विस्तार से निरूपण किया गया है। प्रकरण में भाग्य के लिए 'दिष्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि ने भी 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' अपने इस सूत्र में उन आचार्यों का उल्लेख किया है, जो दिष्ट या भाग्यवादी होने के कारण दैष्टिक कहलाते थे। यह भी संभव है कि ययाति द्वारा कहा हुआ दैष्टिक मत और आजीवक संप्रदाय का दैष्टिक मत एक-जैसे होते हुए भी अन्य बातों में आजीवक-संप्रदाय की अपनी विशेषताएं रही हों। मक्खलि गोसाल को बुद्ध अपने विरोधी आचार्यों में सबसे अधिक प्रबल और भयंकर समझते थे।

अष्टक ने प्रश्नों का क्रम जारी रखते हुए कहा, 'हे ययाति, तुम्हारे कहने का ढंग ऐसा है, जैसे कोई क्षेत्रज्ञ धर्म की व्याख्या कर रहा हो। बताओ, तुमने किन-किन लोकों का कैसे उपभोग किया ?"

ययाति ने उत्तर दिया, "मैं इस पृथिवी पर सार्वभौम राजा था। मैंने अनेक लोकों को जीता और दीर्घकाल तक यहां निवास करके फिर मैं परलोक पहुंचा। वहां मैं इंद्र की सहस्र द्वारोंवाली और शत योजन लम्बी-चौड़ी अमरावती में दीर्घकाल तक रहा। उसके बाद प्रजापति के दिव्य अजरलोक में मैंने निवास किया। देवदेव इंद्र के नन्दनवन में अप्सराओं के साथ देवसुख भोगते हुए मुझे बहुत समय बीत गया। तब देवों का एक विकराल दूत मेरे पास आया और डपटकर बोला, "हट! हट! हट!" उसके इतना कहते ही मैं क्षीणपुण्य होकर नन्दनवन से नीचे लुढ़क गया और मैंने अन्तरिक्ष में गिरते हुए अपने पीछे देवताओं की यह वाणी सुनी, 'अहो, कैसे कष्ट की बात है कि पुण्यकर्मा ययाति भी पुण्य के चुक जाने से गिर रहा है!' मैंने उनसे कहा, "मेरे साथ इतनी ही भलाई करो कि मैं गिरकर भी सज्जनों के बीच में पहुंच जाऊं।' इसपर उन्होंने, हे अष्टक, आपकी यज्ञभूमि की ओर संकेत किया और मैं इस हविर्गन्ध देश में आ गया।"

अष्टक ने पूछा, "नन्दनवन में इच्छानुसार सैकड़ों-हजारों संवत्सर निवास करके तुम्हें पृथिवी की ओर फिर क्यों आना पड़ा?"

ययाति ने उत्तर दिया, "यह तो सीधा नियम है। जिस प्रकार मनुष्य का धन क्षीण हो जाने पर उसके संबंधी मित्र और स्वजन उसे छोड़ देते हैं, वैसे ही मनुष्य का पुण्य समाप्त हो जाने पर सब देवसंघ और उनके अधिपति झट उसे छोड़ देते हैं। ये सब लोक अन्तवन्त हैं और मनुष्य के पुण्य भी समाप्त होनेवाले हैं। जब पुण्य चुक जाता है, मनुष्य को लपलपाती हुई लालसा लिये हुए पुनः इसी भौम नरक में आना पड़ता है। यद्यपि वह अन्य प्रकार से क्षीण होता है, तथापि भोगों के प्रति उसकी तृष्णा बढ़ जाती है। अतएव बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि इस लोक में दुष्ट और निन्दित कर्म का परित्याग करे।"

इसके बाद अष्टक और ययाति के संवाद में इस बात की चर्चा है कि मरने के बाद मनुष्य किस प्रकार इस भौम नरक में घूमता रहता है और फिर किस प्रकार दूसरा शरीर पाने के लिए गर्भ में प्रवेश करता है और जन्म लेकर इंद्रियों और तन्मात्राओं से संयुक्त होता है। इसी प्रसंग में

ययाति ने मद या अहंकार की बहुत निन्दा की है, "तप, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और सब भूतों में दया, इन सब पर अन्धकार छा जाता है, यदि मनुष्य का मन घमंड से फूल गया हो। जो विद्या पढ़कर अपने को पंडित समझता है और अपने विद्याबल से दूसरों को नीचा दिखाने का विचार लाता है, उसका वह पढ़ना-लिखना सब निष्फल हो जाता है और उसके जीवन के सब सुख सीमित हो जाते हैं। चार कर्म यदि ठीक प्रकार किये जायं तो उनसे मनुष्य को अभय की प्राप्ति होती है। वे कर्म ये हैं: अग्निहोत्र, मौनभाव, अध्ययन और यज्ञ। किन्तु इनको ही यदि ऐंठ में भरकर बेढंगेपन से किया जाय तो ये ही मनुष्य के लिए भयंकर हो जाते हैं। सम्मान से प्रसन्न न होना चाहिए और अपमान से संताप न करना चाहिए। इस संसार में भले आदमी भलों का सम्मान करते हैं। दुष्टों में कभी साधुबुद्धि होती ही नहीं। दान, यज्ञ और अध्ययन, ये मेरे व्रत के अन्तर्गत हैं, इन्हें मैं अभय का मार्ग समझता हूं, किन्तु यदि वे ही मानपूर्वक किये जायं तो त्याज्य हैं।"

अष्टक के इस प्रश्न के उत्तर में कि आचार्य की शुश्रूषा करनेवाला ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु, ये सत्पथ पर चलकर किस प्रकार देवतुल्य बन सकते हैं, ययाति ने संक्षेप में उत्तर दिया, "गुरु का कर्म करने के लिए जिसे प्रेरणा की आवश्यकता न हो, गुरु से पहले उठनेवाला और बाद में सोनेवाला, जब वह कहे तभी अध्ययन करनेवाला, मृदु, दान्त, स्थिर चित्तवाला, अप्रमादी और स्वाध्यायशील ब्रह्मचारी सिद्धि का अधिकारी है। गृहस्थों की पुरातनी उपनिषद् विद्या यह है कि धर्मानुसार प्राप्त धन से यज्ञ करें, सदा दान दें, अतिथियों को भोजन करायें और दूसरों के अदत्त धन को ग्रहण न करें। अपने परिश्रम से जीविका करनेवाला, पाप से निवृत्त, आहार और कर्म में संयमी, दूसरों को दान देनेवाला, किसीको न सतानेवाला मुनि अरण्य में रहता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है। जो किसी शिल्प के सहारे जीविका नहीं चलाता, जो घर नहीं बनाता, जो जितेन्द्रिय है, जो गृहस्थी नहीं बटोरता, जो थोड़ा-थोड़ा विचरते हुए देशाटन करता है और अकेला रहता है, वही सच्चा भिक्षु है।"

वानप्रस्थ मुनियों और उनके मौनधर्म की व्याख्या करते हुए उसने

कहा, "जंगल में रहते हुए जो गांव को पीछे छोड़ देता है, अथवा गांव में रहते हुए जो जंगल को पीछे छोड़ देता है, वही मुनि है।" इस प्रकार की स्थिति कैसे संभव है? इसके उत्तर में ययाति ने कहा, "जो जंगल में रहनेवाला मुनि है वह किसी भी ग्राम्य आचार में नहीं पडता। यों वह जंगल में बसकर गांव को पीछे छोड देता है। और यदि वह गांव में बसते हुए केवल उतना ही भोजन करे, जिससे प्राणयात्रा हो और केवल उतना ही चीवर ग्रहण करे, जितना कौपीन के लिए आवश्यक हो, गोत्र और चरण, अग्निहोत्र और गृहवास, इनका मोह न करे, तो गांव में बसते हुए भी वह जंगल को पीछे छोड देता है।"

इसके बाद स्वर्ग से भ्रष्ट हुए ययाति को अष्टक एवं अन्य लोग अपने-अपने पुण्यों से उपार्जित लोक अर्पित करते हैं, किन्तु ययाति ने यह कहकर सबको अस्वीकार किया, "जिसके लिए मैंने स्वयं पहले कर्म नहीं किया है, मैं उससे चिमटने की कभी इच्छा नहीं करता :

अहं तु नाभि धृष्णोमि, यत्कृतं न मया पुरा। (आदि०८८।११)

ययाति का यह तेजस्वी दृष्टिकोण मानव-मात्र के लिए जीवन का अमर विधान है।

अष्टक का दान अस्वीकार करते हुए ययाति ने उनसे कहा, "मैं अपने जीवन में पहले सदा दान देता रहा हूं, किसी और से प्रतिग्रह मैं नहीं ले सकता। मनुष्य को चाहिए कि किसीके दान की कृपा पर जीवित न रहे।"

प्रतर्दन ने जब अपने लोक ययाति को अर्पित किये तब उत्तर में ययाति ने कहा, "अवश्य ही तुम्हारे पुण्य से अर्जित लोकों में मधु और घृत की नदियां बहती हैं, किन्तु वे सब अन्तवन्त है, उनमें यह सामर्थ्य नहीं कि मनुष्य की रक्षा कर सकें। तेजस्वी मनुष्य को चाहिए कि किसी के सुकृत की इच्छा न करे। यदि दैवयोग से उसपर आपत्ति भी आ जाय तो उसे कृपणभाव न अपनाना चाहिए।"

तब राजा वसुमना ने अपने सुकृत से उपार्जित लोकों को अर्पित करते हुए इतना और कहा, "हे ययाति, तुम मेरे लोकों का उपभोग करो। स्वर्ग से च्युत मत होओ। यदि तुम दान लेना अनुचित समझते हो तो घास

का एक तिनका देकर भी तुम मेरे उन लोकों को मुझसे मोल ले सकते हो।"

इसके उत्तर में ययाति ने अपनी सत्यनिष्ठा को तीक्ष्ण करते हुए कहा, "मुझे स्मरण नहीं कि मैंने कभी अपने जीवन में इस प्रकार का झूठा सौदा किया हो। बच्चे को धोखा देने की तरह क्या यों कोई वस्तु लेनी चाहिए?"

इसी प्रकार औशीनर शिबि को भी उत्तर देते हुए ययाति ने कहा, "हे शिबि, तुम्हारे दान का मैं अभिनन्दन नहीं कर सकता, क्योंकि दूसरे के दिये हुए लोक में मैं सुख नहीं मान सकता। मेरे लिए तो वही लोक है, जिसके लिए मैंने कर्म किया है।"

इस प्रकार कर्म की महिमा और प्रतिष्ठा एवं मानवोचित आत्म-सम्मान और जीवन में सत्य की दृढ़ निष्ठा—यही ययाति के उपदेश का सार है। अन्त में ययाति ने अपने जीवन का गुह्य अर्थ प्रकाशित करते हुए इतना और कहा, "मेरा द्युलोक और मेरी पृथिवी सत्य के बल पर टिकी है। सत्य से ही मनुष्यों में अग्नि प्रज्वलित होती है। मैंने कभी मिथ्या वचन नहीं कहा। सज्जन लोग सत्य की ही पूजा करते हैं। सब देवता, मुनि और मनुष्य सत्य से ही पूजनीय बनते हैं, ऐसी मेरी मान्यता है:

सत्येन मे द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं,
सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति।
सर्वे च देवा मुनयश्च लोकाः
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम्। (आदि० ८८।२४)

६ : : पौरव-राज-वंशावली

महात्मा ययाति के वंशधर पुत्र पुरु के नाम से कुरु पांडवों का वंश पौरव कहलाया। ययाति का चरित सुनकर जनमेजय ने यह जिज्ञासा

की—'भगवन्, पुरु के वंश में जो प्रतापी वंशकर्त्ता नृपति हुए, उनके पराक्रमशाली चरित मैं सुनना चाहता हूं। इस वंश में निर्वीर्य शीलहीन कोई राजा नहीं सुना जाता। विज्ञानशाली उन यशोधन राजाओं के जो प्रथित चरित्र हों उनका कृपया बखान करें।"

यह सुनकर वैशम्पायन ने कहा, "पुरु के वंशधर वीर पुरुष इन्द्र के सदृश तेजस्वी हुए। उन लक्षणवान् राजाओं के विषय में मैं तुमसे कहता हूं।"

इस भूमिका के साथ महाभारतकार ने पौरववंश के राजाओं की दो सूचियां दी हैं। एक ८६वें अध्याय में और दूसरी ६०वें अध्याय में। इनमें से पहली सूची पुराणों के साथ अधिक मिलती है। प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति की छानबीन करने वाले पार्जिटर महोदय ने पौरव-राज-वंशावली पर विस्तार से विचार करते हुए इस सामग्री को विश्वसनीय ठहराया है।

पौरव राजाओं की नामावली आठ पुराणों में पाई गई है—वायु (अ० ६६); ब्रह्मांड (अ० १३); हरिवंश (अ० ३१, ३२); मत्स्य (अ० ४६); विष्णु (अ० ४।१६); अग्नि (अ० २७७); गरुड़ (१।१४०); और भागवत (६।२०)। इस राजावली के मोटे तौर पर तीन भाग किये जा सकते हैं—प्रथम भाग पुरु से अजमीढ़ तक; दूसरा, अजमीढ़ से कुरु-तक और तीसरा, कुरु से पांडवों तक।

पौरव-राजावली का प्रथम भाग—पुरु से अजमीढ़ तक

पुराणों के साथ तुलनात्मक अनुसंधान से इस वंशावली का रूप कुछ इस प्रकार ठहरता है :

मनु—इला—पुरुरवा—आयु—नहुष—ययाति—पुरु—जनमेजय प्रथम—प्रचिन्वन्त—प्रवीर—मनस्यु—अभयद—सुधन्वन्—धुन्ध—बहुगव—संयाति—अहंयाति—रुद्राश्व—ऋचेयु—मतिनार—तंसु।

पुरु से मतिनार तक के नामों के विषय में पुराण प्रायः सर्वसम्मत हैं। मतिनार अति प्रतापी राजा थे। उनके बाद तंसु के समय में इस वंश का सौभाग्य विलुप्त हो गया। लगभग इसी समय अयोध्या में सूर्यवंश के युवनाश्व और मान्धाता प्रतापी और विजिगीषु राजा हुए। संभवतः पौरवों

का राज्य इक्ष्वाकुओं के वर्धमान चक्र में विलीन हो गया।

तंसु से दु:षन्त तक की राजावली अनिश्चित और लुप्त है। केवल इतना ज्ञात होता है कि इलिना नाम की एक तेजस्विनी स्त्री हुई। उसके पौत्र दु:षन्त थे। महाभारत में इलिना को तंसु का पुत्र ईलिन मान लिया गया है, जो पुराणों के अनुसार भ्रान्त है। दु:षन्त ने पौरवों की विचलित राज्य-लक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठापित किया।

दु:षन्त से हस्तिन् (जिनका दूसरा नाम बृहत् था) तक की राजावली महाभारत और पुराणों में बहुत कुछ मिलती है, जो इस प्रकार है :

दु:षन्त—भरत—(भारद्वाज)—वितथ—भुवमन्यु या भुवन्यु—बृहत्क्षत्र—सुहोत्र—हस्तिन्—अजमीढ़।

पौरव-राजावली का दूसरा भाग—अजमीढ़ से कुरु तक

हस्तिन् ने हस्तिनापुर बसाया। उनके दो पुत्र हुए—अजमीढ़ और द्विमीढ़। अजमीढ़ हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे और उन्होंने पौरवों के मूलवंश को आगे बढ़ाया। द्विमीढ़ से एक छोटा वंश अलग चला, जिसमें यवीनर, धृतिमान् आदि राजा हुए। अजमीढ़ से कुरु तक के राजाओं को लेकर पौरव राजावली के नाम पुराणों में एक-से हैं। अजमीढ़ के तीन पुत्र हुए। प्रत्येक से एक-एक वंश चला। सबमें ज्येष्ठ ऋक्ष हस्तिनापुर की राज-आसन्दी पर बैठे।

ज्ञात होता है कि यहां ऋक्ष के पहले और पीछे राजाओं के नाम लुप्त हो गए हैं। ऋक्ष के पहले की आठ पीढ़ियां और बाद की छः पीढ़ियां अन्य वंशों के साथ समसामयिकता का मिलान करते हुए खोई हुई जान पड़ती हैं। ऋक्ष के वंश को आगे चलानेवाले वंशकर पुत्र संवरण हुए। इनके समय में पौरव-राज्य को विपत्ति का सामना करना पड़ा। प्रजाओं का भारी संक्षय हुआ और राष्ट्र को नानाविध नाश ने ग्रस लिया। पंचाल के राजा ने हस्तिनापुर को दबोच लिया और संवरण भागकर महान् सिन्धु-नद के पास कहीं पर्वतों में जा छिपे।

वहां बहुत कालतक रहने के बाद कभी राजा की वसिष्ठ ऋषि से भेंट हुई। संवरण ने उनका स्वागत-सत्कार करके प्रार्थना की, "भगवन्, आप

हमारे पुरोहित बनें तो मैं राज्य-प्राप्ति के लिए पुन: प्रयत्न करूं।" वसिष्ठ ने प्रार्थना स्वीकार की और अपने प्रयत्न एवं युक्ति से पौरवों को पुनः उनके राज्य में प्रतिष्ठित किया। सब राजा लोग फिर से उन्हें बलि देने लगे।

संवरण की सुन्दरी रानी का नाम तपती था। उससे कुरु नामक पुत्र हुआ। समय आने पर प्रजाओं ने उसे धर्मज्ञ जानकर राजा वरण किया। उसीके नाम से कुरु-जांगल प्रदेश विख्यात हुआ और तपस्वी कुरु ने ही अपने तप से कुरुक्षेत्र को पवित्र किया।

इस प्रकार कुरु-पांडववंश के संबंध में तीन नामों की व्युत्पत्ति मिल जाती है। वे पुरु से पौरव, भरत से भारत और कुरु से कौरव कहलाए।

पौरव वंशावली में अजमीढ़ का नाम महत्वपूर्ण है। उनके वंशज होने के कारण धृतराष्ट्र आदि को महाभारत में प्राय: आजमीढ़ भी कहा गया है। उन्हीं अजमीढ़ के दो पुत्र नील और बृहदश्व हुए। नील ने गंगा के उत्तर अहिच्छत्रा में उत्तर पंचाल का राज्य स्थापित किया। छोटे बृहदश्व ने गंगा के दक्षिण तट से चर्मण्वतीतक के प्रदेश में दक्षिण पंचाल राज्य की स्थापना की, जिसकी मुख्य राजधानी काम्पिल्य थी और दूसरी काकन्दी नाम की नगरी थी।

इस प्रकार हस्तिनापुर एवं उत्तर-दक्षिण पंचाल इन तीनों वंशों के नृपति अपने समान पूर्व-पुरुष भरत चक्रवर्ती के नाम से भारत कहलाने लगे। यहां स्मरणीय है कि अजमीढ़ से कुरुतक के दीर्घकाल में लगभग 'पंद्रह पीढ़ियों का जो युग है उसमें हस्तिनापुर की मुख्य पौरव छत्रावली प्राय: सूनी है। शक्ति का केंद्र हटकर उत्तर पंचाल में चला गया था। यहीं नील के वंश में वे प्रतापी सम्राट् हुए, जिनके नामों की गूंज बार-बार ऋग्वेद के मंत्रों में सुनाई पड़ती है।

इस वंश के संबंध में न केवल सब पुराण एकमत हैं, वरन् इन नामों को ऋग्वेद से जो समर्थन प्राप्त होता है उससे पुराण वंशावली की विश्वसनीयता दृढ़ता से प्रमाणित हो जाती है। उत्तर पंचाल के इस सुप्रथित देश में भृम्यश्व, मुद्गल, वध्र्यश्व, दिवोदास, मित्रयु, सृंजय, च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक नामक राजा हुए।

सोमक हस्तिनापुर के पौरव राजा कुरु के समकालीन थे। भृम्यश्व के

पुत्र मुद्गल का नाम भार्म्यश्व भी था। वध्र्यश्व को ऋक् १०।६६।१ में दिवोदास का पिता कहा गया है। सृंजय (ऋ० ४।१५।४) और च्यवन (ऋ० १०।६६।५६) का भी उल्लेख है। च्यवन का ही दूसरा नाम पंचजन था, जो पिजवन का ही दूसरा पाठ है। उनके पुत्र पैजवन सुदास (ऋ० ७।१८।२२) को दिवोदास का वंशज कहा गया है (ऋ० ७।१८।५५)। सुदास के सहदेव और सहदेव के सोमक हुए।

इस युग में पंचाल ने हस्तिनापुर के वंश को आत्मसात् कर रखा था और दोनों ही अपने आपको समान रूप से भारत मानते थे।

इसी कारण महाभारत में भी यत्रतत्र कुरु पांडवों को, जो हस्तिनापुर की प्रधान पौरव शाखा में हुए, उत्तर पंचाल के राजाओं के वंशज मानकर सृंजय और सोमक विशेषण दिये गए हैं।

पौरव-राजावली का तीसरा भाग—कुरु से पांडवों तक

हस्तिनापुर का प्रधान पौरव शाखा में कुरु के जन्म लेने पर इस वंश का पुनः भाग्योदय हुआ। कुरु के तीन पुत्र हुए—ज्येष्ठ पुत्र परीक्षित् प्रथम, तब जह्नु और सुधन्वा। परीक्षित् प्रथम का पुत्र जनमेजय हुआ। इसी वंश में पहले पुरु के पुत्र का नाम जनमेजय था। अतएव परीक्षित के पुत्र को स्पष्टता के लिए जनमेजय द्वितीय कहना उपयुक्त होगा। अभाग्य-वश इस पारीक्षित जनमेजय की गार्ग्य ऋषि से करारी खटपट हो गई, जिस के कारण गार्ग्य ने उसे शाप दिया, और कहा जाता है कि समस्त पौरव प्रजा ने अपने राजा का परित्याग कर दिया। दुःखी पारीक्षित जनमेजय ऋषि इंद्रोत दैवाप शौनक की शरण में गया। ऋषि ने उसे अश्वमेध यज्ञ द्वारा शुद्ध और पुनः प्रतिष्ठित करना चाहा, किन्तु जनमेजय द्वितीय का वंश लुप्त ही हो गया।

इस पारीक्षित जनमेजय के पुत्र श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन तीन पारीक्षितीय थे, किन्तु पिता के अपराध से वंशावली में उन्हें स्थान नहीं मिला। अतएव पौरव राजा कुरु के दूसरे पुत्र जह्नु से अग्रिम वंशावली चली। महाभारत में इसके बाद राजाओं की दो वंशावलियां आपस में अनमिल हैं। मुख्य बात यह है कि दूसरी वंशावली में सार्वभौम आदि दस

राजाओं के नाम जो पारीक्षित जनमेजय के बाद आने चाहिए, किसी गड़-बड़ी के कारण मतिनार से पहले गिना दिये गए हैं। महाभारत की प्रथम वंशावली में यह घोटाला नहीं है और पुराणों के साथ उसका पूरा मेल है। उसे संबोधित करके जो छत्र-क्रम निश्चित किया गयाहै, वह इस प्रकार है :

जह्नु का पुत्र सुरथ या विदूरथ—सार्वभौम—जयत्सेन—अराधिन् महाभौम अयुतायुः—अक्रोधन—देवातिथि—ऋक्ष द्वितीय—भीमसेन—दिलीप—प्रतीप (ऋष्टिषेण)—शान्तनु—(भीष्म)—विचित्रवीर्य—धृतराष्ट्र—पांडक—अभिमन्यु, परीक्षित् द्वितीय—जनमेजय तृतीय।

यही पौरव वंशावली का मूल ठाठ है, जिसमें ययातिपुत्र पुरु से लेकर अभिमन्यु तक के राजाओं की आनुपूर्वी स्पष्टता से समझी जा सकती है। महाभारत के कथा-प्रसंग में अनेक बार इन नामों की पुनरावृत्ति होती रहेगी। उनके अते-पते के लिए इस प्रकरण की राज-सूची को बार-बार देखना या ध्यान में रखना आवश्यक होगा। इसी कारण अल्परस होते हुए भी आरम्भ में इस विषय का उपन्यास कर दिया गया है।

पार्जिटर महोदय ने पैनी न्यायाधीश बुद्धि से पुराणों की और महाभारत की समग्र उपलब्ध सामग्री का संकलन और तुलनात्मक अध्ययन करके हस्तिनापुर के पौरव और अयोध्या के इक्ष्वाकु आदि प्राचीन राजवंशों की आनुपूर्वी और समसामयिकता का निरूपण किया था। उसीके आधार पर ऊपर का विवेचन किया गया है, जिसके लिए हम उनके अनुगृहीत हैं।

७ : : भीष्म का उदात्त चरित

संभव-पर्व के अवशिष्ट चित्रपट पर हमें एक अमित महिमाशाली विभूति के दर्शन होते हैं। यह महापुरुष बाल ब्रह्मचारी पितामह भीष्म हैं। शांतनु के पुत्र गांगेय भीष्म महाभारत युग की सभ्यता के उत्कृष्ट प्रतीक हैं। उनका जन्मनाम देवव्रत था, बाद में आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत की कठिन प्रतिभा करने के कारण वह भीष्म नाम से विख्यात हुए।

भीष्म का चरित गाम्भीर्य में समुद्र के तुल्य और उच्चता में हिमवान् के समान है। अगाध पांडित्य, अतुलित शरीरबल एवं बहुमुखी प्रज्ञा, जो उस युग की विशेषताएं थीं, इनकी साकार मूर्त्ति भीष्म हैं। वह नानाविध लोक्य धर्मों के भंडार थे; युद्ध की कलाओं में पारंगत और शांति धर्म की युक्तियों में परिनिष्णात थे। राजनीति और दडनीति, अध्यात्म और निःश्रेयस् से संबंधित जीवन और ज्ञान का कोई पक्ष ऐसा नहीं दीखता, जिसका उत्कृष्ट विकास भीष्म के चरित में न पाया जाता हो। महाभारत की घटनाओं का जो भरा-पूरा चलचित्र है, उसके देवकल्प मानवों में पितामह भीष्म महाहिमवंत के ऊंचे शिखर की भांति सर्वाभिभावी रूप में दिखाई पड़ते हैं। उनका निर्मल चरित्र समग्र राष्ट्र की अन्तरात्मा में व्याप्त हो गया है। यद्यपि आजन्म ब्रह्मचारी होने के कारण उनका अपना वंश नहीं चला, तथापि प्राचीन भारतीय श्राद्ध-विधि के अनुसार सब व्यक्ति पितामह भीष्म के प्रति शाश्वत श्रद्धा अर्पित करते हैं, मानो वे सबके ही पूर्व पुरुष बन गए हों। भारतीय संस्कृति में जल सुन्दरता, पवित्रता और सत्यता का प्रतीक है। इन तीन गुणों से युक्त भीष्म के लिए हम सब अपनी सांवत्सरिक जलांजलि अर्पित करते हैं। महाभारत-युग में भी भीष्म के समान दूसरा कोई ज्ञानी न था। शांति-पर्व और अनुशासन-पर्व के राजधर्म और मोक्ष-धर्मों से संबंध रखनेवाले संवाद महामहिम भीष्म की विशाल प्रज्ञा के अमर कीर्त्तिस्तम्भ हैं।

भीष्म का जन्म

पौरव-वंश में प्रतीप नामक राजा हुए। उनके तीन पुत्र थे—देवापि, शन्तनु और बाल्हीक। ज्येष्ठ पुत्र देवापि ने वैराग्यवान् होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। तब शन्तनु ने राज्य ग्रहण किया। इन्हीं शन्तनु के पुत्र देवव्रत भीष्म थे।

कथा है कि एक बार राजा प्रतीप गंगातट्वासी होकर जप करने लगे। उनकी लुभावनी आकृति देखकर दिव्यरूपा एक मनस्विनी सुन्दरी उनके समीप आई। राजा ने पूछा, "हे कल्याणी, तुम्हारी क्या इच्छा है ? मैं तुम्हारा क्या अभीष्ट पूरा करूं ?"

उस सुन्दरी ने कहा, "हे राजन्, मैं तुम्हें चाहती हूं। तुम मुझे स्वीकार करो। कामवती स्त्री का त्याग अनुचित माना गया है।"

प्रतीप ने कहा, "हे सुन्दरी, मेरा व्रत है कि मैं कभी कामवश होकर पराई और असवर्णा स्त्री का संपर्क न करूंगा।"

स्त्री ने कहा, "राजन्, मैं किसी प्रकार हीन नहीं और न अगम्या हूं; मेरा विवाह नहीं हुआ है, मैं अभी कुमारी हूं, अतएव मुझे स्वीकार करो।"

प्रतीप ने उत्तर दिया, "तुम्हारी यह प्रिय प्रार्थना मेरे चरित्र से बाहर की बात है। धर्म का विप्लव मुझसे न होगा, और फिर तुम मेरे दक्षिण उरु भाग की ओर आकर बैठी हो, जो कि पुत्री और पुत्रवधू का स्थान है। स्त्रियों के लिए वाम भाग उचित स्थान है, वह तुमने छोड़ दिया। अतएव मैं अपने पुत्र के लिए तुम्हें स्वीकार करता हूं। हे कल्याणी, तुम मेरी पुत्रवधू बनो।" उस स्त्री ने यह सुनकर तुरन्त स्वीकृति देदी।

प्रतीप के शन्तनु नामक पुत्र ने जब यौवन में पदार्पण किया तब पिता ने पुत्र से कहा, "हे शन्तनु, पहले एक स्त्री मेरे पास आई थी और मैंने उसे तुम्हारे कल्याण के लिए स्वीकार कर लिया था। यदि एकान्त में वह तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो तो मेरी आज्ञा से तुम उसे स्वीकार कर लेना।" पुत्र से ऐसा कह और उसका राज्याभिषेक करके प्रतीप स्वयं वनवासी हो गए।

पृथिवी में प्रख्यात धनुर्धर राजा शन्तनु मृगयाशील बनकर एक बार गंगातट पर विचर रहे थे। वहां उन्होंने उसी रूपवती स्त्री को देखा और मोहित होकर बोले, "हे सुरसुन्दरी, तुम देवी, गन्धर्वी, अप्सरा, यक्षी या मानुषी कोई भी हो, तुम मेरी भार्या बनो।"

यह सुनकर उस स्त्री ने मन्द मुस्कान से चित्त प्रसन्न करते हुए कहा, "हे महीपाल, मैं तुम्हारी वशवर्तिनी पटरानी बनूंगी, किन्तु एक शर्त है—शुभ या अशुभ मैं कुछ भी करूं, मुझे रोकना मत और न कोई अप्रिय वचन कहना। इस प्रकार तो मैं तुम्हारे समीप वास करूंगी, अन्यथा छोड़कर चली जाऊंगी।" राजा ने इसे स्वीकार किया।

वह स्त्री साक्षात् स्वर्ग की नदी दिव्य-रूपिणी गंगा थी, जिसे शापवश मानुषी शरीर में आना पड़ा था। उसके साथ संवत्सरों तक यथाकाम

विहार करते हुए राजा ने आठ पुत्र उत्पन्न किए। जन्म के बाद प्रत्येक पुत्र को वह गंगाजल में डाल देती थी। शन्तनु को यह बात अच्छी न लगी, किन्तु त्याग के भय से कुछ कह न सके। जब आठवें पुत्र का जन्म हुआ तब वह उसी प्रकार मुस्कराई, किन्तु राजा दुःख से व्यथित हो गए और उन्होंने पूछा, "तुम पुत्रों की हिंसा क्यों करती हो? यह महापाप मत करो।"

स्त्री ने उत्तर दिया, "हे पुत्रकाम, तुम्हारे पुत्रों को अब मैं न मारूंगी। मेरा यहां निवास अब समाप्त हुआ, जैसा हम दोनों का वचन था। ये आठ पुत्र अष्ट वसुओं के अवतार थे। मैं स्वयं गंगा हूं। इनकी धात्री और जननी होने के लिए मानुषी रूप में आई थी। इन्हें शाप से मुक्त करने के लिए जन्म के अनन्तर इन्हें मैं जल में डालती रही हूं। मेरा यह अन्तिम पुत्र है, इसका तुम पालन करना। मैं अब जाऊंगी। तुम्हारा कल्याण हो।" यह कहकर वह देवी अपने पुत्र को लेकर अन्तर्धान हो गई और शन्तनु नगर को लौट आये। शन्तनु का यह पुत्र देवव्रत और गांगेय इन दो नामों से प्रसिद्ध हुआ।

देवव्रत गांगेय माता के साथ रहते हुए रूप, कर्म वृत्त और ज्ञान से युक्त होकर पार्थिव और दिव्य सब अस्त्रों में निष्णात हो गए और महाबल, महासत्त्व, महावीर्य और महारथ कहलाने लगे। एक बार शन्तनु मृगया के लिए गंगातीर पर विचरते हुए क्या देखते हैं कि नदी का प्रवाह रुक गया है। इसका कारण जानने के लिए उन्होंने इधर-उधर देखा तो उन्हें एक रूपसम्पन्न वृहदाकार कुमार दिखाई पड़ा, जो दिव्य अस्त्रों का अभ्यास कर रहा था। उसने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से गंगा को भर दिया था। उसके इस अतिमानवी कर्म से राजा विस्मित हो गए। उन्होंने अपने पुत्र को जन्म के बाद एक बार ही पहले देखा था, अतएव वह उसे पहचान न सके। वह कुमार उन्हें देखकर अदृश्य हो गया।

कुछ देर में गंगा उस अलंकृत कुमार को लेकर सामने उपस्थित हुई और बोली, "राजन्, जिस आठवें पुत्र को पूर्व अकाल में आपने उत्पन्न किया था, वही यह है। आप कृपया इसे घर ले जायं। इसने वसिष्ठ से सांग वेदों का अध्ययन किया हैं। यह महाधनुर्धारी और अस्त्रविद्या में अभ्यस्त है तथा

देव और असुर सब इसका आदर करते हैं। उशना कवि जिस शास्त्र को जानते हैं और अंगिरा के पुत्र बृहस्पति जिस शास्त्र के ममर्ज्ञ हैं, वे निखिल शास्त्र इस महाबाहु में प्रतिष्ठित हैं। प्रतापी जामदग्न्य राम जिस अस्त्र को जानते हैं, वह भी इसको प्राप्त है। राजधर्म एवं अर्थशास्त्र के पंडित महाधनुर्धर इस पुत्र को मैं आपको अर्पित करती हूं। आप इस वीर को घर ले जायं।"

उसके ऐसा कहने पर पौरवराज शन्तनु अपने पुत्र के साथ हस्तिनापुर को लौट आये। वहां उन्होंने पौरवों के समक्ष युवराज पद पर उसका अभिषेक किया। देवव्रत ने भी अपने आचार से पिता, पौरव प्रजा और राष्ट्र का अनुरंजन किया।

सत्यवती-शन्तनु-विवाह

इस प्रकार चार वर्ष व्यतीत होने पर एक बार शन्तनु यमुना के किनारे वन में गए। वहां उन्हें एक ओर से उग्र गंध आती हुई जान पड़ी। उसकी खोज में चलते हुए उन्हें देवरूपिणी एक कन्या दिखाई दी। उन्होंने पूछा, "हे सुंदरी, तुम किसकी पुत्री हो और क्या करती हो?"

कन्या ने उत्तर दिया, "मैं दाशों के राजा की पुत्री हूं और पिता की आज्ञा से धर्मार्थ नाव चलाकर लोगों को पार उतारती हूं। यह मेरा कुतूहल है।"

उसके रूपमाधुर्य और शरीरसौरभ से लुब्ध होकर शन्तनु उस पर मोहित हो गए और उसके पिता से उन्होंने उसकी याचना की। दाशराज ने उत्तर दिया, "मैं इसके जन्म से ही इसे किसी योग्य वर को देने की इच्छा करता रहा हूं, पर मेरे हृदय में एक कामना है, उसे सुनो। यदि तुम इसे अपनी धर्मपत्नी बनाना चाहते हो तो सत्यपरायण होकर मेरे साथ शर्त करो। प्रतिज्ञा के साथ ही मैं तुम्हें यह कन्या दे सकता हूं।"

शन्तनु ने कहा, "अपना वर बताओ, उसे मैं पूरा कर सकूंगा या नहीं; यदि देने योग्य होगा तो दूंगा, अदेय होगा तो नहीं।"

दाशों के राजा ने कहा, "इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही राजा बनेगा। तुम्हारे बाद उसीका अभिषेक किया जायगा, दूसरे का

नहीं।"

उसकी यह बात सुनकर शन्तनु ने काम से पीड़ित होते हुए भी उस वर को स्वीकार करना ठीक न समझा और वह शोक से भरकर हस्तिनापुर लौट आये।

पुत्र देवव्रत ने अपने पिता को सोच करते हुए देख समीप आकर पूछा, "सब राजा आपसे क्षेम की कामना करते हैं। स्वयं आप दुःखी होकर निरन्तर क्या सोचते हैं ?"

शन्तनु ने उत्तर दिया, "तुम ठीक कहते हो, अवश्य ही मैं सोच में पड़ा हूं। हमारे इस महान कुल में तुम अकेली सन्तान हो। मनुष्य के मर्त्य शरीर का कुछ ठिकाना नहीं, यही मैं सोचता हूं। यदि तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति आ गई तो हमारा यह कुल अनहोत हो जायगा। अवश्य ही तुम अकेले सैकड़ों पुत्रों से अच्छे हो और मैं भी व्यर्थ में विवाह करना नहीं चाहता, पर सन्तान का विनाश न हो, इसीलिए सोचता हूं कि विवाह कर लूं। भगवान तुम्हारी रक्षा करें। धर्मवादियों के अनुसार एक पुत्र का होना न होने के बराबर है। अग्निहोत्र, तीनों वेद और दक्षिणायुक्त यज्ञ, ये सब सन्तान की तुलना में तनिक भी महत्त्व नहीं रखते। अपत्य के बारे में सब मनुष्य और प्रजाएं ऐसा ही समझती हैं, मुझे भी उसमें संदेह नहीं। पुराने और अच्छे लोगों की सम्मति में अग्निहोत्र, वेद और यज्ञ इस त्रयी का नित्य कारण सन्तान ही है। हे पुत्र, तुम शूर हो, सदा अमर्ष से भरे हुए शस्त्रधारी हो। शस्त्र के अतिरिक्त तुम्हारे निधन का दूसरा अवसर न होगा। यही खटका मुझे बना रहता है कि तुम्हारे शांत होने पर कुल कैसे चलेगा ?"

महाबुद्धि देवव्रत को जैसे ही पिता की चिन्ता का यह कारण विदित हुआ, उनके मन में सारी परिस्थिति स्फुरित हो उठी। वृद्ध क्षत्रियों को साथ लेकर वह स्वयं कैवर्तराज के पास पहुंचे और अपने पिता के निमित्त उस कन्या की याचना की। दाशराज ने विधिवत् स्वागत-सत्कार करके अपनी राजसंसद् के समक्ष देवव्रत से कहा, "तुम अपने पिता के समर्थ पुत्र हो। ऐसे सुन्दर संबंध को कौन टालना चाहेगा ? यह सत्यवती आर्य वसु उपरिचर की संतति है, अतएव मैंने तुम्हारे पिता से कह दिया था

कि सब राजाओं में वही इसके साथ विवाह के योग्य हैं; किन्तु कन्या का अभिभावक पिता होने के कारण मैं कुछ कहना चाहता हूं। इस संबंध में एक ही भारी दोष मैं देखता हूं। तुम जिसके सपत्न हो जाओ वह कभी सुख से न जी सकेगा। यदि तुम्हारा याचित दान मैं न दे सकूं तो भी तुम्हारा कल्याण चाहता हूं।"

इतना सुनते ही गांगेय देवव्रत का मन प्रदीप्त विचारों से भर गया और तेजस्वी संकल्प से उनके नेत्र चमक उठे। वह बोले, "सब राजा लोग सुनें। पिता के लिए मेरे इस सत्य मत को कृपया स्वीकार करें। हे दाशराज, जैसा तुम कहते हो, मैं वैसा ही करूंगा। इससे जिस पुत्र का जन्म होगा वही हमारा राजा बनेगा।"

इतना सुनकर दाशराज ने फिर कहा, "हे भरतर्षभ, राज्य के विषय में तुम्हारा यह दुष्कर कर्म है। शन्तनु की ओर से कुछ करने में तुम्हीं समर्थ हो और तुम्हारी ही यह शक्ति है कि उनके लिए यह कन्या प्राप्त कर सको। पर राजकुमारों के संबंधियों का जो स्वभाव होता है उसके कारण एक बात मुझे कहनी पड़ती है। हे सौम्य, सुनो, अन्यथा मत समझना। सत्यवती के लिए राजाओं के मध्य में तुमने जो प्रतिज्ञा की है, वह तुम्हारे अनुरूप है। वह अन्यथा न होगी। पर तुम्हारी जो संतान होगी, उसके विषय में मुझे संदेह है।"

उसका इतना मत जानते ही सत्यधर्मपरायण गांगेय देवव्रत ने उसी समय प्रतिज्ञा की, "हे दाशराज, मेरा वचन सुनो। पिता के लिए जो मैं कहता हूं, सब राजा भी उसे सुनें। राज्य तो मैंने पहले ही त्याग दिया है। संतान के विषय में अब मैं यह निश्चय करता हूं:

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि॥ (आदि ९४।८८)

"आज से मैं ब्रह्मचर्य धारण करूंगा। बिना पुत्र के भी मुझे अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी।"

उसकी यह प्रतिज्ञा सुनकर दाशराज रोमांचित हो उठे और बोले, "मैं कन्या को राजा के लिए देता हूं।" उसी समय देवों ने अन्तरिक्ष से पुष्प-वृष्टि की और आकाशवाणी हुई—"यह कुमार अब भीष्म कहलायगा।"

तब भीष्म ने यशस्विनी सत्यवती से कहा, "माता, रथ पर बैठो। आओ, स्वगृह को चलें।" इसके पश्चात हस्तिनापुर लौटकर उन्होंने पिता शन्तनु के चरणों में सत्यवती को समर्पित किया। उनके उस दुष्कर कर्म की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। शन्तनु ने भीष्म के उस दुष्कर कर्म से प्रसन्न होकर स्वयं वरदान दिया—"हे पुत्र, तुम्हें इच्छा-मरण प्राप्त हो।"

विचित्रवीर्य का विवाह और देहान्त

सत्यवती और शन्तनु का विवाह हो जाने पर उनके चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। विचित्रवीर्य छोटे ही थे कि शन्तनु कालधर्म को प्राप्त हो गए। तब भीष्म ने सत्यवती की सम्मति से चित्रांगद को राजा बनाया। चित्रांगद ने अपने शौर्य के दर्प से सब राजाओं को चुनौती दी। वह अपने बराबर किसीको भी न समझता था। उसकी उस चुनौती को सुनकर गंधर्व देश का बलवान राजा कुरुक्षेत्र पर चढ़ आया और हिरण्यवती नदी के तीर पर तीन वर्ष तक दोनों का घोर संग्राम होता रहा, जिसमें गंधर्वराज के हाथ से कुरुराज की मृत्यु हो गई। भीष्म ने विधिपूर्वक उसका प्रेतकार्य कराया। छोटे भाई विचित्रवीर्य उस समय बालक थे, फिर भी भीष्म ने कुरुराज के आसन पर उनका अभिषेक कर दिया और स्वयं सत्यवती की सम्मति से राज्य का पालन करने लगे।

विचित्रवीर्य के युवा होने पर भीष्म को उनके विवाह की चिन्ता हुई। उन्हें विदित हुआ कि काशिराज की तीन कन्याओं का स्वयंवर होनेवाला है। माता की आज्ञा लेकर वह वाराणसीपुरी आये। स्वयंवर में जब राजाओं के नामों का कीर्तन हो रहा था तब भीष्म ने स्वयं उन तीनों कन्याओं का हरणकर उन्हें रथ पर बैठा लिया और राजाओं को ललकारते हुए कहा, "कई प्रकार के विवाह बुद्धिमान पुरुषों ने कहे हैं। क्षत्रिय लोग उनमें से स्वयंवर की प्रशंसा करते हैं और उसमें सम्मिलित होते हैं। धर्मवादियों का मत है कि उसमें भी युद्ध करके जिस कन्या को हर लिया जाय वह सबसे उत्तम है। इसलिए मैं इनको बलपूर्वक लिये जाता हूं। तुममें से जो चाहे, मुझसे युद्ध करे।"

यह कह उन्होंने रथ चला दिया। सब राजा क्रुद्ध हो गए। आभूषण

उताकर उन्होंने कवच पहना और रथ पर चढ़कर भीष्म का पीछा किया। उन सबका अकेले भीष्म के साथ लोमहर्षण संग्राम हुआ। सबको जीतकर भीष्म कन्याओं के साथ भरतवंशी क्षत्रियों के पास लौट आये। पीछे से महारथी शाल्वराज ने उनपर प्रचंड आक्रमण किया, मानो हथिनी के कारण कोई गजेंद्र दूसरे गजराज के पृष्ठभाग को अपने दांतों से तोड़ रहा हो। शाल्वराज ने पुकार कर कहा, "ऐ स्त्रीकामुक, ठहर, ठहर।"

उस वाक्य से चोट खाकर भीष्म निर्धूम अग्नि की तरह जलने लगे और शाल्व की ओर अपना रथ मोड़ दिया। भीष्म और शाल्व गरजते हुए दो सांडों के समान भिड़ गए। भीष्म ने शाल्व के सारथी, रथ और अश्वों का निपात करके उसे जीवित ही छोड़ दिया और स्वयं हस्तिनापुर लौट आये।

उन कन्याओं को धर्मात्मा भीष्म ने अपनी पुत्री, बहन और पुत्रवधू के भाव से ही ग्रहण किया था। अतएव अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए उन्हें अर्पित कर दिया और सत्यवती की सम्मति से विचित्रवीर्य के विवाह का प्रबन्ध किया।

तब काशीपति की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा ने कहा, "मैंने सौभपति शाल्व को मन से अपना पति वर लिया था। वह भी मुझे चाहता था। मेरे पिता की भी यही इच्छा थी। स्वयंवर में मैं उसे ही वरती। हे धर्मज्ञ, यह जानकर धर्म का पालन करो।"

यह सुनकर भीष्म सोच में पड़ गए। वेदज्ञ ब्राह्मणों के साथ मंत्रणा करके उन्होंने अम्बा को जाने की आज्ञा दे दी तथा अम्बिका और अम्बालिका का विचित्रवीर्य के साथ विवाह कर दिया। दोनों कन्याएं अनुरूप पति पाकर प्रसन्न हुईं। सौंदर्य में अश्विनीकुमार के समान विचित्रवीर्य सात वर्ष तक उनके साथ रमण करता रहा। तरुण होने पर भी अन्त में वह यक्ष्मा से ग्रसित हो गया। आप्त चिकित्सकों के उपाय विफल होने पर वह सूर्य के समान अस्त होकर यमलोक सिधार गया।

कुल-तंतु के लोप की समस्या

इस मर्मभेदी घटना से सत्यवती अत्यंत दीन और दयनीय दशा को

प्राप्त हो गई। दोनों पुत्रवधुओं के साथ उसने पुत्र के लिए प्रेतकार्य किया। फिर उस मानिनी ने धर्माचार, पितृवश, मातृवंश, इन सबकी आवश्यकताओं को सोचकर गांगेय भीष्म से यह कहने का साहस किया, "यशस्वी शन्तनु का पिण्ड, कीर्ति और सन्तान अब तुम पर ही निर्भर हैं। जिस प्रकार शुभ कार्य करने से स्वर्ग-प्राप्ति ध्रुव है, जिस प्रकार प्राणियों की आयु ध्रुव है, वैसे ही सत्यात्मा, तुममें धर्म की स्थिति ध्रुव है। हे धर्मज्ञ, समास और विस्तार से तुम धर्मों को जानते हो, विविध श्रुतियों को जानते हो और सब वेदों को भी जानते हो। धर्म में तुम्हारी स्थिति और अपने कुल के आचार को मैं देखती हूं तथा यह भी सोचती हूं कि कठिन स्थिति में भी तुम शुक्राचार्य और बृहस्पति के समान उपाय करने में समर्थ हो। इसलिए अपने मन को धीरज देकर तुमसे कुछ कहती हूं। सुनकर उसे ग्रहण करना। मेरा पुत्र और तुम्हारा प्रिय भाई अपुत्र ही स्वर्ग चला गया। ये दोनों रानियां रूप-यौवन से युक्त हैं और पुत्र के लिए सकाम हैं। हे भारत, हमारे कुल की संतति के लिए इनमें अपत्य उत्पन्न करो। हे महाभाग, मेरा वचन मानकर तुम इस धर्म में प्रवृत्त हो। राज्य में अपने-आपको अभिषिक्त करो और भरतों की रक्षा करो।"

सत्यवती के यह वचन सुन धर्मात्मा भीष्म ने कहा, "हे माता, निःसन्देह तुमने धर्म की बात कही है, किन्तु सन्तान के संबंध में तुम मेरी उस परम प्रतिज्ञा को जानती हो। तुम यह भी जानती हो कि तुम्हारे विवाह के पूर्व तुम्हारे पिता ने क्या शुल्क मांगा था और उस समय क्या घटना घटी थी। हे सत्यवती, आज मैं पुनः तुम्हारे सामने वही सत्य प्रतिज्ञा करता हूं। मैं त्रिलोकी को चाहे छोड़ दूं, देवों का राज्य भी त्याग दूं, अथवा इन दोनों से अधिक भी किसी वस्तु को त्याग दूं, किन्तु सत्य को कभी न छोड़ूंगा। चाहे पृथिवी अपनी गंध छोड़ दे, वायु स्पर्श गुण छोड़ दे, सूर्य प्रभा छोड़ दे, धूमकेतु उष्णता छोड़ दे, आकाश शब्द छोड़ दे, सोम शीतल रश्मियां छोड़ दे, इन्द्र पराक्रम छोड़ दे, किन्तु मैं सत्य को कभी नहीं छोड़ सकता।"

पुत्र का यह तेजस्वी वचन सुनकर माता सत्यवती ने भीष्म से कहा, "मैं सत्य के विषय में तुम्हारी टेक जानती हूं। मैं यह भी जानती हूं कि मेरे कारण तमने पहले जो कहा था वह सत्य ही था, पर अब आपद्धर्म

का विचार करके पितृ-पितामह से प्राप्त इस भार को सम्हालो, जिससे कुल-तंतु का लोप न हो और धर्म का भी पराभव न हो।"

इस प्रकार दीन बनकर गिड़गिड़ाती हुई और सन्तान के लिए धर्म-विरहित वचन कहती हुई अपनी माता से भीष्म ने फिर कहा, "हे महा-रानी, धर्मों का विचार करो। हम सबका नाश मत सोचो। क्षत्रिय के लिए सत्य से डिग जाना धर्म में नहीं गिना जाता। हे राज्ञी, मैं वह क्षात्र-धर्म तुमसे कहता हूं, जिससे शान्तनु का वंश पृथिवी पर अक्षय होगा। कृपया उसे सुनो और फिर आपद्धर्म के जाननेवाले बुद्धिमान पुरोहितों के साथ लोक-मर्यादा का विचार करते हुए उसका पालन करो। लोक में इसके अनेक दृष्टांत हैं कि आपद्धर्म के समय क्षत्रिय स्त्रियों ने ब्राह्मणों से संतति उत्पन्न की। हे माता, भरत-वंश की वृद्धि के लिए तुम भी ऐसा ही करो। किसी गुणवान् ब्राह्मण को उपनिमंत्रित करो, जो स्वर्गस्थ विचित्रवीर्य के क्षेत्र में प्रजा समुत्पन्न करे।"

द्वैपायन व्यास को आमंत्रण

यह सुनकर सत्यवती बात को संवारती हुई, कुछ हँसकर, कुछ लजाकर, कहने लगी, "हे भीष्म, तुम जैसा कहते हो, सच है। पर तुम पर भरोसा करके कुल-संतति के लिए एक बात कहती हूं, उसे अस्वीकार न करना, क्योंकि यह आपत्ति का समय ऐसा ही है। तुम्हीं हमारे कुल के धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं परम गति हो। इसलिए मेरी बात सुनकर जो कर्त्तव्य हो, करो। हे धर्मात्मन्, मेरे पिता की एक धर्मार्थ नाव चला करती थी। प्रथम यौवन के समय एक बार मैं ही उसे चला रही थी। तब यमुना के पार जाने के लिए महर्षि पराशर मेरी उस डोंगी पर आ गए। यमुना पार करते हुए उन्होंने कामार्त होकर मुझसे कुछ मीठी बातें कीं। मैं एक ओर उनके शाप से डरी, दूसरी ओर अपने पिता से; पर सहसा प्रत्याख्यान न कर सकी। मुनि ने मुझ बाला को अपने तेज से वश में कर लिया और चारों ओर अंधेरा छाकर नाव में ही मुझमें गर्भ का निधान कर दिया। उससे महा-योगी पाराशर्य महान् ऋषि का जन्म हुआ, जो मेरी कन्यावस्था के पुत्र हैं। वह सत्यवादी व्यास मेरे और तुम्हारे अनुरोध को मानकर भाई की इन

स्त्रियों से अवश्य ही कल्याणयुक्त सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। उन्होंने मुझसे कहा था कि जब कार्य हो, मुझे स्मरण करना। हे भीष्म, यदि तुम चाहो तो मैं उनका स्मरण करूं।"

व्यास का नाम लेने पर भीष्म ने हाथ जोड़कर कहा, "धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों के परस्पर अनुकूल संबंधों को और विपरीत भावों को सोचकर बुद्धिपूर्वक जो कार्य करता है, वही बुद्धिमान है। धर्म से युक्त और कुल के लिए हितकारी जो श्रेयस्कर बात तुमने कही है, वह मुझे रुचिकर है।"

भीष्म के ऐसा कहने पर सत्यवती ने कृष्णद्वैपायन का स्मरण किया और वह वहां आकर उपस्थित हो गए।

पुरोहित ने विधिपूर्वक उनकी पूजा की और सत्यवती ने कुशलप्रश्न के अनन्तर कहा, "पुत्रों का जन्म माता और पिता दोनों से ही होता है। पिता जैसे उनके स्वामी हैं, माता भी वैसी ही है। विधाता ने तुम्हें मेरा पहला पुत्र बनाया था। विचित्रवीर्य मेरा छोटा पुत्र था। पिता के अंश से जैसे भीष्म हैं, माता के अंश से वैसे ही तुम विचित्रवीर्य के भाई हो। यह भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञा के कारण सन्तान की इच्छा नहीं करते। तुम भाई के हित के लिए, कुल के वर्द्धन के लिए, भीष्म के वचन से, मेरी आज्ञा से, भूतों पर दया करके सबकी रक्षा के लिए जो मैं कहूं, उसे करो। तुम्हारे छोटे भाई की दो स्त्रियां पुत्रकामा हैं। हे तात, तुम उनमें अपत्य उत्पन्न करो।"

यह सुनकर व्यास ने उत्तर दिया, "हे सत्यवती, तुम परम धर्म और लौकिक धर्म भी जानती हो। धर्म में तुम्हारी बुद्धि है, अतएव धर्म का उद्देश्य रखकर तुमने जो आज्ञा दी है, मैं उसका पालन करूंगा।"

इस प्रकार स्वीकृति देकर व्यास ने अम्बिका से धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया, किन्तु वह जन्म से अंधे थे। सत्यवती ने पुनः व्यास से निवेदन किया, "हे पुत्र, अंधा व्यक्ति कुरुओं का राजा नहीं बन सकता। अतएव कुरुवंश के लिए एक अन्य पुत्र उत्पन्न करो, जो राजा बन सके।"

तब व्यास द्वारा अम्बालिका के गर्भ से पाण्डु का जन्म हुआ, जो जन्म से पांडुरोगी थे। इस प्रकार विचित्रवीर्य की पत्नियों में द्वैपायन व्यास द्वारा कुरुवंश का विवर्धन करनेवाले देवोपम पुत्र उत्पन्न हुए। इसी अवसर पर

ज्येष्ठ रानी की दासी से प्रज्ञावान विदुर का भी जन्म हुआ। तदन्तर वे तीनों कुमार कालक्रम से संवर्द्धित होने लगे।

८ :: कौरव-पाण्डवों का बाल्यकाल

धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीनों कुमारों के जन्म लेने पर पृथिवी में नए प्रकार का जन-मंगल प्रारम्भ हुआ। कुरु-जनपद, कुरु-जांगल और कुरु-क्षेत्र, इन तीन भौगोलिक भागों में बटे हुए भू-प्रदेश का संवर्द्धन हुआ। कुरु-क्षत्रियों ने अपने जनपद में अनेक कूप, आराम, सभा, वापी और ब्राह्मणों के निवास के लिए आवसथ आदि का निर्माण किया।

भीष्म के द्वारा शास्त्रानुकूल राज्य की रक्षा होने पर वह जनपद सब ओर से रमणीय हो उठा। उसमें सैकड़ों चैत्य वृक्ष और यज्ञिय यूप प्रतिष्ठापित हुए। राष्ट्र में धर्मचक्र व्याप्त हो गया। पौर-जानपद लोगों में निरन्तर उत्सव होने लगे। कुरु-मुख्य क्षत्रियों के घरों में एवं पुरवासियों के आवासों में 'दान लीजिए', 'भोजन कीजिए' इस प्रकार का घोष सब ओर सुनाई पड़ने लगा। वणिक और शिल्पी आकर नगर में भर गए। अनेक द्वार, तोरण और प्रासादों से वह पुरी अमरावती के समान सुशोभित हुई।

भीष्म ने जन्म से तीनों कुमारों का परिपालन किया और ब्रह्मचर्य-व्रत एवं अध्ययन सम्बन्धी संस्कार यथासमय किये। धनुर्वेद, घोड़े की सवारी, गजशिक्षा, गदायुद्ध, ढाल-तलवार का कौशल, नीतिशास्त्र, इतिहास-पुराण, वेद-वेदांग और अन्य शिक्षाएं उनके अध्ययन के अन्तर्गत थीं। यथाविधि शारीरिक श्रम और व्यायाम का भी उन्हें अभ्यास कराया गया।

धृतराष्ट्र और पाण्डु का विवाह

क्रमशः वे कुमार यौवन को प्राप्त हुए। भीष्म ने मन में विचार किया, "हमारा यह प्रसिद्ध कुल आज पृथिवी में अन्य सब राजाओं से बढ़कर है। इसे अधिराज्य की प्रतिष्ठा प्राप्त है। अब सब प्रकार फूलते-फलते हुए इस परिवार के इन युवा कुमारों का विवाह-सम्बन्ध करना

चाहिए, क्योंकि ये कुल के तंतु हैं।" भली प्रकार अपने मन में विचार करके और विदुर से परामर्श कर भीष्म ने धृतराष्ट्र का विवाह गांधार देश के राजा सुबल की पुत्री गांधारी से कर दिया। धर्मचारिणी गांधारी ने जब यह सुना कि धृतराष्ट्र नेत्रहीन हैं, तभी से उसने पतिव्रत-धर्म का संकल्प लेकर अपने नेत्रों पर पट्टी बांध ली। उसने यह निश्चय किया कि मैं भोग या सुख के अनुभव में किसी भी प्रकार अपने पति से आगे न जाऊंगी। गांधारराज का पुत्र शकुनि अपनी बहन के साथ बहुत-सा साज-सामान लेकर हस्तिनापुर आया और विधिपूर्वक उसे कौरवों को सौंपकर भीष्म से पूजित हो अपने नगर को लौट गया।

दूसरे कुमार पांडु का विवाह यदुवंश में उत्पन्न शूर की पुत्री और वसुदेव की बहन पृथा से हुआ। शूर ने पृथा को अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को, जिसके संतान न थी, गोद दे दिया था। पिता कुन्तिभोज के घर में कुन्ती ने दुर्वासा नाम के ऋषि को प्रसन्न किया। मुनि दुर्वासा ने उसे एक मंत्र देकर कहा, "इस मंत्र से तुम जिस देव का आवाहन करोगी, उसकी कृपा से तुम्हें पुत्र उत्पन्न होगा।" कुन्ती ने कुतूहलवश कौमार अवस्था में ही सूर्य को बुला लिया। उसके संयोग से कुन्ती के गर्भ से कर्ण का जन्म हुआ। अपने सम्बन्धियों से डरकर कुन्ती ने पुत्र को छिपाने के लिए जल के समीप डाल दिया। एक सूत ने उस शिशु को देखकर उठा लिया और अपनी पत्नी राधा को पालन करने के लिए दे दिया। दोनों ने उस बालक का नाम वसुषेण रखा।

कुछ समय बाद भीष्म को ज्ञात हुआ कि मद्र-जनपद के राजा की पुत्री माद्री रूप में अद्वितीय है। उन्होंने मद्रराज को बहुत-सा धन देकर उसे पांडु के लिए प्राप्त कर लिया और दोनों का विवाह कर दिया।

इधर पांडु ने पृथिवी की दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दशार्ण, मगध, विदेह, काशी, सुह्म और पुण्ड्र देशों के राजा पांडुरूपी अग्नि में भस्म हो गए। अधिराज्य-प्रणाली के अनुसार उन्होंने कुरुदेश के राजा को कर देना स्वीकार किया। धृतराष्ट्र की अनुज्ञा से पांडु ने वह धन भीष्म और सत्यवती के सामने लाकर रख दिया और उनकी अनुमति से धृतराष्ट्र ने अनेक अश्वमेध-यज्ञ किये।

उसके अनंतर पाण्डु मृगया के लिए हिमालय के दक्षिण पार्श्व में फैले हुए रम्य शाल-वन में चले गए और कुन्ती तथा माद्री के साथ वहीं विहार करने लगे। समय बीतने पर गांधारी से १०० पुत्रों का और एक वैश्य स्त्री से एक पुत्र का जन्म हुआ। इस प्रकार धृतराष्ट्र के १०१ पुत्र हुए। इनमें दुर्योधन, दुःशासन, युयुत्सु, दुःशल, विन्द और अनुविन्द मुख्य थे। दुःशला नाम की एक कन्या हुई, जिसका विवाह सिंध-देश के राजा जयद्रथ से हुआ।

पाण्डवों का जन्म

राजा पांडु अपनी दोनों पत्नियों के साथ वन में रहते थे। उन्होंने निश्चय किया कि वह ग्राम्य सुखों को त्यागकर आरण्यक मुनियों के धर्म का पालन करेंगे। कुंती और माद्री ने भी उनके इस प्रस्ताव का समर्थन किया और इस व्रत का समाचार हस्तिनापुर भी भेज दिया।

हिमालय में विचरते हुए पांडु गंध-मादन पर्वत के उस प्रदेश में पहुंच गए, जहां नित्य बरफ जमी रहती है और वृक्ष, पशु या पक्षी कोई नहीं रहता।

कथा है कि किसी मृग के शाप से पांडु की पुंसत्व-शक्ति नष्ट हो गई थी, फिर भी उन्हें यह चिंता हो गई कि अपत्य के बिना गति नहीं होती। अतएव उन्होंने कुन्ती को सन्तानोत्पादन के लिए नियोग की आज्ञा दी, किन्तु कुन्ती ने उत्तर दिया, "हे धर्मज्ञ, आपका ऐसा कथन उचित नहीं है। मैं आपकी धर्मपत्नी हूं। मन से भी दूसरे का वरण न करूंगी। आप ही मुझमें संतान उत्पन्न कीजिए।"

पाण्डु ने कहा, "हे कुंती, तुम इस पुराने धर्म को सुनो—'पूर्वकाल में स्त्रियां स्वतंत्र थीं और इच्छानुसार विहार करती थीं। कौमार अवस्था से ही पतियों के पास जाने पर भी उन्हें अधर्म नहीं होता था। यह पुराण-दृष्ट धर्म आज भी उत्तर-कुरुक्षेत्र में प्रचलित है। स्त्रियों का अनुग्रह करने-वाला यह सनातन धर्म है। हमारे लोक में कुछ ही काल से उद्दालक मुनि के पुत्र श्वेतकेतु ने यह मर्यादा बांध दी है कि जो स्त्री पति का अतिक्रमण करेगी, उसे पातक लगेगा। इसी प्रकार जो पुरुष अपनी कौमारी और ब्रह्मचारिणी भार्या का उल्लंघन करेगा, वह भी पाप का भागी होगा।

श्वेतकेतु ने यह भी मर्यादा स्थिर की कि पति की आज्ञा से संतान के लिए जो स्त्री नियोग न करेगी, वह भी दोषयुक्त होगी।' स्वयं प्रजनन की अशक्ति से और पुत्रदर्शन की लालसा से, हे सुन्दरी, मैं हाथ जोड़कर तुमसे प्रार्थना करता हूं कि तुम किसी तपस्वी द्विजाति से नियोग करो। तुम्हारी कृपा से मैं पुत्रवान् कहलाऊंगा।"

पाण्डु का ऐसा आग्रह देखकर कुंती ने पुरानी कथा सुनाई और कहा, "पिता के घर मुझे दुर्वासा मुनि ने कुछ मंत्र सिखाये थे, जिनके द्वारा मैं जिस देवता का आवाहन करूं, वह अकाम हो या सकाम, मेरे वश में हो जायगा। उस ब्राह्मण की वाणी के सत्य होने का समय अब आ गया है।"

यह सुनकर पांडु प्रसन्न हुए और उन्होंने तत्काल धर्म के आवाहन के लिए कुंती को आज्ञा दी। कुंती को धर्म से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पांडु की प्रथम संतान युधिष्ठिर थे। इसके बाद कुंती ने वायु से भीम, और इन्द्र से अर्जुन नामक पुत्रों को उत्पन्न किया। जिस दिन भीम का जन्म हुआ, उसी दिन दुर्योधन का भी। भीम का शरीर वज्र के समान था।

कुंती के पुत्रों का जन्म होने पर माद्री ने एकांत में पांडु से कहा, "आपके अशक्त होने का मुझे संताप नहीं है और न कुंती की अपेक्षा अपने घटे हुए पद का शोक है, किंतु गांधारी के सौ पुत्रों का जन्म सुनकर भी जो दुःख मुझे नहीं हुआ, वह मुझे अपने अपुत्र रह जाने का है। हे राजन्, यदि कुंती मेरे ऊपर दया कर दे तो मैं भी पुत्रवती बन जाऊं, और आपका भी भला हो। कुंती मेरी सपत्नी है। मेरे लिए उससे ऐसी प्रार्थना करना हेठी की बात है। पर यदि आप प्रसन्न हैं तो अपनी ओर से आप उसे इसके लिये प्रेरित करें।"

पांडु ने इसका समर्थन किया और एकान्त में कुंती से कहा, "प्रिये, माद्री के लिए भी संतान का प्रबन्ध करो और जैसे डोंगी में बैठाकर उसे इस कष्ट से पार उतारो।"

यह सुनकर कुंती ने माद्री को भी देवता के चिन्तन का वह उपाय बताया। तदानुसार दोनों अश्विनीकुमारों से माद्री के नकुल और सहदेव नामक जुड़वां पुत्र हुए। एक वर्ष बाद पाण्डु ने पुनः कुंती को माद्री की सहायता के लिए प्रेरित किया; परंतु कुंती ने उत्तर दिया, "माद्री को

मैंने एक बार मंत्र बताया, किंतु उसने दो पुत्र उत्पन्न करके मुझे ठग लिया। कहीं यह फिर ऐसा करके मुझे नीचा न दिखा दे। स्त्रियों की गति ऐसी ही होती है। मैं मूढ़ थी, पहले इसे नहीं समझी कि दो का आवाहन करने से फल भी दो हो सकते हैं। अतएव अब आप मुझे बाधित न करें।"

पाण्डु की मृत्यु

इस प्रकार पाण्डु के पांच पुत्र उस वन में संवर्द्धित होने लगे। एक बार पांडु वसन्त ऋतु में वन की शोभा देखते हुए विचर रहे थे। उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहने हुए उनके पास आई। उसे यौवनवती देखकर पाण्डु के हृदय में इस प्रकार कामाग्नि धधक उठी जैसे जंगल में दावाग्नि प्रकट हो जाती है। माद्री के समझाने और प्रतिरोध करने पर भी पांडु अपने-आपको वश में न रख सके, मानो साक्षात मृत्यु ने उनकी बुद्धि को मोह लिया था। माद्री के साथ मिलने से पांडु की मृत्यु हो गई।

माद्री और कुंती विलाप करने लगीं। माद्री ने कंती से कहा, "तुम अकेली ठहरो और ये पांचों पुत्र भी यहीं रहें। मैं पति के साथ ही मृत्यु का वरण करूंगी।" यह कहकर वह पृथिवी पर पांडु के साथ लेट गई।

कुंती ने विलाप करते हुए कहा, "मैं उस वीर को नित्य बचाती रहती थी। हे माद्री, तुमने कैसे शाप की बात जानते हुए भी मर्यादा का उल्लंघन किया? तुम्हें तो राजा को बचाना चाहिए था। कैसे तुमने ही उन्हें इस प्रकार से एकांत में लुभा लिया?"

माद्री ने कहा, "मेरे बारम्बार निवारण करने पर भी राजा अपने-आपको न रोक सके। भाग्य की बात सच्ची होती है।"

कुंती ने कहा, "हे माद्री, मैं ज्येष्ठ हूं, मैं पति के साथ जाऊंगी। तुम उठो और इन बच्चों का पालन करो।"

माद्री ने कहा, "मेरे ही कारण यह इस गति को प्राप्त हुए। अतएव मैं ही यमलोक में इनके साथ जाऊंगी। जीवित रहकर भी मैं तुम्हारे पुत्रों के साथ निष्पक्ष व्यवहार न कर पाऊंगी। हे आर्ये, उससे मुझे पाप लगेगा। अतएव मुझे राजा के साथ जाने दो। हे कुंती, मेरे पुत्रों के साथ अपने पुत्रों जैसा बर्ताव करना। अब मेरे शरीर को राजा की देह के साथ

अग्नि में भस्म कर दो। मुझे और कुछ कहना नहीं है।" यह कहकर माद्री पति के साथ चिताग्नि में प्रविष्ट हो गई।

पांडु की इस कथा के पीछे मूल तथ्य यह विदित होता है कि राज-यक्ष्मा जैसी भयंकर व्याधि के कारण उनके लिए कामोपभोग निषिद्ध था। कुंती ध्यानपूर्वक इस विषय में उन्हें बचाती रहती थी; किन्तु असावधानी से काममोहित होकर शरीर का मंथन हो जाने के कारण पांडु की प्राण-शक्ति क्षीण हो गई।

पांडु के अवसान के अनन्तर आश्रम के तपस्वियों ने सोचा कि पांडु यहां तप करने आये थे और अपने स्त्री-बालकों को हमें सौंपकर स्वर्ग चले गए। अतएव पांडु के स्त्री-पुत्रों को हस्तिनापुर ले जाकर भीष्म को सौंप देना चाहिए। यह सोचकर वे सब हस्तिनापुर आये। पौर-जानपद लोगों ने तथा भीष्म, धृतराष्ट्र विदुर, सत्यवती एवं गांधारी ने उनका स्वागत किया। तब एक वृद्ध मुनि ने सब समाचार कह सुनाया। सुनकर धृतराष्ट्र ने विदुर को आज्ञा दी कि विधिपूर्वक पांडु का प्रेतकार्य किया जाय।

दो प्रकार के उल्लेख

इस प्रसंग में दो प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। पहले कहा जा चुका है कि हिमालय पर ही पांडु के साथ माद्री अग्नि में प्रविष्ट हो गई थी (आदि ११६।३१) उसके बाद उल्लेख आता है कि हिमालय के ऋषि कुंती को, पांचों पांडवों को और पांडु के शरीर को लेकर हस्तिनापुर आए। (आदि ११७।६)। पुनः कहा गया है कि ऋषियों ने यह समाचार दिया, "आज से सत्रह दिन पूर्व पांडु का स्वर्गवास हुआ और तब माद्री उनके साथ चिता में भस्म हो गई। उनके लिए और माद्री के लिए जो प्रेतकार्य करना हो आप करें। ये उन दोनों के शरीर हैं।" इसके बाद कहा गया है कि पांडु के लिए एक अरथी बनाई गई और उसके शरीर को गंधचंदनादिक से सुवासित कर शुक्ल वस्त्रों से सजाया गया और माद्री के शरीर के साथ प्रेतकर्म में निष्ठित पुरोहितों के द्वारा उनका दाह-कर्म कराया गया।

ज्ञात होता है कि पांडु का दाह-कर्म हिमालय में ही मृत्यु के उपरान्त कर दिया गया था। सत्रह दिन बाद हस्तिनापुर में शरीर लाकर पुनः दाह-

कर्म करने की कल्पना पीछे से जोड़ दी गई। वस्तुतः शरीर का पारिभाषिक अर्थ, जो कि प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी मिलता है, चिता से बीनी हुई अस्थियों से था। उन्हें ही मुनि लोग हस्तिनापुर लाये थे।

समाज का आयोजन

पांडु की और्ध्वदैहिक क्रियाओं से निवृत्त होकर माता सत्यवती दोनों बहुओं के साथ वन में चली गई और वहां तप करती हुई मृत्यु को प्राप्त हुई। पांचों पांडव और धृतराष्ट्र के पुत्र एक साथ प्रतिपालित होने लगे। उन्हें शस्त्रास्त्रों की शिक्षा देने के लिए भीष्म ने द्रोण को नियुक्त किया। महाधनुर्धर द्रोण ने उन्हें अपना शिष्य बनाकर शस्त्राभ्यास कराया। न केवल कौरव राजकुमार वरन् नाना देशों के राजपुत्र वृष्णि और अन्धक एवं राधापुत्र कर्ण भी गुरु द्रोण से अस्त्र-विद्या सीखने के लिए आये।

अर्जुन के साथ द्रोण की विशेष प्रीति थी और अर्जुन भी गुरुपूजा में विशेष यत्नवान् रहते थे। अर्जुन रात्रि में भी अभ्यास करते, जिसके कारण उन्हें विशेष व्युत्पत्ति प्राप्त हुई। द्रोण ने प्रसन्न होकर अर्जुन से कहा, "मैं ऐसा यत्न करूंगा, जिससे पृथिवी पर तुम्हारे जैसा कोई दूसरा धनुर्धर न हो" और उसके बाद रथ, गज, अश्व, गदायुद्ध, असिचर्या, भाला और शक्ति चलाने की शिक्षा भी द्रोण ने अर्जुन को दी।

कुमारों की शिक्षा समाप्त होने पर द्रोण ने धृतराष्ट्र को इसकी सूचना दी और कहा कि कुमारों को अपना अस्त्र-कौशल दिखाने का अवसर मिलना चाहिए। धृतराष्ट्र ने प्रसन्नतापूर्वक विदुर को आवश्यक प्रबन्ध कराने की आज्ञा दी। तदनुसार रंगभूमि में विस्तृत प्रेक्षागार बनाया गया, जिसमें जानपद जन के बैठने के लिए मंच बने हुए थे। नियत समय पर गांधारी, कुंती आदि सब स्त्रियां, भीष्म, कृपाचार्य और सब प्रमुख लोग प्रेक्षागार में एकत्र हुए। चारों वर्णों के लोग वहां आये और अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे। रंगभूमि के मध्य में द्रोणाचार्य सफेद वस्त्र और मालाएं पहने हुए अपने पुत्र के साथ उपस्थित हुए। उन्होंने आकर प्राचीन प्रथा के अनुसार बलि दी और ब्राह्मणों से मंगलाचरण कराया। पुण्याहवाचन होने के अनन्तर युधिष्ठिर आदि कुमार कवच पहनकर, फेंटा कसकर,

तूणीर बांधकर और हाथ में धनुष लेकर वहां प्रविष्ट हुए।

महाभारतकार ने इस समस्त उत्सव को 'समाज' की संज्ञा दी है। अशोक के शिलालेखों में भी 'समाज' का उल्लेख आया है। वहां कहा गया है कि अच्छे और बुरे दो प्रकार के समाज हुआ करते थे। जिन समाजों में हिंसा-परक खेल होते या द्यूत, सुरापान आदि का प्रसंग रहता, वे निन्दित समझे जाते थे। उन्हें अशोक ने वर्जित कर दिया था। महाभारत के इस विस्तृत वर्णन में प्राचीन 'समाज' नामक उत्सवों का अच्छा चित्र खींचा गया है।

कर्ण का आगमन

दुर्योधन और भीमसेन ने गदायुद्ध में अपने-अपने कौशल का परिचय दिया। इसी प्रकार अर्जुन ने भी अपनी धनुर्विद्या का विलक्षण प्रदर्शन किया। इसी समय कर्ण ने रंगभूमि में प्रवेश किया और आकर कहा, "मैं अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध करना चाहता हूं।"

अर्जुन ने उसे टोका, "तुम बिना बुलाये यहां आये हो।"

कर्ण ने उसे चांपते हुए उत्तर दिया, "यह रंगभूमि है, सबको समान रूप से यहां प्रवेश करने का अधिकार है। हे अर्जुन, इस पर कुछ तुम्हारा ही विशेष अधिकार नहीं। राजपुत्रों में जो बलवीर्य में श्रेष्ठ है, वही बड़ा है। धर्म भी बल के पीछे चलता है। इस प्रकार ताना मारने से क्या? यह तो दुर्बलों का सहारा है। मुझसे अपने बाणों से बातचीत करो। गुरु के सामने ही अभी तुम्हारा मस्तक अपने तीरों से अलग करता हूं।"

यह परिस्थिति देखकर द्रोण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए अनुमति दी। उधर दुर्योधन ने भी समरोद्यत कर्ण का आलिंगन किया। रंगभूमि में कर्ण और अर्जुन को आमने-सामने देखकर आकाश में इन्द्र समेत सब देवता अर्जुन की ओर तथा आदित्य कर्ण की ओर से दर्शक के रूप में स्थित हुए। सब प्रेक्षक दो दलों में बंट गए—कौरव कर्ण की ओर और द्रोण, कृपाचार्य एवं भीष्म अर्जुन की ओर हुए। समस्त स्त्री और पुरुष भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पक्षपाती बन गए। दोनों पुत्रों को रंगभूमि में उद्यत देखकर कुंती मूर्च्छित हो गई। होश आने पर उसे विदुर ने समझाया। उसके मन में संताप था, पर ऊपर से कुछ कह न पाती थी।

जिस समय दोनों वीरों ने अपने-अपने धनुष हाथों में उठाये, उस समय द्वंद्व युद्ध के नियमों को जाननेवाले कृपाचार्य ने बीच में आकर कहा, "यह कुरुवंश में उत्पन्न पृथा का पुत्र और पाण्डु का छोटा कुमार तुम्हारे साथ द्वंद्व युद्ध के लिए तैयार है। हे महाबाहु, तुम भी अपने माता-पिता और कुल इन तीनों के विषय में बताओ। उन्हें जानकर ही अर्जुन तुमसे युद्ध करेगा, अथवा न करेगा।" इतना सुनना था कि कर्ण का मुंह लज्जा से नीचा हो गया। (आदि. १२६।३१, ३२, ३३)

वस्तुत: प्राचीन प्रथा के अनुसार द्वंद्व युद्ध का यह नियम था कि राज-कुल में उत्पन्न व्यक्ति उसी व्यक्ति के साथ प्रहरण-क्रीड़ा या अखाड़े में उत-रते थे, जिसने स्वयं भी राजकुल में जन्म लिया हो। इसी नियम की उद्-घोषणा कृपाचार्य ने ठीक अवसर पर की। प्राचीन यूनान देश की प्रथा भी इसी प्रकार की थी।

कर्ण को इस प्रकार लज्जित देखकर दुर्योधन ने तुरन्त उठकर कहा, "शास्त्र के विचार में राजा तीन तरह से हो सकता है —जो राजकुल में उत्पन्न हुआ हो, जो सेनापति हो अथवा जो शूर हो। यदि अर्जुन ऐसा मानता है कि मैं उसके साथ युद्ध नहीं करूंगा, जो राजा नहीं है, तो मैं कर्ण को इसी क्षण अंग देश का राजा बनाता हूं।" यह कह उसने तत्काल उसका अभिषेक कर दिया।

उसी समय एक ओर से कर्ण का पिता अधिरथ सूत लाठी टेकता हुआ रंगभूमि में प्रविष्ट हुआ। उसे देखते ही कर्ण ने धनुष डाल दिया और सिर झुकाकर अभिवादन किया। अधिरथ ने भी स्नेहवश उसका आलिंगन किया और अंग देश का राज्य प्राप्त होने के समाचार से प्रसन्न होकर आनन्दजनित अश्रुओं से कर्ण को अभिषिक्त किया।

यह दृश्य देखकर भीमसेन ने चट ताड़ लिया कि यह सूतपुत्र है और हँसते हुए कहा, "हे सूतपुत्र, तुम इस योग्य नहीं कि अर्जुन तुम्हारा युद्ध में वध करके तुम्हें गौरव दें। तुम अपने कुल के अनुरूप हाथ में चाबुक लेकर अपना काम करो। तुम अंग का राज्य भोगने के योग्य नहीं हो। क्या कुत्ता अग्नि के समीप रखा हुआ यज्ञ का पुरोडाश कभी पा सकता है?"

इतना सुनना था कि कर्ण के होठ फड़कने लगे। वह क्रोध से जलकर

फुफकार छोड़ता हुआ सूर्य की ओर देखने लगा। महाबली दुर्योधन क्रोध से उत्तप्त होकर उछलकर सामने आया और भीम को डपटकर कहने लगा, "अरे वृकोदर, तुझे ऐसे वचन कहना उचित नहीं। क्षत्रियों का बल ही उनके बड़प्पन का कारण होता है। शूरों का और नदियों का जन्म कौन जानता है ? और तुम सबकी उत्पत्ति का हाल भी हमें अच्छी तरह ज्ञात है। कुंडल-कवच पहने हुए दिव्य लक्षण-संपन्न आदित्य के समान तेजस्वी बाघ को कहीं हिरनी जन्म दे सकती है ? अंगराज्य की तो बात क्या, कर्ण अपने बाहुबल से पृथिवी का राज्य करने के योग्य है। यदि किसी को मेरा यह कर्म सहन न हुआ हो तो रथ पर चढ़कर या पैदल ही मेरे सामने आ कर अपने धनुष की परीक्षा करे।"

दुर्योधन का यह रूप देखकर रंगभूमि में हाहाकार मच गया और सूर्य भी अस्त हो गए। तब दुर्योधन कर्ण का हाथ पकड़कर रंगभूमि से बाहर चला गया। पांडव, द्रोण, कृपाचार्य, भीष्म आदि भी अपने-अपने घर चले गए। कुछ लोग अर्जुन और कुछ कर्ण की प्रशंसा करते हुए लौटे। कुंती कर्ण को पहचानकर कि यही वह मेरा पहला पुत्र है, मन में प्रसन्न हुई। दुर्योधन के मन में भी अर्जुन की ओर से जो खुटका बना रहता था, वह कर्ण को पाकर जाता रहा। कर्ण ने शांतिपूर्वक सुयोधन का अभिवादन किया। युधिष्ठिर भी मन में सोचने लगे कि कर्ण के समान पृथिवी में धनुर्धारी नहीं है।

पिता-पुत्र का षड्यंत्र

भीमसेन के बल और अर्जुन की विद्या को देखकर दुर्योधन मन में जलने लगा तथा कर्ण और शकुनि की सहायता से पांडवों को मारने का उपाय सोचने लगा। पांडवों को भी यह विदित हो गया और वे कुछ न कहते हुए भी विदुर के परामर्श से सजग रहने लगे। इधर पुरवासी लोग पांडु के पुत्रों को देखकर सभाओं में और चत्वर स्थानों में एकत्र होकर इस प्रकार की चर्चा करने लगे, "धृतराष्ट्र प्रज्ञाचक्षु हैं। नेत्रहीन होने के कारण ही उन्हें पहले राज्य नहीं दिया गया था। अब वह राजा कैसे हो सकते हैं ? सत्यसंध भीष्म ने भी ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर राज्य त्याग दिया था। वह भी अब राज्य ग्रहण न करेंगे। इसलिए पांडवों में ज्येष्ठ सत्यवादी युधिष्ठिर

का ही हम अभिषेक करना चाहते हैं।"

उनकी यह चर्चा सुन-सुनकर दुर्योधन संतप्त हुआ और धृतराष्ट्र के पास जाकर बोला, "मैंने पौर लोगों की अनिष्ट बातें सुनी हैं। वे तुम्हें और भीष्म को ठुकराकर ज्येष्ठ पांडव को राजा बनाना चाहते हैं। भीष्म की भी ऐसी ही राय है, क्योंकि स्वयं वह राज्य नहीं चाहते। पांडु को पहले अपने पिता से राज्य प्राप्त हुआ था। अन्धे होने के कारण तुमको मिलनेवाला राज्य भी न मिल सका। यदि पांडु का उत्तराधिकार ज्येष्ठ पांडव को मिल गया, तो फिर उससे उसके पुत्र को, और उससे उसके उत्तराधिकारियों को मिलता रहेगा। हम अपने पुत्र-पौत्रों के साथ राज्य-वंश से हीन रह जायंगे और लोक में सब तरह हमारी हेठी होगी। सदा पराया अन्न खाकर नरक का दुःख हमें भोगना न पड़े, हे राजन्, ऐसा उपाय करो। यदि तुम किसी प्रकार पहले से ही राज्य पर दृढ़ अधिकार कर लो तो जनता कितनी भी प्रतिकूल हो, निश्चय हमें ही राज्य मिलेगा।"

पुत्र की बात सुनकर धृतराष्ट्र ठमक गए और कुछ सोचकर बोले, "पांडु ने पिता-पितामह के राज्य का धर्मपूर्वक पालन किया, मंत्री और सेना को भी अनुकूल रखा। उसके गुणवान् पुत्र को, जिसे पुरवासी चाहते हैं, कैसे हम बलपूर्वक धता बता सकते हैं? कहीं ऐसा न हो कि युधिष्ठिर का समर्थन करने वाले पौरव लोग बन्धु-बान्धवों के साथ हमारा ही वधकर डालें!"

दुर्योधन ने उत्तर दिया, "इसी त्रुटि को तो मैंने अपने मन में समझ-कर प्रजाओं को धन और मान से अनुरक्त बनाने का यत्न किया। अवश्य ही उनके मुखिया हमारी सहायता करेंगे। हे राजन्, आजकल अर्थ-विभाग और उसके अमात्य मेरे ही अधीन हैं। आप किसी मृदु उपाय से पांडवों को यहां से बाहर वारणावत नगर में भेज दें। जब मैं राज्य पर पूरा अधि-कारकर लूं तब कुंती फिर अपने पुत्रों को लेकर यहां आ जाय।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "दुर्योधन, बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में भी चक्कर काट रही है। पर इस पापी विचार को खुलकर नहीं कह सकता। भीष्म, द्रोण, विदुर और कृप, कभी पांडवों को यहां से निकालने के लिए तैयार न होंगे। उनके लिए तो हम और वे बराबर हैं। वे दोनों धर्मात्मा दोनों में भेद क्यों करेंगे? कहीं ऐसा न हो कि कौरव प्रजा और ये लोग

हमारा वध करने पर उतारू हो जायं ?"

दुर्योधन ने कहा, "भीष्म तो हमेशा बीच में रहते हैं, द्रोणपुत्र मेरी ओर हैं। जिधर अश्वात्थामा हैं, उधर ही द्रोण को समझिए, और कृपाचार्य को भी, क्योंकि इन तीनों का तिगड्डा है। कृपाचार्य, द्रोण और अपने भानजे अश्वत्थामा को कभी न त्यागेंगे। विदुर तो पैसे के गुलाम हैं, और आप हमारे हैं ही। छिपकर विदुर पांडवों के लिए हमें कुछ बाधा नहीं पहुंचा सकते। इसलिए आप विश्वासपूर्वक आज ही कुंती के साथ पांडवों को वारणावत भेज दीजिए और निद्रा का नाश करनेवाले इस घोर कांटे को निकाल डालिए।"

पाण्डवों का वारणावत-प्रस्थान

इस प्रकार पिता-पुत्र का षड्यंत्र सध जाने के बाद दुर्योधन तो धन और मान से प्रजाओं को मुट्ठी में करने लगा और उधर धृतराष्ट्र के सधे-बधे कुछ चालाक मंत्रियों ने आकर यह कहना शुरू किया कि वारणावत नगर बड़ा सुंदर है और वहां एक बड़ा भारी समाज होने वाला है। धृतराष्ट्र के सिखाने से इस प्रकार की चर्चा फैलने लगी। उसे सुनकर पांडवों का भी मन हुआ कि चलकर उस समाज को देखें। जब धृतराष्ट्र ने जान लिया कि पांडवों के मन में कुतूहल उत्पन्न हो गया है, तब उसने एक दिन उनसे कहा, "कई बार आकर लोग मुझे सूचना दे चुके हैं कि वारणावत नगर बहुत सुंदर है। वहां तुम लोग कुछ उत्सव देखना चाहो तो मैं प्रबन्ध कर दूं। कुछ समय वहां बिताकर फिर हस्तिनापुर लौट आना।" युधिष्ठिर ने मन में सोचा कि हम असहाय हैं। राजा धृतराष्ट्र की ऐसी इच्छा है, लाओ, इसे मान लें, और उत्तर में 'हां' कह दिया। तब भीष्म, विदुर आदि से भी अनुमति लेकर पांडव कुंती के साथ वारणावत चले गए।

इससे दुरात्मा दुर्योधन के हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने अपने सचिव पुरोचन से एकान्त में कहा, "तुम्हारे जैसा कोई मेरा विश्वासपात्र नहीं है। हे तात, इस मन्त्र को गुप्त रखना और मेरे सपत्नों को उखाड़ने का प्रयत्न करना। धृतराष्ट्र ने पांडवों को वारणावत भेज दिया है। वहां वे उत्सव आदि करेंगे। तुम आज ही वारणावत जाओ। वहां जाकर एक

चतुःशाल घर का निर्माण कराओ। वह खूब छिपा हुआ होना चाहिए। उसमें एक शस्त्रागार भी रखना। सन, राल आदि जलनेवाले पदार्थ उस की दीवारों के बीच-बीच में भरवाना तथा घी, तेल और लाख मिट्टी में मिलाकर बने मसाले का पलस्तर दीवारों पर कराना। सन, बांस, घी, लकड़ी, जहां मौका देखो, उस मकान में इस प्रकार लगवाना कि पांडवों को या अन्य लोगों को संदेह न हो। ऐसा निवासस्थान बनवाकर उसमें कुंती को, उसके पुत्रों और हित-मित्रों के साथ ठहराना। उनके लिए आसन, शयन, यान आदि का अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध करना। जब वे लोग विश्वस्त होकर रहने लगें, तब कभी उनके सो जाने पर उस घर में आग लगा देना और यह दरवाजे से शुरू करना। इस प्रकार उनके दग्ध हो जाने पर लोग यही कहेंगे कि पांडव अपने ही घर में जल मरे।"

पुरोचन ने दुर्योधन को वचन देकर वारणावत को प्रस्थान किया और दुर्योधन ने जैसा कहा था, सब कुछ वैसा ही किया। पांडव भी वारणावत पहुंचकर नगर के लोगों से प्रेमपूर्वक मिले। सब लोगों ने 'जय-जय' कहते हुए उन्हें घेर लिया। वहां वे पुरोचन के बनवाये हुए आवास में जाकर ठहरे। युधिष्ठिर ने उस घर को देखकर अपनी बुद्धि से सब ताड़ लिया और भीम से कहा, "यह आग्नेय घर है। दुष्ट पुरोचन हमें जलाना चाहता है।"

भीम ने कहा, "यदि आप ऐसा समझते हैं तो अच्छा है। जहां हम पहले थे, वहीं चलें।"

युधिष्ठिर ने कहा, "यह ठीक न होगा। हमारे संदेह को यदि पुरोचन भांप गया तो वह बल का प्रयोग करके हमें और भी शीघ्र जला सकता है, क्योंकि उसे निन्दा या अधर्म का भय नहीं। दुर्योधन विष आदि प्रयोगों से भी हमें नष्ट कर सकता है। अतएव हमें चाहिए कि हम आज ही इस घर से बाहर निकलने के लिए एक गुप्त सुरंग बनायें।"

पाण्डव बच निकले

उसी समय विदुर का विश्वासी मित्र एक खनक वहां आया और युधिष्ठिर से कहा, "मुझे विदुर ने यह कहकर भेजा है कि तुम पांडवों का हित करो। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को पुरोचन इस घर में आग

लगा देगा।"

युधिष्ठिर ने कहा, "विदुर ने पहले ही मुझे इस विषय में सचेत किया था। अब वही विपत्ति समीप आ रही है। अब तुम हमारी रक्षा का उपाय करो।"

खनक ने उसे स्वीकार किया। उसने नगर के चारों ओर की खाई के एक गुप्त स्थान से भूमि के भीतर बिल खोदना शुरू किया। उस सुरंग का मुंह उसी लक्षागृह के बीच में जाकर निकला। उसे भी उसने किवाड़ से बन्द करके पृथिवी के साथ एकाकार मिला दिया।

इस प्रकार जब लगभग एक वर्ष तक पांडव वहां रह चुके थे तब युधिष्ठिर ने बचकर निकल जाने की युक्ति सोची। दान देने के बहाने कुन्ती ने रात्रि के समय अनेक ब्राह्मणों को भोजन कराया। उसमें स्त्रियां भी आईं। एक निषाद जाति की स्त्री अपने पांच पुत्रों के साथ आई थी। यथेच्छ भोजन करके और मदिरा पीकर वह बेसुध वहीं सो गई। रात के समय सबके सो जाने पर भीम ने जहां द्वार पर पुरोचन सो रहा था, वहीं आग लगा दी। चारों ओर उजाला फैल गया और अग्नि का चट-चट शब्द होने लगा। उसे जानकर पुरजन एकत्र हो गए और विलाप करने लगे। उधर पांडव अपनी माता के साथ उस बिल से अलक्षित बाहर निकले और शीघ्रता से बाहर चले गए। रात बीतने पर नगरवासी आकर जले हुए घर में ढूंढ़ने लगे। उन्हीं के साथ ढूंढ़ते हुए खनक ने मौका पाकर सुरंग के मुंह को मिट्टी भर कर पाट दिया। उन्होंने उस निषादी को पांच पुत्रों के साथ जले हुए देखकर पांडवों को अग्नि में जला हुआ समझ लिया।

उस अप्रिय समाचार को सुनकर राजा धृतराष्ट्र भी दुःखी होकर विलाप करने लगे, "हां, भाई पांडु को मैं आज मरा हुआ मानता हूं। हां, उसके पांच वीर पुत्र अपनी माता के साथ नष्ट हो गए। मेरे अधिकारी शीघ्र वारणावत जाकर उन वीरों का यथोचित संस्कार करें।" यह कहकर संबंधियों के साथ धृतराष्ट्र ने पांडवों को जलांजलि दी। सब कौरव शोक-मग्न होकर रोने लगे। विदुर सच्ची बात जानते थे। उन्होंने ऊपर-ही-ऊपर शोक किया। उधर पांडव वारणावत नगर से बाहर हो गए और शीघ्रता से दक्षिण दिशा की ओर रातोंरात किसी गहन वन में चले गए।

९ :: द्रौपदी-स्वयंवर

वारणावत के लाक्षागृह-दाह से बचकर भागे हुए पांडव घोर वन में शीघ्रता से आगे बढ़ने लगे। वे थककर वन में एक वृक्ष के नीचे सो गए। वहां हिडिम्ब नामक राक्षस मानुषगन्ध पाकर उस शालवृक्ष के नीचे आया और उन्हें देखकर हिडिम्बा नाम की अपनी बहन से बोला, "आज बहुत दिन बाद मुझे मनचाहा भोजन मिला है। बहन, जा और देख, वन में वे कौन सो रहे हैं ?"

राक्षसी शीघ्र वहां आई और उसने वहां कुन्ती और पांडवों को सोते देखा। केवल भीमसेन जाग रहे थे। उन महाबाहु के शालस्कंधयुक्त स्वरूपवान् शरीर को देखकर वह उन पर मोहित हो गई। सोचने लगी, "यदि मेरा भाई इन्हें खा लेगा तो उसे मुहूर्त्त भर की तृप्ति होगी, पर यदि मैं इस वीर पुरुष से विवाह कर लूं तो मुझे अनेक वर्षों तक सुख मिलेगा।" यह सोचकर वह सलज्ज भाव से भीमसेन के पास आई और कहा, "तुम्हारे स्वरूप को देखकर मैं तुम पर मोहित हुई हूं और तुम्हें अपना पति बनाना चाहती हूं। मैं नरभक्षक राक्षस से तुम्हारी रक्षा करूंगी।"

हिडिम्बा को देर से गया हुआ जानकर उसका भाई हिडिम्ब स्वयं वहां आ पहुंचा। उसके आने से भयभीत होकर हिडिम्बा ने भीम से कहा, "मैं तुम सबको अपनी पीठ पर बैठाकर आकाश में ले जाऊंगी।" किन्तु भीम ने उत्तर दिया, "तुम भय मत करो, तुम्हारे देखते-देखते मैं इसे मार डालूंगा। मेरे बल को यह नहीं सह सकता।"

हिडिम्ब अपनी बहन पर बहुत क्रोधित हुआ और अपशब्द कहने लगा। तब भीम ने उसे ललकारा और देर तक दोनों में घमासान युद्ध होता रहा। अन्त में भीमसेन ने उसे पछाड़ डाला और भुजाओं के बीच में दबाकर पशु की तरह मार डाला। शोर सुनकर माता कुन्ती और भाई जाग उठे। तब भीमसेन ने हिडिम्बा से विवाह किया और उससे घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनों को पीछे छोड़कर पांडव अन्त में एकचक्रानगरी में पहुंचे। वहां वे भिक्षा से जीविका चलाकर किसी ब्राह्मण के घर में रहने लगे।

बक-वध

एक बार वे लोग भिक्षा के लिए बाहर गए थे। केवल भीमसेन कुन्ती के पास था। अकस्मात् ब्राह्मण के घर से आता हुआ विलाप का शब्द कुन्ती ने सुना। उसने अन्तःपुर में जाकर उसका कारण पूछा तो उसे विदित हुआ कि नगर से बाहर बक नामक कोई नरभक्षक राक्षस रहता था। उसे लोग उस जनपद का रक्षक मानकर पूजते थे। बदले में उसके लिए प्रतिदिन दो भैंसे और एक पुरुष भोजन के लिए भेजते थे। बहुत वर्षों के बाद किसी परिवार की बारी पड़ती थी। उस दिन उस ब्राह्मण परिवार की बारी थी। ब्राह्मण को किसी एक व्यक्ति को राक्षस के पास भेजना था। उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्री स्वयं जाकर शेष का प्राण बचाने के लिए आग्रह कर रहे थे। यह देखकर कुन्ती का हृदय द्रवित हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा, "तुम भय मत करो, मैंने इसका उपाय सोच लिया है। तुम्हारा एक ही पुत्र है, वह भी अभी छोटा है। एक ही तपस्विनी कन्या है। उन दोनों का या तुम्हारी पत्नी का जाना भी मैं ठीक नहीं समझती। हे ब्राह्मण, मैं पांच पुत्रों की माता हूं। तुम्हारी जगह मेरे पुत्रों में से एक राक्षस के पास बलि लेकर चला जायगा।"

ब्राह्मण ने कहा, "मैं अपना प्राण बचाने के लिए ऐसा नहीं कर सकता कि मेरे अतिथि के प्राण जायं। अकुलीन और अधार्मिक भी ऐसा नहीं करते।"

तब कुन्ती ने उसे समझाया, "यदि सौ पुत्र भी हों तो भी माता उनमें से किसी पुत्र का क्षय नहीं सह सकती; किन्तु इस राक्षस की शक्ति नहीं कि मेरे पुत्र का नाश कर सके। मेरे पुत्र को मंत्र सिद्ध है। वह राक्षस के पास भोजन लेकर जायगा और अपने-आपको भी बचा लेगा। पहले भी इसने बहुत से बलवान् राक्षस मारे हैं। हे ब्राह्मण, यह बात किसीसे कहना मत, नहीं तो बहुत से लोग मंत्र सीखने के लिए मेरे पुत्र को तंग करेंगे।"

कुन्ती के ऐसा कहने पर ब्राह्मण ने उसकी बात मान ली। तब भीम माता की आज्ञा लेकर बक राक्षस के पास गया। उसने नाम लेकर राक्षस को पुकारा। महाकाय बक क्रोध से भरा हुआ भीमसेन की ओर झपटा। दोनों में बात बढ़ गई और अन्त में भीमसेन ने उसे मार डाला। भीमसेन ने

उसका शरीर नगर के द्वार पर फेंक दिया और स्वयं अलक्षित रूप में फिर ब्राह्मण के घर लौट आया।

प्रातःकाल नगरवासियों ने एकचक्रा के द्वार पर बक के पर्वताकार शरीर को पड़ा हुआ देखा। वे बहुत विस्मित हुए और सबने देवताओं की पूजा की। तब वे यह हिसाब लगाने लगे कि आज किसकी बारी थी। उस ब्राह्मण की बारी जानकर लोग उसके घर पहुंचे और उससे पूछने लगे। उसने पांडवों को बचाने के लिए यह कहकर टाल दिया कि मेरे परिवार को रोते हुए देखकर एक मंत्रसिद्ध ब्राह्मण भोजन लेकर राक्षस के पास गया था। उसीने यह किया होगा। यह सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए और सब जानपद जनों ने मिलकर 'ब्रह्ममह' नामक उत्सव किया (आदि. १५२। १८)। 'ब्रह्म' प्राचीन संस्कृत में यक्ष की भी संज्ञा थी। यक्ष-पूजा के लिए जो उत्सव किया जाता था, उसे ही 'ब्रह्ममह' या 'यक्षमह' (पाली—यक्खमह) कहते थे।

पांचाल-यात्रा

पांडवों के वहां रहते हुए किसी ब्राह्मण ने आकर सूचना दी कि पांचाल देश में वहां के राजा यज्ञसेन द्रुपद की पुत्री कृष्णा याज्ञसेनी का स्वयंवर होने वाला है। उसे सुनकर पांडवों के मन ऐसे अस्वस्थ हो गए जैसे कोई नया कांटा चुभ गया हो। उनकी यह दशा देखकर कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा, "यहां रहते हुए हमें अधिक काल हो गया। भिक्षा भी ठीक से नहीं मिलती। अच्छा हो, पांचाल देश में चलें। सुनती हूं, पांचाल देश बड़ा रमणीय है और वहां सब प्रकार सुभिक्ष है।" इस प्रकार सलाह करके सब लोग राजा द्रुपद की राजधानी को गए। मार्ग में गंगातट पर सोमश्रवायण तीर्थ में पहुंचे। वहां गंगातट पर अग्निपर्ण गंधर्व घाट रोके हुए जल-विहार कर रहा था। अर्जुन के साथ उसकी झड़प हो गई। अर्जुन ने उसे बांध लिया। तब उसकी पत्नी के अनुनय-विनय करने पर युधिष्ठिर ने उसे अभय-दान दिया। गंधर्व ने प्रसन्न होकर उन्हें चाक्षुषी-विद्या प्रदान की, जिसके द्वारा वे लोग तीनों लोकों में जिसे भी देखना चाहें, देख सकते थे। उसी गंधर्व ने उन्हें सूर्य की कन्या तपती और पांडवों के पूर्वज संवरण के विवाह की कथा सुनाई। इन्हीं

तपती और संवरण के पुत्र कुरु थे।

वसिष्ठ उपाख्यान

इसी प्रसंग में वसिष्ठ और विश्वामित्र के वैर के सूचक वासिष्ठ उपाख्यान का भी वर्णन किया गया है। अर्जुन ने वसिष्ठ के विषय में जानना चाहा तो गंधर्व ने कहा, "वसिष्ठ ब्रह्मा के मानस पुत्र और अरुन्धती के पति हैं। काम और क्रोध, जिन्हें कोई मर्त्य या देवता नहीं जीत पाता, उनका चरण-संवाहन करते हैं। विश्वामित्र के अपकार करने पर भी वसिष्ठ ने कुशिकों का विनाश नहीं किया। अपने पुत्रों के क्षय से संतप्त होने पर भी वसिष्ठ ने विश्वामित्र के विनाश के लिए मन में विचार नहीं किया, और न यमराज के नियमों का अतिक्रमण करके अपने पुत्रों को पुनः जीवित करने की इच्छा की। वसिष्ठ को पुरोहित बनाकर ही इक्ष्वाकुओंने इतनी उन्नति की।"

अर्जुन ने प्रश्न किया कि विश्वामित्र और वसिष्ठ इन दोनों में परस्पर वैर होने का कारण क्या था? गंधर्व ने उत्तर दिया कि कान्यकुब्ज में कुशिक के पुत्र गाधि के पुत्र विश्वामित्र राज्य करते थे। वह एक बार मृगया के लिए वन में पर्यटन करते हुए वसिष्ठ के आश्रम में जा पहुंचे। वसिष्ठ ने अपनी गौ नन्दिनी के प्रभाव से विश्वामित्र और उनकी सेना का उत्तम सत्कार किया। विश्वामित्र ने वसिष्ठ से नन्दिनी गौ मांगी और बदले में अपना राज्य तक देना चाहा। वैसा न होने पर विश्वामित्र ने नन्दिनी का बलपूर्वक अपहरण करना चाहा, किन्तु नन्दिनी ने अपने प्रभाव से पल्लव, द्राविड़, शक, यवन, पौण्ड्र, किरात, सिंहल, बर्बर, पुलिंद, चीन, हूण, केरल, म्लेच्छ आदि जातियों को उत्पन्नकर विश्वामित्र को परास्त कर दिया। इससे खिन्न हो विश्वामित्र ने अपने क्षात्र-बल को धिक्कारा और तपस्या द्वारा ब्रह्म-बल प्राप्त करके इन्द्र के साथ सोम-पान किया।

वसिष्ठ-विश्वामित्र के पारस्परिक वैर के कारण की कई कल्पनाएं महाभारत में ही मिलती हैं। शल्य-पर्व में लिखा है कि स्थाणु तीर्थ में सरस्वती नदी के एक ओर वसिष्ठ का आश्रम और दूसरी ओर विश्वामित्र का आश्रम था। दोनों में तप की स्पर्द्धा से मनोमालिन्य हुआ। यहीं आदिपर्व में उनके वैर को यहां तक बढ़ा हुआ कहा है कि इक्ष्वाकुवंशी

सुदासपुत्र कल्माषपाद राजा और वसिष्ठ पुत्र शक्ति में खटपट हो गई, शक्ति ने उसे शाप दिया, तब विश्वामित्र ने राजा की राक्षसी वृत्ति को उभाड़कर शक्ति और वसिष्ठ के अन्य पुत्रों का नाश करवा डाला। वसिष्ठ को दुःख तो बहुत हुआ, पर उन्होंने क्रोध नहीं किया। किसी नर-भक्षक कल्माषपाद नामक यक्ष की कथा जातकों में भी पाई जाती है। उस के मूल में कोई लोक कथा रही होगी, जिसका इक्ष्वाकुवंशीय कल्माषपाद के साथ संबंध जुड़ गया।

अग्निपर्ण गंधर्व से विदा लेते हुए अर्जुन ने इतना और पूछा कि ऐसा वेदज्ञ श्रेष्ठ पुरोहित कौन है, जो हमारे अनुरूप हो। गन्धर्व ने उत्कोचक तीर्थ में रहनेवाले धौम्य ऋषि का नाम बताया। तब पांडव धौम्य के आश्रम में गए और विधिपूर्वक धौम्य को अपना पुरोहित वरण किया। वहां से वे पांचों पांडव माता कुंती के साथ दक्षिण पांचाल देश के राजा द्रुपद की राजधानी में होने वाले देव-महोत्सव को देखने के लिए चले।

द्रौपदी स्वयंवर

मार्ग में उन्हें कुछ ब्राह्मण मिले। उन्होंने बताया कि राजा द्रुपद के यहां उसी देव-महोत्सव के अवसर पर उनकी पुत्री द्रौपदी का स्वयंवर भी आयोजित किया गया है। पांडव स्वयंवर देखने की लालसा से वहां पहुंचे। वहां नगर से पूर्व उत्तर दिशा में द्वार और तोरणों से अलंकृत एक समाज-वाट बनाया गया था। पन्द्रह दिन तक नट-नर्तकों की कलाओं के साथ समाज का उत्सव होता रहा।

सोलहवें दिन द्रौपदी रंगभूमि में अवतरित हुई। उसके आते ही बाजों का घोष बन्द कर दिया गया। चारों ओर सन्नाटा होने पर धृष्ट-द्युम्न ने रंगभूमि के बीच खड़े होकर कहा, "यह धनुष है, वह लक्ष्य है, ये बाण हैं। आये हुए सब राजाओं से मैं कहता हूं—जो यन्त्र के छेद में से केवल पांच बाणों की सहायता से लक्ष्य का वेध करेगा और जो कुल रूप और बल से युक्त होगा, मेरी यह बहन कृष्णा उसकी पत्नी हो जाएगी।"

यह कहकर धृष्टद्युम्न ने उपस्थित हुए, सब राजाओं के नाम ले-लेकर द्रौपदी को उनका परिचय दिया। उस स्वयंवर में अनेक जनपदों के राजा

उपस्थित हुए थे। गांधार, मगध, विराट, कलिंग, ताम्रलिप्ती, मद्र, कम्बोज, उशीनर, वृष्णि, सिन्धु, बाल्हीक, वत्स, कोशल आदि जनपदों के नाम इस प्रसंग में आये हैं। रंगभूमि में उपस्थित क्षत्रियों ने उस धनुष को चढ़ाने का प्रयास किया, किन्तु सफल न हुए। तब कुंती पुत्र अर्जुन, जो ब्राह्मणों के बीच में बैठे थे, उठे और धनुष के समीप आये। उन्होंने धनुष की परिक्रमा कर उसे प्रणाम किया और प्रसन्न मन से उसे हाथ में लेकर क्षणभर में सज्जित कर दिया, और पांच बाण लेकर यन्त्र के छिद्र से लक्ष्य को वेध दिया।

समाज के बीच महान ध्वनि फैल गई। लोग हर्ष से वस्त्रों को उछालने लगे। अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे। सूत और मागध स्तुति करने लगे। यह सब देखकर राजा द्रुपद मन में प्रसन्न हुए। साथ ही उन्होंने देखा कि उपस्थित क्षत्रियों में बड़ी खलबली मच रही है। इस भय से कि अर्जुन को कोई हानि न पहुंचाए, उन्होंने अपने सैनिकों की सहायता देनी चाही, किन्तु उस भम्भड़ को देखकर युधिष्ठिर ने यही उचित समझा कि शीघ्र ही वहां से हटकर अपने आवास पर चले जायं।

इधर कृष्णा ने देखा कि लक्ष्य-वेध हो चुका है और इन्द्रसदृश अर्जुन खड़े हैं। वह श्वेत पुष्पों की वरमाला लेकर उनकी ओर बढ़ी और उसे उनके गले में डाल दिया। इसी समय राजाओं में बड़ा कोलाहल मचा। वे कहने लगे, "देखो, इस दुष्ट द्रुपद को, इसने हमारा अपमान किया है। हमें यहां बुलाकर तिनके की तरह हमारी अवहेलना करके एक ब्राह्मण को अपनी कन्या दे देना चाहता है। हमारे रहते हुए ऐसा कभी नहीं हो सकता। हम इस दुरात्मा का इसके पुत्र के साथ ही वध कर देंगे। राजाओं के इस समूह में क्या इसे कोई दूसरा राजा अपने सदृश नहीं मिला? और फिर क्षत्रियों के स्वयंवर में ब्राह्मणों को वरण का अधिकार भी नहीं। यदि यह लड़की ही हममें से किसीके साथ न जाना चाहे तो इसे आग में झोंककर अपने देश को लौट जायंगे।" इस प्रकार कहकर प्रचंड राजा हथियार लेकर द्रुपद की ओर दौड़े।

यह देखकर पांडु-पुत्र भीम और अर्जुन द्रुपद की रक्षा के लिए राजाओं से भिड़ गए। उस मंडली में कृष्ण और बलराम भी उपस्थित थे। उन्होंने अर्जुन को धनुष चलाते हुए देखकर सब ताड़ लिया और बोले, "हे बलराम, यदि

मेरा नाम वासुदेव है तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि यह अर्जुन ही है; और देखो वह जो वृक्ष लेकर वेग से राजाओं पर टूट पड़ा है, वह बृकोदर भीम है। वे सामने प्रलम्बबाहु युधिष्ठिर हैं। वे नकुल-सहदेव हैं। मैंने जैसा सुना था, ये सब लोग लाक्षागृह में जलने से बच गए थे। इससे मैं प्रसन्न हूं।"

वहां उस समय जितने उद्धत राजा थे, भीम और अर्जुन ने उन सबको परास्त कर दिया, विशेषतः अर्जुन ने कर्ण को और भीम ने मद्रराज शल्य को। इस प्रकार जब राजा लोग बल से हार गए तो सब लोग अपने-अपने आवासों को यह कहते हुए लौटे कि आज रंग ब्राह्मणों के हाथ रहा और पांचाली द्रौपदी को ब्राह्मण वर ले गए।

पंचपतिका पांचाली

पांडव भी द्रौपदी के साथ उस कुम्हार के घर वापस आये, जहां कुन्ती थी। अर्जुन और भीम ने प्रसन्न होकर माता से कहा, "आज यह भिक्षा मिली है।" कुन्ती ने कुटी के भीतर से ही उत्तर दिया, "सब लोग इसे मिल-कर भोगो (उवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे)।" पीछे जब कुन्ती ने द्रौपदी को देखा तब वह दुःखी हुई कि मैंने क्या कह दिया। वह अधर्म से डरी और द्रौपदी का हाथ पकड़कर युधिष्ठिर के पास जाकर बोली, "द्रुपद की पुत्री इस कन्या को जब तुम्हारे दोनों भाइयों ने आज मुझे निवेदित किया तो मैंने भूल से यह कह डाला कि सब लोग इसे मिलकर भोगो। अब क्या किया जाय, जिससे मेरा वचन मिथ्या न हो और द्रौपदी को भी अधर्म न लगे?"

युधिष्ठिर ने माता को सांत्वना दी और अर्जुन से कहा, "हे धनंजय, तुमने द्रौपदी को जीता है, तुमसे ही इस राजपुत्री की प्रसन्नता है। तुम अग्नि में हवन करके विधिवत् इसका पाणिग्रहण करो।"

अर्जुन ने उत्तर दिया, "हे राजन्, मुझे अधर्म में मत सानिए। और लोग इसे धर्म नहीं मानते। पहले आप विवाह करेंगे, पीछे भीम, तब मैं, मेरे बाद नकुल और उसके बाद सहदेव। एक ओर हम पांच हैं, दूसरी ओर यह कन्या है। ऐसी स्थिति में जो करना चाहिए, जो धर्मयुक्त हो, जिससे निंदा न हो और जो पांचालराज द्रुपद को भी प्रिय लगे, वह उपाय बताइए। हम सब आपकी बात मानेंगे।"

युधिष्ठिर ने भाइयों की ओर घूम कर देखा और समझ गए कि सभी का मन द्रौपदी पर अनुरक्त है। उन्होंने भाइयों से कहा, "द्रौपदी हम सबकी भार्या होगी।" भाइयों ने मन से इस बात का अनुमोदन किया।

इधर कृष्ण और बलराम उसी भार्गव कर्मशाला में पहुंचे, जहां पांडव थे। कृष्ण ने जाकर युधिष्ठिर के पैर छुए और अपना नाम बताया। बलराम ने भी वैसा ही किया। फिर दोनों ने बुआ कुन्ती के चरणों का स्पर्श किया। तब युधिष्ठिर ने कुशल कहकर कृष्ण से पूछा, "तुम्हें हमारे यहां छिपकर रहने का पता कैसे चला?" कृष्ण ने हँसकर कहा, "अग्नि कितनी भी छिपी हो, पहचान ली जाती है। उस दिन जो पराक्रम तुमने किया, वैसा और कौन कर सकता था? यह अहोभाग्य है कि तुम सब उस अग्निदाह से बच गए और यह भी आनन्द का विषय है कि पापी दुर्योधन की इच्छा पूरी न हुई। तुम यहां छिपकर रहो, कोई तुम्हें न जान पाये। अतएव बलदेव के साथ मैं यहां से शीघ्र अपने शिविर को चला जाता हूं।"

इधर पांडवों के पीछे-पीछे कृष्णा के चले जाने पर राजा द्रुपद चिंतित हुए। उन्होंने धृष्टद्युम्न से कहा, "पुत्र, कुछ पता लगाओ, कृष्णा को कौन ले गया है? सच-सच कहो, मेरी पुत्री को किसने जीता है? माला की तरह सुकुमारी वह कहीं श्मशान में तो नहीं जा पड़ी?" धृष्टद्युम्न द्रौपदी के पीछे ही जाकर कुम्हार की कर्मशाला में, जहां पांडव ठहरे थे, छिपकर उनका सब हाल देख आया था। उसने कहा, "निस्संदेह वे लोग क्षत्रिय थे, जिनके साथ द्रौपदी गई है। जिस प्रकार वे लोग आपस में युद्ध की बातचात कर रहे थे उस प्रकार कोई वैश्य या ब्राह्मण या शूद्र नहीं कर सकता, और सुनते हैं कि पांडव लाक्षागृह के उस अग्निदाह से बच गए थे। अतएव यह आशा मन में उठती है कि वे लोग कहीं छिपे हुए पांडव ही तो नहीं हैं!"

यह सुनकर राजा द्रुपद एकदम प्रसन्न हो गए। उन्होंने अपने पुरोहित को वहां भेजा कि जाकर पता लगाओ कि कहीं वे लोग पांडु-पुत्र ही तो नहीं हैं। पुरोहित ने वहां जाकर युक्तिपूर्वक पूछा तो युधिष्ठिर ने कहा, "द्रुपद ने तो कुल, गोत्र, वर्ण, शील आदि की कुछ पूछताछ किये बिना अपनी पुत्री को राजाओं के बीच में लक्ष्यवेध करनेवाले किसीको भी दे दिया। अतएव उसे संताप न करना चाहिए। फिर भी मैं कहता हूं

कि तुम्हारे राजा की कामना पूरी होगी। कोई भी अल्प बलवाला व्यक्ति, जिसने अस्त्रों का अभ्यास न किया हो, धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर उस लक्ष्य को नहीं वेध सकता था। अतएव पांचाल-राज को चाहिए कि पुत्री के लिए मनस्ताप न करें।"

युधिष्ठिर यह कह ही रहे थे कि एक दूसरा व्यक्ति वहां आया और दूत के रूप में उसने निवेदन किया, "राजा द्रुपद ने विवाह के लिए अनेक अन्न सम्भार तैयार कराये हैं। आप लोग सुनहले रथों पर बैठकर वहां चलें।" पांडव लोग कुन्ती और कृष्णा के साथ राजधानी में पहुंचे। राजा ने सब सचिवों के साथ हर्षपूर्वक उनका स्वागत किया और पहले एक बड़ा भोज किया। तत्पश्चात् द्रौपदी के साथ उनका विवाह कराया। इस प्रकार कल्याणयुक्त होकर पांडव द्रुपद की नगरी में निवास करने लगे।

१० :: सुभद्रा-परिणय

धृतराष्ट्र के गुप्तचरों ने सब हाल जानकर यह समाचार दिया कि जिसने लक्ष्यवेध किया था, वह धनुर्धर अर्जुन था और वे ब्राह्मण जो स्वयंवर में आये थे, पांडव ही थे। पांडवों के हितैषी राजा इस समाचार के फैलने से प्रसन्न हुए और उन्होंने समझा कि पांडवों का पुनर्जन्म हुआ। किन्तु राजा दुर्योधन और उसके भाई, अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य तथा दुःशासन सब बड़े दुःखी हुए। पांडवों की समृद्धि देखकर वे मुरझा गए।

पांडवों की कुशल का यह हाल जब विदुर को ज्ञात हुआ तब उन्होंने धृतराष्ट्र से सब समाचार कहा। धृतराष्ट्र ने ऊपर से बहुत प्रसन्नता प्रकट की और कहा, "जैसे वे पांडु के पुत्र हैं, वैसे ही मुझे भी प्रिय हैं। मैं उनकी इस वृद्धि से प्रसन्न हूं कि द्रुपद के साथ उनका सम्बन्ध हुआ है। द्रुपद को अपना मित्र पाकर कौन पुनः श्रीसम्पन्न न हो जायगा ?"

उनकी यह बात सुनकर विदुर ने उत्तर दिया, "हे राजन्, पांडवों के विषय में आपकी यह बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे।"

तब दुर्योधन और कर्ण दोनों धृतराष्ट्र के समीप गए और बोले, "हे

राजन्, विदुर के सामने हम कुछ नहीं कह सकते। आपकी यह क्या चिन्ता है, जो सपत्नों की वृद्धि को अपनी वृद्धि मानते हैं? आपको करना कुछ चाहिए और करते कुछ हैं। हे तात, हमें तो पांडवों के बल का क्षय करने की बात सोचनी चाहिए।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "सोचता तो मैं भी यही हूं, जैसा तुम कहते हो, लेकिन विदुर के सामने अपनी बात साफ-साफ नहीं कह सकता। इसलिए उनके गुणों का ही कीर्तन करता हूं, जिससे विदुर मेरे असली अभिप्राय को जानने न पावें। इस समय तुम जो ठीक समझते हो, बताओ, और हे कर्ण, तुम भी जो इस समय कर्त्तव्य-कर्म हो, उसका सुझाव दो।"

दुर्योधन ने कहा, "मेरे मन में कई बातें आती हैं। एक तो कुछ अच्छे समझदार ब्राह्मणों को लगाकर शनैः-शनैः कुन्ती और माद्री के पुत्रों में फूट डलवा दें, अथवा राजा द्रुपद, उसके पुत्र और अमात्यों को धन की बड़ी राशि देकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर की ओर से उनका मन फेर दें, अथवा यह भी सम्भव है कि हमारे दिये हुए द्रव्य के लोभ से द्रुपद और उसके सहयोगी पांडवों को ऐसी पट्टी पढ़ावें कि वे द्रुपद की राजधानी में ही बस जायं। तब उनका हस्तिनापुर से पाप ही कट जायगा, अथवा कुछ ऐसे उपाय-निपुण पुरुषों को लगाया जाय, जो पांडवों में आपस में ही फूट डाल दें या द्रौपदी का मन ही उनकी ओर से उचाट कर दें। उसे बहुतों में अपना मन लगाना पड़ता है, इसलिए शायद ऐसा करना सरल हो, अथवा पांडवों का ही मन उसकी ओर से फेर दें, या उन सबमें भीमसेन ही तगड़ा है, किसी उपाय से छिपे हुए अपने आदमियों से उसकी समाप्ति करा दें। एक बार उसका काम तमाम हुआ नहीं कि फिर पांडव राज्य का हौसला न करेंगे। वही उनका बड़ा भरोसा है। अर्जुन तभीतक युद्ध में अजेय है, जबतक उसकी पीठ पर भीम है। भीम के बिना अर्जुन कर्ण के पैर की धूल भी नहीं। यदि पांडव यहां आ भी गए तो भी आखिर तो हमारे ही बस में रहेंगे। जैसे चाहें, उनको ठिकाने लगाया जा सकता है, अथवा यहां आने पर सुन्दरी स्त्रियां उनमें से एक-एक के मन को ऐसा लुभा दें कि वे फिर द्रौपदी का नाम न लें, या यह भी सम्भव है कि उन्हें लिवा लाने के लिए कर्ण को भेजा जाय और फिर बटमारों को मिलाकर मार्ग

में ही उन्हें कटवाकर फेंक दिया जाय। इन उपायों में जो तुम्हें निर्दोष जंचे उसीका प्रयोग शीघ्र करो, क्योंकि समय बीत रहा है। मेरी तो राय यही है कि साधु-असाधु किसी भी ढंग से पांडवों का निग्रह किया जाय, अथवा, हे कर्ण, तुम्हारी समझ में क्या आता है ?"

यह सुनकर कर्ण ने कहा, "दुर्योधन, मुझे तो तुम्हारी राय ठीक नहीं जंचती। पांडव किसी भी तरकीब से वस में नहीं आ सकते। पहले भी तुम उनके निग्रह के लिए बारीक उपाय कर चुके हो। जब बचपन में उनके पंख भी न निकले थे और वे यहीं थे, तब तुम उनका कुछ न बिगाड़ सके तो अब तो उनके पंख निकल आये हैं। वे यहां से बाहर हैं और बड़े हो गए हैं, इसलिए अब पांडव उपाय-साध्य नहीं हैं। तुम उन्हें विपत्ति में नहीं डाल सकते, भाग्य उनके साथ है। अब वे अपने पितृ-पितामह से प्राप्त हक के दावेदार होकर तुम्हारी ओर शंका से देखते हैं। उनमें आपसी फूट भी नहीं डाली जा सकती। कृष्णा के मन में भी उनकी ओर से भेद डालना कठिन है। जब उनके फटे-हाल होने पर द्रौपदी ने उन्हें वर लिया था तब आज तो वे उजले-चिट्टे हो गए हैं।...और राजा द्रुपद आर्य हैं, तुम समझते हो कि उन्हें धनका लोभ होगा? राज्य भी दोगे तो भी द्रुपद कौंतियों को न छोड़ेंगे। द्रुपद का पुत्र भी पांडवों का अनुरागी है। अतएव किसी तरह कोई उपाय पांडवों पर न चल सकेगा। मेरी समझ में तो यह आता है कि साम, दाम और भेद इनसे पांडव वश में नहीं हो सकते। केवल दण्ड से ही उनको साधा जा सकता है। अतएव उनपर तुरन्त धावा बोलना चाहिए। जबतक वे वहां जड़ नहीं पकड़ लेते, तबतक हमारा पक्ष तगड़ा और द्रुपद का निर्बल है; तभी तक, हे गांधारी के पुत्र, शीघ्र चढ़ाई कर दो। विक्रम से ही पृथिवी प्राप्त होती है। महात्मा भरत और पाकशासन इन्द्र ने विक्रम से ही लोकों को जीता। विक्रम ही शूरों का अपना धर्म है। इसलिए चतुरंगिणी सेना सजाओ और पांचाल पर चढ़ चलो। शीघ्र द्रुपद को दलकर, पांडवों को पकड़कर यहां ले आओ और सारी पृथिवी का भोग करो। कार्य का दूसरा उपाय मुझे तो दिखाई नहीं पड़ता।"

कर्ण के वचन सुनकर धृतराष्ट्र ने उसे थपथपाया और फिर कहा, "महाप्राज्ञ शस्त्रधारी कर्ण का तुमसे विक्रम की बात कहना उचित ही है,

किन्तु फिर भी भीष्म, द्रोण और विदुर तथा तुम दोनों मिलकर कोई ऐसी बात विचारो कि जिसमें सुखोदय हो।" तब धृतराष्ट्र ने सबको बुलाकर मंत्रणा की।

उसमें भीष्म ने कहा, "मुझे तो पांडु-पुत्रों के साथ बखेड़ा करना नहीं रुचता। मेरे लिए जैसे धृतराष्ट्र वैसे ही पांडु; जैसे गांधारी के पुत्र, वैसे ही कुन्ती के भी। अतएव उन वीरों के साथ संधि करके भूमि उन्हें लौटा दो। इस राज्य में उनके भी पिता-प्रपितामहों का भाग था। अतएव मधुरता से आधा राज्य उन्हें दे दो। कुछ और किया तो तुम्हारा भला न होगा और मुंह में कालिख भी पुत जायगी। इसलिए हे दुर्योधन, अपने पूर्वजों के और कुरु-कुल के जो अनुरूप है, वैसा करो।"

इसके बाद द्रोण ने कहा, "मेरी भी यही मति है, जो भीष्म की है। पांडवों को उनका हिस्सा बांट देना चाहिए। यही सनातन धर्म है। पहले भेंट लेकर अपना दूत द्रुपद के पास मित्रता के लिए भेजो। पीछे सेना के साथ दुःशासन और विकर्ण जाकर पांडवोंको यहां ले आवें। तब प्रजाओं की अनुमति से उन्हें उनका पैतृक पद प्रदान करो। यही सच्चा उपाय है।"

यह सुनकर कर्ण ने कहा, "जिन्हें सदा धन और मान से युक्त किया और सब कामों में अपना अगुआ बनाया, वे भीष्म और द्रोण भी तुम्हारे हित का मंत्र नहीं देते। इससे अधिक अचरज की क्या बात है? जो छिपे-छिपे दुष्ट मन का है, पर ऊपर से हित की बात करता है, ऐसे अमात्य का मंत्र किस काम का?"

कर्ण का व्यंग्य सुनकर द्रोण बिगड़कर कहने लगे, "रे कर्ण, हम तेरे दुष्ट भाव को समझते हैं। तेरे मन में पांडवों के प्रति मैल है और तू दोष हमारे मत्थे मढ़ता है!"

यह सुनकर विदुर ने कहा, "हे राजन्, भीष्म और द्रोण ने जो हितकर वचन कहा है, उसे क्यों नहीं ग्रहण करते? तुम्हारे लिए दुर्योधनादिक पुत्र और पांडव एक-से होने चाहिए। पुरोचन के कारण जिस अयश में तुम सन गए हो, अब पांडवों के प्रति अनुग्रह करके उसे धो डालो।"

उनकी बात सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा, "हे विदुर, भीष्म, द्रोण और तुम हितकारी और सत्य बात कहते हो। तुम जाओ और माता कुन्ती एवं

देवरूपिणी कृष्णा के साथ पांडवों को यहां लिवा लाओ।"

यह सुनकर विदुर द्रुपद के यहां गए और कुशल-प्रश्न के अनन्तर बोले, "धृतराष्ट्र, भीष्म एवं सब कौरव आपके साथ सम्बन्ध हो जाने से अपने को धन्य समझते हैं। ऐसा जानकर आप कृपया पांडवों को मेरे साथ भेज दें। वे भी दीर्घकाल के बाद नगर देखने को उत्सुक होंगे।"

विदुर की बात सुनकर द्रुपद ने कहा, "हे महाप्राज्ञ, तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे भी इस सम्बन्ध से हर्ष है। महात्मा पांडवों का घर लौटना भी ठीक है। किन्तु मेरा कहना उचित नहीं, तुम स्वयं कहो।"

तब सब लोगों ने परामर्श किया और पांडव विदुर और कृष्ण के साथ, जो वहां इस समय उपस्थित थे, हस्तिनापुर गए। सारा नगर उनके स्वागत में उमड़ पड़ा। वहां उन्होंने धृतराष्ट्र और भीष्म का पादाभिवन्दन किया और कुछ समय तक धृतराष्ट्र के बताये हुए स्थान में निवास करते रहे। फिर धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाकर कहा, "हे युधिष्ठिर, तुम्हारे साथ कौरवों का कोई झगड़ा न हो, इसलिए मेरी राय है कि राज्य का आधा भाग लेकर तुम खाण्डवप्रस्थ में बसो।"

तब पांडव खाण्डवप्रस्थ के वन में गए। वहां उन्होंने व्यास और कृष्ण के परामर्श से इन्द्रप्रस्थ नामक एक नया नगर बसाया। पांडवों के वहां सुखपूर्वक बस जाने पर कृष्ण बलराम के साथ द्वारावती नगरी को लौट गए।

अर्जुन का वनवास

इसी समय नारदजी पांडवों से मिलने आए। उन्होंने सुन्द-उपसुन्द नामक दो भाइयों में एक पत्नी तिलोत्तमा के लिए जिस प्रकार झगड़ा हुआ था, उसकी कथा सुनाकर पांडवों में यह नियम करा दिया कि एक समय में एक ही व्यक्ति एकान्त में द्रौपदी के साथ रहे, यदि दूसरा उस समय चला जाय तो वह बारह वर्षतक वन में ब्रह्मचारी होकर रहे। इस प्रकार का समय करके दीर्घ कालतक पाण्डव वशवर्तिनी कृष्णा के साथ सुख से रहते रहे।

कुरु जनपद के एक ब्राह्मण की गायें कुछ चोर लूट ले गए थे, उसने खाण्डवप्रस्थ में जाकर पांडवों से गुहार की। उसकी पुकार अर्जुन ने सुनी

और उसे अभय-दान दिया। जहां उस समय अर्जुन के आयुध रखे थे, वहां कृष्णा के साथ धर्मराज युधिष्ठिर एकान्त में थे। शरणार्थी ब्राह्मण के कार्य की तुरन्त आवश्यकता समझकर अर्जुन ने थोड़ी देर के लिए अपने मन में विचार किया कि मैं भीतर प्रवेश करूं या न करूं, और फिर अपने वनवास की जोखिम उठाकर वे भीतर जाकर धनुष ले आये। इधर ब्राह्मण का धन चोरी से लौटाकर अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित होकर कहा, "मैंने समय का उल्लंघन किया है। अतएव मुझे आदेश दीजिए कि मैं वनवास के लिए जाऊं।"

यह सुनकर युधिष्ठिर दुःखी हुए। उन्होंने अर्जुन को बहुत समझाया कि तुमने धर्म-लोप नहीं किया और न मेरा उल्लंघन किया, किन्तु अर्जुन ने यही कहा, "मैं सत्य से विचलित न होऊंगा। सत्य का जो परिणाम हो, मुझे सहना चाहिए। आपसे ही मैंने यह सुना है कि धर्म के विषय में कपट-व्यवहार उचित नहीं।" यह कहकर वह सबसे विदा लेकर बारह वर्ष के लिए वनवास और तीर्थयात्रा के लिए निकल गए। इसी अवधि में उन्होंने गंगाद्वार में नाग-कन्या उलूपी के साथ नागराज के भवन में एक रात बिताई। तब हिमालय के अन्य तीर्थों में घूमते हुए पूर्व दिशा में अंग, बंग, कलिंग होते हुए पूर्व में मणलूर (वर्तमान मणिपुर) के राजा चित्रवाहन के नगर में पहुंचे और वहां उसकी दुहिता चित्रांगदा से विवाह किया। अर्जुन वहां तीन वर्ष रहे। उनका पुत्र बभ्रुवाहन पीछे मणलूर का राजा हुआ। फिर दक्षिण दिशा में अगस्त्य तीर्थ, पंचाप्सरस्तीर्थ, अपरान्त देश में गोकर्ण-तीर्थ में गमन किया।

सुभद्रा-अर्जुन-परिणय

प्रभास में कृष्ण उनसे आकर मिले और उन्हें साथ लेकर रैवतक पर्वत पर गए। वहां से वे दोनों द्वारकापुरी गए। कुछ दिन पीछे अंधक और वृष्णियों का 'गिरि-मह' नामक एक महान् उत्सव रैवतक पर्वत पर हुआ। उसीमें अनेक वृष्णि राजकुमारों के साथ कृष्ण और अर्जुन भी पधारे और सखियों के साथ अलंकृत सुभद्रा भी आई। उसे देखकर अर्जुन के मन में काम-संकल्प हुआ। कृष्ण ने यह देखकर कहा, "यह सारण की सहोदरा मेरी

भगिनी है।" अर्जुन द्वारा उसकी प्राप्ति के उपाय पूछे जाने पर कृष्ण ने सलाह दी, "हे अर्जुन, तुम मेरी इस सुन्दरी भगिनी का बलपूर्वक हरण करो। वही क्षत्रियों का श्रेष्ठ मार्ग है। स्वयंवर में न जाने क्या हो ?"

यह सलाह करके अर्जुन ने सुभद्रा को, जब वह रैवतक गिरि की प्रदक्षिणा करके लौट रही थी, बलपूर्वक रथ पर बैठाकर हस्तिनापुर की ओर रथ हांक दिया। यह देखकर रक्षक सैनिक तुरन्त द्वारका में दौड़े गए। वहां सुधर्मा सभा में जाकर उन्होंने सभापाल को सूचना दी। सभापाल ने तुरन्त सान्नाहिकी भेरी (फौजी नगाड़ा) बजवाकर वृष्ण्यन्धक सभा का एक तात्कालिक अधिवेशन किया। वृष्णिवीरों के नेत्र लाल हो गए और वे अविलम्ब युद्ध का साज साजने की तैयारी करने लगे।

तब बलराम ने सबसे कहा, "कृष्ण तो चुपचाप बैठे हैं। इनका भाव जाने बिना आप सबका क्रोध और गर्जन व्यर्थ है।" यह सुनकर सब लोग चुप हुए और कृष्ण की ओर देखने लगे, "हे कृष्ण, तुम्हारे ही कारण हमने अर्जुन का सत्कार किया था। वह दुर्बुद्धि और कुल-कलंक है, पूजा के योग्य नहीं। कौन ऐसा है, जो जिस बरतन में खाए, उसी में छेद करे ? ऐसा कौन है, जिसे अपने प्राण प्यारे हों और जो ऐसा साहस करे ?"

यह सुनकर कृष्ण ने कहा, "अर्जुन ने हमारे कुल का कोई अपमान नहीं किया। सुभद्रा के लिए यह सम्बन्ध उचित ही है। कुन्तिभोज की पुत्री कुन्ती के पुत्र अर्जुन के साथ सम्बन्ध कौन न चाहेगा? और फिर उसके साथ युद्ध करने में कौन समर्थ है?" कृष्ण के ऐस समझाने पर सब लोग शांत हुए।

जब अर्जुन हस्तिनापुर पहुंचे तब पहले तो द्रौपदी ने उन्हें बुरा-भला कहा, "हे अर्जुन, वहीं जाओ, जहां तुम्हारी वह वल्लभा है। कितनी भी कसकर बांधो, पहली बांधी हुई गांठ ढीली पड़ ही जाती है।" इस प्रकार विलपती हुई कृष्णा को अर्जुन ने शांत किया और बार-बार क्षमा-याचना की। उधर सुभद्रा को गोपालिका के वेश में द्रौपदी के पास भेजा। उसने राजभवन में जाकर पहले कुन्ती के पैर छुए और फिर यह कहकर कि मैं आपकी दासी हूं, द्रौपदी की वंदना की। कृष्ण की बहन को अपने सामने देखकर द्रौपदी का मन भर आया और उसने उठकर उसका आलिंगन किया और उसे आशीर्वाद दिया।

इस सम्बन्ध को जानकर सब लोग परम प्रसन्न हुए। इधर जब द्वारका में अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुंचने का समाचार मिला तब सब अन्धक-वृष्णियों ने मिलकर निश्चय किया कि कृष्ण और बलराम के साथ हम सब लोग सुभद्रा के लिए यौतुक धन लेकर खाण्डवप्रस्थ चलें। बन्धुओं से ज्ञातिदेय उस महाधन को लेकर कृष्ण, बलराम और वृष्णिसमूह के इन्द्रप्रस्थ आने पर युधिष्ठिर ने सबका स्वागत किया। बलराम ने आगे बढ़कर पैरछुआई का वह नेग (पादग्रहणिक) अर्जुन को अर्पित किया। उसके बाद कुछ दिन तक कृष्ण वहीं रहे। समय पाकर सुभद्रा ने वीर अभिमन्यु को जन्म दिया। जन्म से ही कृष्ण ने उसकी सब क्रियाएं कीं। द्रौपदी से भी पांचों भाइयों के पांच पुत्र हुए।

खाण्डव-दाह

युधिष्ठिर धर्मपूर्वक इन्द्रप्रस्थ में राज्य करने लगे। इसी अवसर में ऊष्णकाल आया जानकर अर्जुन और कृष्ण मित्रों को साथ लेकर यमुना के तट पर जल-विहार के लिए चले गए। कृष्णा और सुभद्रा भी उनके साथ गईं। वहां उनके सुखपूर्वक बैठने पर एक तेजस्वी ब्राह्मण उनके पास आकर बोला, "मुझे अन्न दो। मैं अग्नि हूं। इन्द्र खाण्डव-वन की सदा रक्षा करते हैं। वहां उनका मित्र तक्षक नाग रहता है। मैं उसे जलाना चाहता हूं। यही मेरा अन्न है। तुम इन्द्र की वृष्टि से मुझे बचाना।"

अर्जुन ने कहा, "मेरे पास दिव्य अस्त्र तो हैं, किन्तु धनुष नहीं, और कृष्ण के पास भी उनके बल के अनुरूप आयुध का अभाव है। हे अग्निदेव, ये आयुध हमें दीजिए।" तब अग्नि ने वरुण का ध्यान किया और उससे अर्जुन के लिए गांडीव और कृष्ण के लिए चक्र प्राप्त किया। उन्हें प्राप्तकर अर्जुन और कृष्ण खाण्डव-वन में पहुंचे और उनके दाह में अग्नि की सहायता की। जब वन में चारों ओर से आग लगी तब अनेक नाग उसमें से निकलकर भागे। तक्षक उस समय कुरुक्षेत्र गया हुआ था, वहां न था। उसका पुत्र अश्वसेन किसी प्रकार अग्नि की लपटों के बीच में से निकलकर भागा। इन्द्र ने नागों की सहायता करनी चाही, किन्तु कृष्ण और पार्थ के सामने कुछ न कर सके।

ज्ञात होता है कि इस कथा के पीछे ऐतिहासिक अनुश्रुति का कोई तथ्य छिपा है। युधिष्ठिर की इन्द्रप्रस्थ राजधानी के पास ही खांडव-वन में नाग या मुंडा जाति की एक बस्ती बच गई थी। नागों का कुरुवंश के साथ पुराना वैर चला आता था, जिसने आगे चलकर परीक्षित और जनमेजय के समय में उग्ररूप धारण किया। उस उपनिवेश को निर्मूल करके इन्द्रप्रस्थ के राज्य को निष्कंटक बनाना, यही कृष्ण और अर्जुन का उद्देश्य था, जो खांडवदाह की इस कथा के मूल में है। उसी खांडव-वन में तक्षक के घर में मय असुर भी छिपा हुआ था। इस विपत्ति के समय अपने प्राण बचाने के लिए वह अर्जुन की शरण में आया और अर्जुन ने उसे अभयदान दिया।

इस प्रकार पुरुवंश और असुरवंश में मेल हो गया। कुछ समय के लिए नाग भी हततेज हो गए। यह देखकर नाग और असुरों के पक्षपाती इन्द्र ने कृष्ण और अर्जुन के पास आकर संधि कर ली। इस संघर्ष में इन्द्र और अग्नि आर्यों के इन दो बड़े देवों में एक शाखा के अधिष्ठाता इन्द्र नाग और असुरों के पक्षपाती थे और दूसरी शाखा के अधिष्ठाता अग्नि पुरुवंश के साथ थे। इस प्रकार इस कथानक से प्राक्कालीन जातीय संघर्षों के धुंधले इतिहास पर प्रकाश की कुछ किरणें स्फुट होती हैं।

(आदि-पर्व समाप्त)

११ : : देवर्षि नारद का उपदेश

आदि-पर्व के अंत में कहा जा चुका है कि अर्जुन ने मय नामक असुर को खांडव-दाह के अवसर पर अभय-दान दिया था। उस उपकार से कृत-कृत्य होकर मय ने कृष्ण के समक्ष अर्जुन से विनयपूर्वक कहा, "हे कौन्तेय, आपने दहकते हुए क्रुद्ध काले पावक से मेरे प्राणों की रक्षा की। इसलिए मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूं ?"

अर्जुन ने कहा, "हे महान् असुर, तुम अपना कर्तव्य कर चुके, अब कल्याणभाव से गमन करो। हमारे ऊपर प्रीति बनाये रखना।"

मय ने पुनः कहा, "आपका ऐसा कहना उचित ही है, फिर भी मुझे

प्रसन्नता होगी कि मैं आपके लिए कुछ करूं। मैं दानवों का विश्वकर्मा हूं। महाकवि मेरी संज्ञा है। आपके निमित्त अवश्य मैं कुछ निर्माण करना चाहता हूं।"

अर्जुन ने उत्तर दिया, "हे दानव, तुम मानते हो कि मैंने प्राणों के संकट से तुम्हें बचाया है, उसका कोई प्रत्युपकार मैं नहीं ले सकता; किन्तु तुम्हारा संकल्प भी व्यर्थ करना मैं नहीं चाहता। अतएव कृष्ण के लिए कुछ करो। उसीसे मेरा उपकार हो जायगा।"

यह सुनकर मय ने कृष्ण से निवेदन किया। कुछ सोचकर कृष्ण ने कहा, "हे दितिपुत्र, तुम युधिष्ठिर के लिए एक सभा का निर्माण करो, जैसी तुम ठीक समझो, जिसे देखकर मनुष्यों को विस्मय हो और जिसकी अनुकृति कोई न बना सके। हे मय, ऐसी सभा बनाओ, जिसमें देवताओं के, असुरों के और मनुष्यों के अभिप्राय और अलंकरण विरचित हों।"

कृष्ण के उस कथन को स्वीकार कर मय ने युधिष्ठिर की स्वीकृति से विमानाकृति वाली एक सभा की नींव डाली।

खाण्डवप्रस्थ में कुछ दिन सुख से रहकर कृष्ण भी पांडवों से विदा लेकर द्वारका चले गए। उनके चलते समय युधिष्ठिर ने दारुक सारथी को हटाकर स्वयं कृष्ण का रथ हांका और अर्जुन ने उनके ऊपर श्वेत चमर डुलाया।

इधर चौदह महीने तक परिश्रम करके मय ने एक लम्बी-चौड़ी सभा का निर्माण किया, जो बहुत ही चमकती थी। उसके चारों ओर का घेरा दस सहस्र किष्कु (८,७५० गज) था। न तो देवों की सुधर्मा-सभा और न अन्धक-वृष्णियों की सभा ही ऐसी रूपसंपन्न थी। उसमें आठ सहस्र किंकर या गुह्यक चारों ओर उत्कीर्ण थे, जो अपने सीपी-जैसे कानोंवाले मस्तकों पर मानो उसे उठाए हुए थे। उसमें अनेक पत्रलता और कमल के फूलों के कटाव थे। उसके चारों ओर पुष्पवन्त महाद्रुम, सुगन्धित आराम और पुष्करिणियां बनाई गई थीं। तैयार हो जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने विधिपूर्वक उसका प्रवेश-मंगल किया। अनेक ऋषि और जनपदेश्वर उसमें सम्मिलित हुए। वहां अनेक क्षत्रिय राजकुमार अर्जुन से धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करते थे और नृत्य-गीत-वादित्र का समारोह रहता था।

नारद का राजधर्मानुशासन

एक बार नारद ऋषि युधिष्ठिर के पास उस सभा में उपस्थित हुए और धर्म, काम एवं अर्थ से युक्त अनेक कुशल-प्रश्न उन्होंने पूछे। इस प्रकरण को 'कच्चिदध्याय', 'नारद-प्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासन' अथवा 'युधिष्ठिर-नारद-प्रश्न' कहा गया है।

नारद-राजनीति का लगभग सौ श्लोकों का यह प्रकरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र से अनेक बातों में मिलता है। इसमें 'प्रति' नाम के एक प्राचीन सिक्के का भी उल्लेख है, जो चौथी शती ई. पू. से पहली शती ई. पू. के बीच में कार्षापण सिक्के का चालू नाम था। सम्भावना है कि मौर्यकाल के बाद शुंग-काल में किसी समय इस प्रकरण को महाभारत में स्थान मिला। रामायण में भी इससे मिलता-जुलता एक प्रकरण है (अयोध्या-काण्ड अ० १००)। राजनीति के ज्ञान की दृष्टि से इस अध्याय का पर्याप्त महत्त्व है।

नारद इस प्रकार प्रश्न करने लगे : "हे युधिष्ठिर, अपने राज्य में तुम्हें धन की प्राप्ति तो होती है? क्या धर्म में तुम्हारा मन लगता है? काम-सुखों का उपभोग करते हुए तुम त्रिवर्ग के अनुकूल जीवन व्यतीत करते हो या नहीं? पिता-पितामह के समय से धर्म और धन के आधार पर स्थापित राज्य की पद्धति तुम्हारे समय में भी अक्षीण तो है? अर्थ, धर्म और काम, इन तीन पुरुषार्थों को अपनी-अपनी जगह बांट कर तो तुम चलते हो? इनमें से कोई एक प्रवृद्ध होकर दूसरों को दबोच तो नहीं लेता? संधि, युद्ध, भेद की नीति, चढ़ाई, किलेबन्दी इत्यादि जो राज्य-संचालन के उपाय हैं, उनको तुम अपनी कुशाग्र बुद्धि से ठीक समझ लेते हो? कृषि, वणिक्-पथ, दुर्ग-निर्माण, जलाशयों में सेतु-बंधन, गज-प्राप्ति, खनिज-संपत्ति, कर-ग्रहण और राज्य के पड़ती पड़े हुए स्थानों में जनपद-निवेश—इन आठ बातों पर समुचित ध्यान देते हो या नहीं? अमात्य, सुहृत, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—ये सब तुम्हारे राज्य में सुदृढ़ तो हैं? दुर्गाध्यक्ष, वनाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, दूत पुरोहित और ज्योतिषी राज्य के ये छह अधिकारी तुम्हारे प्रति अनुरक्त हैं, धनधान्य से प्रसन्न हैं एवं व्यसनों में आसक्त तो नहीं हैं? जिन दूतों पर

तुम्हारा भरोसा है, वे, तुम्हारे अमात्य अथवा तुम स्वयं किसी प्रकार अपने गुह्य मंत्र को प्रकट तो नहीं कर देते ? अथवा उसके विषय में विविध अनुमान लगाकर उसकी वास्तविकता को तो दूसरे लोग नहीं जान लेते ?

"अपने कुलीन और अनुरक्त मंत्रियों को व्यवहार में तुम आत्मवत् समझते हो या नहीं ? तुम्हारे प्रति उनकी बुद्धि पवित्र है या नहीं ? तुमने उन्हें जीवन के सब साधनों से सम्पन्न बनाया है या नहीं ? जिस राजा के मंत्री को शास्त्रों में चतुर मंत्रधनी अमात्य सु-गुप्त रखते हैं, उसे ही विजय मिलती है। तुम समय पर सोकर ठीक समय पर जागते हो या नहीं? रात्रि के अन्तिम भाग में शांत मन से अपने कार्यों पर विचार करते हो या नहीं? कहीं तुम केवल प्रधानमंत्री तक ही अपनी मंत्रणा को सीमित तो नहीं रखते? अथवा मंत्रि-परिषद् के सभी मंत्रियों को महत्त्वपूर्ण विषय के मंत्र में सम्मिलित तो नहीं करते? केवल प्रधानमंत्री के साथ मंत्र करने से वह राजा को अपने मत से प्रभावित कर सकता है, जबकि बहुत से मंत्रियों के साथ किया हुआ रहस्यपूर्ण मंत्र प्रकट हो जाता है। कहीं तुम्हारा किया हुआ गुप्त मंत्र सारे राष्ट्र में तो नहीं फैल जाता? राष्ट्र के लिए महान् अभ्युदय-वाले जो निश्चय तुम करते हो, उनपर तुरन्त कार्य करना आरम्भ कर देते हो या नहीं ? उन्हें लम्बा तो नहीं टाल देते ? तुम्हारे जो कार्याध्यक्ष हैं, उनको सदा अपने से परोक्ष रखकर भयभीत तो नहीं कर देते ? अथवा वे सब परित्यक्त से तो नहीं रहते ? राजा का सान्निध्य उनको कर्मक्षम रखता है। तुम्हारे कर्मों की सूचना फल निष्पन्न होने पर ही औरों को मिलती है या नहीं ? अनवाप्त कर्मों की बात तो चारों ओर नहीं फैल जाती? तुम्हारे राज्य के कार्यालयों के अध्यक्ष और सैनिक-विभाग के अधिकारी निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करने में समर्थ होते हैं या नहीं ? कार्यालय के कामों में जो विज्ञ हैं, ऐसे एक पंडित को रखना अच्छा है, हजार मूर्खों को रखना अच्छा नहीं, क्योंकि जब काम अटकता है, तब केवल बुद्धिमान ही उस संकट से बचाता है।

अधिकारियों से व्यवहार

"तुम्हारे राज्य में दुर्गों को धन, धान्य, शस्त्र, जलाशय, यन्त्र, शिल्पी

और धनुर्धरों से सुसज्जित तो कर दिया गया है ? मेधावी, शूर और विचक्षण एक भी अमात्य जिस राजा के पास होता है उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है। अपने राज्य में और दूसरे राष्ट्रों के भी सब महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों की जानकारी अपने गुप्तचरों से प्राप्त करते हो या नहीं ? शत्रुओं द्वारा अविदित रूप से उनके कार्यों पर तुम निगाह रखते हो या नहीं ? विनयसंपन्न, कुलीन, बहुश्रुत और शास्त्रों की चर्चा करनेवाले अपने पुरोहित का सत्कार तुम करते हो या नहीं ? अपने प्रधान अधिकारियों को महत्त्वपूर्ण कार्यों में, बीच के अधिकारियों को मध्यम कार्यों में और निम्न वर्ग के अधिकारियों को उनके अनुरूप छोटे कर्मों में ही नियुक्त करते हो या नहीं ? पिता-पितामह के समय से आये हुए, सब छल-छिद्रों से विशुद्ध श्रेष्ठ कामों में ही लगाना चाहिए। कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे मंत्री तुम्हारे उग्र व्यवहार से प्रजाओं को उद्वेजित करते हुए राष्ट्र का अनुशासन करते हों ? तुम्हारा सेनापति शूर, मतिमान, धृतिमान, अनुरक्त, दक्ष और कुलीन तो है ? संग्राम में निपुण बलाधिकृत या सैनिक मुख्याधिकारियों के विशेष पराक्रम दिखाने पर तुम उन्हें सत्कारपूर्वक सम्मानित करते हो या नहीं ? तुम अपनी सेना को यथोचित भोजन और वेतन ठीक समय पर देते हो या नहीं ? कहीं इसमें ढिलाई तो नहीं करते ? जिन्हें भोजन और वेतन पर नियुक्त किया है, यदि उनके काल का अतिक्रमण हो जाता है तो अपनी दुर्गति के कारण वे स्वामी पर क्रोध करने लगते हैं। इसे भारी अनर्थ समझना चाहिए।

"कहीं ऐसा तो नहीं करते कि युद्ध-संबंधी मामलों में तुम मनमाने ढंग से स्वयं आदेश देने लगते हो, क्योंकि अपने मन से चाहे जैसा करने से शासन-पद्धति का अतिक्रमण हो जाता है। जो राजपुरुष अपनी शक्ति और श्रम से कोई शोभन कर्म सिद्ध करता है, उसे तुम अधिक सम्मान या वेतन में वृद्धि देते हो या नहीं ? जो विद्या-विशेषज्ञ या ज्ञान-विशारद लोग हैं, उन्हें उनके गुण और योग्यता के अनुसार दान से कृतार्थ करते हो या नहीं ? जो लोग राज्य के लिए मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, या किसी आपत्ति में पड़ जाते हैं, उनके भरण-पोषण का भार तुम उठाते हो या नहीं ? जो शत्रु युद्ध में पराजित हुआ है, या भय से तुम्हारी शरण में आ

गया है, उसकी रक्षा पुत्रवत् करते हो या नहीं ? सारी पृथिवी के लिए माता-पिता के समान समभाव रखने वाले तुम स्वयं तो पक्षपात में नहीं पड़ जाते ? जब अपने शत्रु को संकट में फंसा हुआ देखते हो, तब तुरन्त उस पर चढ़ाई करते हो या नहीं ? ऐसे समय तुम अपनी सेना को अग्रिम वेतन तो बांटते हो और परराष्ट्र से प्राप्त होनेवाले रत्नों में सेनापतियों को भाग देते हो या नहीं ?

"जब तुम शत्रुओं पर चढ़ाई करते हो, उससे पूर्व ही तुम्हारे द्वारा सुप्रयुक्त साम-दाम-दंड-भेद, ये उपाय वहां अपना काम करने लगते हैं या नहीं? अपने राष्ट्र को पहले दृढ़ बनाकर पीछे तुम शत्रु पर अभियान करते हो और शत्रु को पराजित करने के बाद उसकी रक्षा तो करते हो ? बलमुख्यों के समुचित नेतृत्व में तुम्हारी चतुरंगिणी सेना शत्रु-पक्ष को लूट-पाट द्वारा बाधा तो नहीं पहुंचाती है ? जब तुम परराष्ट्र में शत्रुओं से युद्ध करने जाते हो, तब वहां की खड़ी फसल (लव) और तैयार फसल (मुष्टि), इन दोनों पर भी अधिकार कर लेते हो या नहीं ? स्वराष्ट्र और परराष्ट्र में जहां कहीं तुम होते हो, तुम्हारे बहुसंख्यक अंगरक्षक आवश्यक सेवाकार्य और रक्षाकार्य का सम्पादन करते हैं या नहीं ? तुम्हारी इच्छा के अनुसार वे तुम्हारे भोजन, अनुलेपन और सुगंधित द्रव्यों की रक्षा तो इस प्रकार करते हैं कि उनमें कोई विष न मिला सके ? तुम्हारे लिए राजपुरुष, अन्न के कोष्ठागार, वाहन, राजद्वार की रक्षा, आयुध और विविध स्थानों से आय, इन बातों का प्रबन्ध तुम्हारे अधीन सामंत लोग करते हैं या नहीं ?

समुचित सावधानी

"अपने आभ्यंतर प्रतीहारों और बाह्य प्रतीहारों से सर्वप्रथम अपने आपको सुरक्षित तो रखते हो ? और फिर उन्हें अपने अन्य कुटुम्बियों से एवं आपस में मिल जाने से पृथक् तो रखते हो ? कहीं दिन का पूर्वार्द्ध भाग पान, द्यूत, क्रीड़ा, प्रमदा आदि व्यसनों में तो तुम नहीं खो देते ? कहीं तुम अपनी आय के चौथाई, या आधे, या तीन-चौथाई भाग से अधिक तो व्यय नहीं कर डालते ? तुम अपने कुटुम्बियों की, गुरुजनों की, वृद्धों की और अपने आश्रित व्यापारी और शिल्पियों की उनके विपद-ग्रस्त होने पर धन-

धान्य से निरन्तर सहायता तो करते हो? आय और व्यय विभाग में नियुक्त सब गणक और लेखक नित्य प्रतिदिन के पूर्वाद्ध भाग में हिसाब-किताब (आय व्यय) का तो ठीक लेखा-जोखा (अनुष्ठान) करते हैं? अर्थ-विभाग में जो अनुभवी (संप्रौढ़) हितैषी और अनुरक्त कर्मचारी हैं, उन्हें भ्रष्टाचार का पूर्व प्रमाण पाये विना उनके पदों से अलग तो नहीं कर देते? अपने राज-कर्मचारियों में उत्तम, मध्यम और अधम कोटियों को पहचान कर जो जिस काम के योग्य है, उसे वहीं नियुक्त तो करते हो? कहीं तुम ऐसे व्यक्तियों को तो राजसेवा में नियुक्त नहीं कर लेते, जो लोभी, चोरी करनेवाले, तुम्हारे प्रतिकूल अथवा नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) हैं? कहीं चोर और लोभी राजकर्मचारी, राजकुल के कुमार, अन्तःपुर का स्त्री-वर्ग, अथवा तुम स्वयं जनता को आर्थिक दृष्टि से लूटने तो नहीं लगते?

"क्या तुम इस बात का ध्यान रखते हो कि तुम्हारे राष्ट्र में खेती करने वाले सब प्रकार पनपते हैं? क्या राष्ट्र में स्थान-स्थान पर जल से भरे हुए बड़े-बड़े तालों का तुमने निर्माण कराया है? कहीं खेती को तुमने दैव के आश्रय पर तो नहीं छोड़ दिया? जिस समय किसानों पर विपत्ति पड़ती है, उस समय तुम उनमें निःशुल्क भोजन और बीज का तो वितरण करते हो? उस विपत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए तुम केवल रुपये सैंकड़े व्याज की दर से अनुग्रह-ऋण (तकावी) का तो प्रबन्ध करते हो? हे तात, कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा इन तीनों के संश्रय से ही लोक का सुख बढ़ता है। क्या तुमने अपने राष्ट्र में ईमानदार राजकर्मचारियों द्वारा वार्ता-शास्त्र अर्थात् कृषि, वाणिज्य और पशुपालन की समुचित व्यवस्था कर दी है?

"हे राजन्, क्या तुम्हारे जनपद में ईमानदार, बुद्धिमान और कर्त्तव्य-परायण पंच लोग एकत्र होकर जनता का कल्याण करते हैं? राजा को उचित है कि अपने पाटनगर या राजधानी की सुरक्षा का पक्का प्रबन्ध करे। दुर्ग-विधान के जिन उपायों से नगर-गुप्ति की जाती है, उसी विधि से एक-एक गांव की रक्षा-विधि करे, और गांवों की रक्षा-व्यवस्था के द्वारा समस्त जनपद की रक्षा का बन्धान बांधे, और सुरक्षित हुए ग्रामों और जनपद को नगर-रक्षा के साथ संबंधित कर दे। इस प्रकार का विधान क्या तुमने अपने राष्ट्र में कर दिया है? तुम्हारे राज्य में सेना और अध्यक्ष

लोग सम-विषम स्थानों में डकैतों का पीछा तो करते हैं? तुम अपने अन्तः-पुर को शांत और अनुकूल तो रखते हो ? उसकी रक्षा का तुमने ठीक प्रबंध किया है या नहीं ? तुम उसपर अधिक श्रद्धा रखकर राज्य के गुह्य मंत्र तो नहीं बता देते? रात्रि के पहले पहर के एकान्त मुहूर्त्त में गुप्तचरों के समाचार सुनकर और तदनुसार कार्य का आदेश देकर रात्रि के शेष दो पहरों में अपने आभ्यंतर जनों के साथ सुख और निद्रा का अनुभव तो करते हो? और फिर चौथे पहर में उठकर धर्म और अर्थ-संबंधी कार्यों पर विचार तो करते हो ?

"अपने मंत्रियों के साथ प्रातःकाल दर्शन के लिए सजधज कर आई हुई प्रजा को दर्शन तो देते हो ? लाल वस्त्र पहने हुए, हाथ में तलवार लेकर बारहबानी-लैस तुम्हारे अंग-रक्षक चारों ओर से तुम्हें घेरकर तुम्हारी सेवा करते हैं या नहीं ? जिस प्रकार यमराज प्राणिमात्र के प्रति समव्यवहार करते हैं, वैसे ही तुम भी दंड्य, पूज्य, अप्रिय और प्रिय इन सबमें समानता बरतते हो या नहीं ? शरीर की व्याधियों को औषध और नियम-पालन से और मन के रोगों को ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा से दूर करते हो या नहीं ? अष्टांग-चिकित्सा के जाननेवाले सुहृद एवं अनुरक्त वैद्य लोग तुम्हारे शरीर की रक्षा तो करते हैं ? ऐसा तो नहीं होता कि वादी-प्रतिवादी के आने पर तुम मान, मोह या कामवश उन्हें टाल देते हो ? तुम अपने आश्रित मनुष्यों की वृत्ति को किसी अवस्था में भी रोक तो नहीं लेते, चाहे उन्होंने लोभ, मोह, विश्वास और प्रेम किसी दृष्टि से तुम्हारा आश्रय क्यों न लिया हो ? कहीं तुम्हारे पौर और जानपद लोग औरों से क्रीत होकर तुम्हारे विरुद्ध आचरण तो नहीं करते ? तुम बलवान शत्रु को भी अपने सैनिक बल से अथवा नीति-बल से या दोनों से दबाकर अपने से दुर्बल बनाये रखते हो या नहीं ? तुम्हें प्रधान मान कर राजा लोग तुम्हारे प्रति अनुरक्त भाव से अपने प्राणतक देने को उद्यत रहते हैं या नहीं ? तुम सब विद्याओं की, ब्राह्मणों और सद्वृत्ति लोगों की गुणों के अनुसार पूजा करते हो या नहीं ?

"क्या तुम पूर्व-पुरुषों द्वारा आचरित त्रयीमूलक धर्म उन्हींके समान पालन करते हो ? तुम्हारे घर पर आमंत्रित होकर गुणवान द्विज लोग तुम्हारी उपस्थिति में स्वादु अन्नों से तृप्त होते हैं या नहीं ? उन्हें उचित दक्षिणा देते हो या नहीं ? तुम एकाग्र मन से वाजपेय, पुण्डरीक आदि सोम-

यज्ञों को विधिपूर्वक करते हो या नहीं ? अपने संबंधी, गुरुजन, द्विजजन और वृद्धजन, देवता और तापस, चैत्य-वृक्ष और कल्याणसंपन्न ब्राह्मण, इनका तुम विधिपूर्वक अभिवादन तो करते हो ? जिस आचार और बुद्धि का मैंने उल्लेख किया है, वह धर्म, काम और अर्थ की प्रकाशिका है एवं आयु और यश का संवर्द्धन करती है। तुमने भली प्रकार उसे ग्रहण तो कर लिया है ? जो राजा इस प्रकार की बुद्धि से युक्त होता है, उसका राष्ट्र कभी दुःख नहीं पाता।

"लोभ के वशीभूत हो तुम्हारे मंत्री किसी आर्य, विशुद्धात्मा और सच्चे व्यक्ति को चोरी के झूठ-मूठ अपराध में पकड़वाकर शास्त्रानुसार न्याय के बिना ही मृत्युदंड तो नहीं दे देते ? अथवा ऐसा तो नहीं कि रंगे हाथ पकड़े हुए एवं भली प्रकार छानबीन करके न्याय-विशेषज्ञों द्वारा अपराधी ठहराये हुए चोर को भी धन के लोभ से मंत्री छोड़ देते हों ? धनवान् और धनहीनों के बीच में न्याय का निश्चय हो जाने पर भी कहीं मंत्री लोग पैसा खाकर किये हुए निश्चयों को उलट-पुलट तो नहीं कर देते ? हे राजन्, बुद्धिमान व्यक्तियों ने ये चौदह दोष कहे हैं, नास्तिकता, अनृत, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान लोगों से मिलकर विचार न करना, आलस्य, चित्त की चंचलता, केवल एक व्यक्ति के साथ कार्य का प्रारम्भ करना, जो अनभिज्ञ हैं उनके साथ उस विषय का विचार करना, निश्चित की हुई बात का आरम्भ न करना, मंत्र को गुप्त न रखना, मंगलात्मक कार्यों का न करना और विषयों में आसक्ति। तुम अपने आपको इन दोषों से युक्तिपूर्वक मुक्त तो रखते हो ? वेद यज्ञ से सफल होता है, धन दान और भोग से, स्त्रियां रति और संतान से एवं पढ़ना-लिखना शील और सदाचार से।"

अन्य कुशल-प्रश्न

यह कहकर नारदजी ने युधिष्ठिर से कुछ और भी कुशल-प्रश्न किये :

"जो व्यापारी लाभ के लिए दूर-दूर से माल लेकर आते हैं, उनसे तुम्हारे चुंगी के अधिकारी निर्धारित शुल्क तो वसूल करते हैं ? वे सब वणिक तुम्हारे नगर और राज्य में छल-प्रपंचों से ठगे न जाकर अपना माल तो ला सकते हैं ? तुम वृद्धों के धर्मानुकूल और अर्थशास्त्रानुकूल वचन तो

सुनते हो ? राज्य के कृषितंत्र, गोधन एवं पुष्प और फलों से उत्पन्न धान्य, घृत और मधु धर्मार्थ द्विजातियों को दिया जाता है या नहीं ? तुम सब शिल्पियों को चौमासे से पहले ही पर्याप्त द्रव्य-सामग्री तो दे देते हो, जिससे वे हर्जे के बिना अपना काम करते रहें ? शिल्पी जो काम करते हैं, क्या तुम उसकी जानकारी रखते हो ? क्या शिल्पी की प्रशंसा करते हो और विशेष व्यक्तियों को सबके बीच में पूजादिक से सम्मानित करते हो ? हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र आदि शिल्प और कलाओं के सूत्रात्मक संग्रहों का क्या तुम ज्ञान रखते हो ? क्या तुम धनुर्वेद के सूत्र और नागर-यंत्रसूत्र का अपने महल में अभ्यास करते हो ? सब अस्त्र, अभिचार और विष-योगों का तुम्हें ज्ञान है ? अग्नि, सर्प, व्याल, रोग, राक्षस, इन भयों से राष्ट्र की रक्षा तो होती है ? अंधे, गूंगे, लंगड़े, अनाथ, विकलांग और प्रव्रजित लोगों के पालन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर पिता के समान तुम लेते हो या नहीं ?"

नारद की यह अमृतोपम वाणी सुनकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने प्रसन्न मन से उन्हें अभिवादन करके कहा, "आपने जैसा कहा है, मैं वैसा ही करूंगा। आपके इस उपदेश से मेरी प्रज्ञा में वृद्धि हुई है।"

सभा-पर्व का यह प्रकरण राजाओं के लिए आवश्यक प्रज्ञा या व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का सुन्दर संग्रह है। महाभारत के अन्य अनेक प्रकरणों में भी धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल जीवन-यापन की निपुणता को प्रज्ञा कहा है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा एक शक्ति मानी जाती थी। क्षत्रियों के लिए प्रज्ञा, गृहस्थों के लिए प्रज्ञा, प्रव्रजित लोगों के जीवन में प्रज्ञा, स्त्रियों की कर्त्तव्य-निष्ठा में प्रज्ञा, यहांतक कि वणिक् और शिल्पी जनों के व्यवहार में भी प्रज्ञा का आवश्यक स्थान था। उस काल में प्रज्ञा एक पारिभाषिक शब्द ही बन गया था। महाभारत में यत्र-तत्र विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रज्ञा की व्याख्या पाई जाती है। लोक, परलोक, धर्म, धन, सुख, कर्त्तव्य, इन सब प्रकार के कर्त्तव्यों का समुचित निर्वाह करने की जो समन्वयात्मक विधि थी, उसका ज्ञान और तदनुसार आचरण प्रज्ञा का लक्षण समझा जाता था। नारद ने प्रश्नमुख से राजाओं के लिए आवश्यक प्रज्ञा या बुद्धि की व्याख्या की है।

यह प्रकरण किसी प्राचीन अर्थशास्त्र पर आश्रित जान पड़ता है।

इसकी कई बातें कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी मिलती हैं। कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में जिन प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें 'पिशुन' नामक एक आचार्य भी हैं। यह पिशुन ही नारद ज्ञात होते हैं। वस्तुतः मंत्रिपरिषद् के कितने मंत्रियों के साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए, इस विषय में पिशुन का मत और नारद-राजनीति का मत एक-सा है। पिशुन का कहना था कि न तो केवल प्रधान मंत्री से और न बहुत से मंत्रियों से ही राजा को मंत्रणा करना उचित है, किन्तु जो मंत्री जिस कर्म के विषय में मंत्र देने के योग्य हों, उनसे उस-उस विषय में मंत्रणा करनी चाहिए। यही मत सभा-पर्व के 'कच्चिन्मंत्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह' (५।१९) इस श्लोक में व्यक्त किया गया है। इस पर्व के अन्त में सन्निविष्ट फलश्रुति इस बात का संकेत है कि किसी प्राचीन अर्थशास्त्र से उठकर यह प्रकरण महाभारत के इस स्थल में सुरक्षित रह गया है।

१२ :: युधिष्ठिर की सभा

नारद के मुख से प्रश्नों के रूप में राजधर्मानुशासन सुनकर युधिष्ठिर ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "हे भगवन्, पूर्व राजाओं ने जिस न्यायोचित मार्ग का अनुसरण किया था, मैं भी यथाशक्ति उनके सत्पथ पर चलने की इच्छा रखता हूं।" पुनः नारद को स्वस्थ देखकर युधिष्ठिर ने मय दानव द्वारा बनाई हुई अपनी उस सभा के विषय में जानना चाहा।

सभा और समिति

वस्तुतः इस प्रसंग में महाभारतकार ने प्राचीन भारत में राजाओं की जो सभा हुआ करती थी, उसके विषय में अच्छा प्रकाश डाला है। वैदिक काल से ही सभा और समिति ये दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाएं थीं: सभा राजा की परिषद् जैसी संस्था थी और समिति समस्त जन की प्रतिनिधि संस्था थी। वैदिक काल में समिति दोनों में अधिक महत्त्वपूर्ण थी। कालान्तर में जब जनता की राजनैतिक चेतना कुछ फीकी पड़ी, तब

समिति का महत्त्व उतना ही घट गया और सभा क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण होती गई। वैदिक काल में भी सभा के दो अर्थ थे। एक तो सभा सदस्यों की संस्था थी, जिन्हें सभेय कहते थे। सभेय ही आगे चलकर पाणिनीय संस्कृत में सभ्य ('सभायां साधुः') कहलाने लगे। सभा का दूसरा अर्थ वह भवन या शाला थी, जिसमें उस संस्था की बैठक होती थी। यह भवन खंभों की सहायता से तैयार किया जाता था, जिन्हें वैदिक भाषा में सभा-स्थाणु कहते थे। वैदिक काल की कोई ऐसी इमारत खुदाई में नहीं मिली, जिसे उस समय की सभा का नमूना कहा जा सके। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि उस समय की अधिकांश सभाएं लकड़ी की बनती थीं। इन्हें काष्ठ-सभा कहा जाता था। यह शब्द पाणिनि सूत्र २।४।२३ (सभा राजामनुष्य-पूर्वा) के प्राचीन उदाहरण के रूप में बच गया है। सभा शब्द के वे दोनों अर्थ पाणिनि के समय और उसके बाद की राजनैतिक शब्दावली में भी चालू रहे।

पत्थर से बनी पहली सभा

यहां युधिष्ठिर का प्रश्न इसी पृष्ठभूमि को लेकर पूछा गया है। मय असुर ने युधिष्ठिर के लिए जो सभा बनाई थी, उसे मणिमयी कहा गया है, जिसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि वह पत्थरों की बनी हुई थी। लोक में जिसे संग कहते हैं, उसे ही प्राचीन परिभाषा में मणि कहते थे। इसीलिए यशब, हकीक आदि की बनी हुई गुरियां मनके कहलाती थीं। ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर की यह सभा लकड़ी की न होकर पहले-पहल पत्थर की बनाई गई थी। यह परिमाण में लम्बी-चौड़ी थी और भीतर से इसके खंभे और पत्थर घोटकर चिकने और चमकदार बनाये गए थे। अतएव युधिष्ठिर के पूछने पर नारद ने कहा, "हे तात, जैसी तुम्हारी यह मणिमयी सभा है, वैसी मनुष्यों में न पहले कभी देखी गई और न सुनी गई।" (६।१०) नारद के इस कथन के मूल में ऐतिहासिक तथ्य है।

पत्थर की सभा का पहला उदाहरण मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की सभा का मिला है, जिसका उल्लेख पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में 'चन्द्रगुप्त-सभा' नाम से किया है। एक पत्थर में तराशे हुए बीस-बीस फुट ऊंचे लगभग अस्सी

खंभों से यह सभा बनी थी, जिसके अवशेष प्राचीन पाटलिपुत्र की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। युधिष्ठिर की मणिमयी सभा का वर्णन उससे मिलता है।

अन्य दिव्य सभाएं

नारद ने इतना और कहा, "यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर और ब्रह्मा इन पांचों की दिव्य सभाओं का परिचय मुझे है। यदि तुम चाहो तो मैं कहूं कि वे किस द्रव्य की बनी हुई हैं, विस्तार और आयाम में कितनी लम्बी-चौड़ी हैं और उनके सभासद कौन-कौन हैं।"

युधिष्ठिर के इच्छा प्रकट करने पर नारद ने इन पांचों सभाओं का विस्तार से वर्णन किया। ये वर्णन भारत के धार्मिक इतिहास की दृष्टि से कुछ महत्त्व रखते हैं। इनका सार यह है कि यम की सभा में अनेक राजा लोग, वरुण की सभा में नाग और असुर, नदी और समुद्र, कुबेर की सभा में यक्ष, राक्षस, गंवर्ध, अप्सराएं और भगवान शंकर, ब्रह्मा की सभा में महर्षि और सब शास्त्र, एवं इन्द्र की सभा में देवता और महर्षि सदस्यों के रूप में विराजमान रहते थे। राजाओं में केवल हरिश्चन्द्र ऐसे हैं, जो इन्द्र की सभा के स्थायी सदस्य हैं।

युधिष्ठिर द्वारा इसका कारण पूछने पर नारद ने कहा, "हरिश्चन्द्र सब राजाओं में सम्राट थे। उन्होंने जैत्र रथ में बैठकर शस्त्र के प्रताप से सातों द्वीपों को जीत कर राजसूय नामक महाक्रतु का अनुष्ठान किया, जिसके लिए सब राजाओं ने लाकर उन्हें धन दिया। उस यज्ञ के प्रताप से हरिश्चन्द्र उन सब राजाओं से अधिक तेजस्वी हुए और उस महायज्ञ की समाप्ति पर अभिषिक्त होकर साम्राज्य के साथ सुशोभित हुए। अतएव हे युधिष्ठिर! तुम भी संकल्प करो कि हरिश्चन्द्र की भांति राजसूय महायज्ञ का अनुष्ठान करोगे। अपने वशवर्त्ती भाइयों की सहायता से तुम सारी पृथिवी को जीत सकते हो।"

यह सुनकर युधिष्ठिर ने भाइयों के साथ मंत्रणा की और राजसूय-यज्ञ करने का संकल्प किया। उन्होंने सर्वप्रथम अपने मन में सोचा कि किस प्रकार सब लोगों का हित किया जाय, क्योंकि प्रजाओं के प्रति अनुग्रह उस यज्ञ की पहली सीढ़ी है।

युधिष्ठिर ने जब राजसूय के संकल्प से प्रजाहित का अवलम्बन किया,

तब वह सच्चे अर्थों में अजातशत्रु बन गए। राज्य में कोई उनका बैरी न रहा। उधर वह अपने भाइयों और मंत्रियों से बार-बार राजसूय के विषय में सलाह करने लगे। मंत्रियों ने कहा, "हे महाप्राज्ञ, आपको अवश्य यह यज्ञ करना चाहिए। राजसूय से अभिषिक्त होकर ही राजा सम्राट् बनता है। आपमें सम्राट् बनने के गुण हैं। आपके लिए राजसूय का अनुकूल समय है। हम सब आपके वशवर्ती हैं। अतएव बिना विचार किये अब आप राजसूय-यज्ञ का निश्चय कीजिए।"

वस्तुतः यहां तक युधिष्ठिर में और दुर्योधन में राजनैतिक होड़ या सीधी टक्कर होने का कोई कारण नहीं बना था। दुर्योधन गंगा के किनारे हस्तिनापुर में और युधिष्ठिर यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ में समान पदवी के राजा थे। युधिष्ठिर के मन में महत्त्वाकांक्षा का यह नया अंकुर उत्पन्न हो गया। उन्होंने बार-बार अपने पुरोहित धौम्य और कुलवृद्ध द्वैपायन व्यास से परामर्श किया, किन्तु उनके समर्थन से भी वह कार्य के निश्चय पर न पहुंच सके। तब उनके मन में यह विचार आया कि अकेले कृष्ण ही इस विषय में पक्की सलाह दे सकते हैं। वह इस समय सब लोगों से बुद्धि में श्रेष्ठ हैं। उनके कर्म देवतुल्य हैं। कोई विषय ऐसा नहीं, जो उन्हें न आता हो।

इस प्रकार बुद्धि स्थिर करके उन्होंने द्वारावती में अपना दूत भेजा।

१३ : : जरासन्ध-वध

युधिष्ठिर की इच्छा जानकर कृष्ण इन्द्रप्रस्थ आये। स्वागत-सत्कार करके युधिष्ठिर ने कहा, "हे कृष्ण, मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूं, किन्तु कोरी इच्छा से वह नहीं होता। वह जिस तरह मिलता है, तुम जानते हो। जो सबका राजा होता है, वही राजसूय का अधिकारी है। मेरे मित्र मुझसे आकर कहते हैं कि मैं राजसूय करूं। सो हे कृष्ण, इस विषय में तुम्हीं निश्चित परामर्श दो, जिससे मेरा क्षेम हो।"

जरासन्ध का बाधक गुट्ट

कृष्ण ने उत्तर दिया, "हे युधिष्ठिर, तुममें राजसूय-यज्ञ के सब गुण

हैं; परन्तु मेरी यह सम्मति है कि मगध की राजधानी गिरिव्रज का प्रतापी सम्राट जरासन्ध जबतक जीवित है, तबतक तुम्हारा राजसूय सफल नहीं हो सकता। उसने देश के अनेक राजाओं को गिरिव्रज की कन्दराओं में लाकर बन्द कर रखा है, जिसके कारण वह गिरिव्रज एक प्रकार से पुरुषव्रज बन गया है। वह जरासन्ध महादेव का भक्त है। हम लोग भी किसी समय शूरसेन देश में रहते थे, किन्तु कंस की मृत्यु होने पर उसकी पत्नी ने अपने पिता जरासन्ध को शूरसेन देश पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। उस समय हमारे उदीच्य भोजों के अठारह कुल भागकर पश्चिम की ओर बिखर गए और हमने रैवतक पर्वत के समीप कुशस्थली नामक राजधानी बसाई। जरासन्ध की सेना से लड़ना हमारे लिए असंभव था। तीन सौ वर्षों तक उससे जूझने पर भी हम पार नहीं पा सकते। पहले हम लोग आनन्दित जीवन बिताते हुए मथुरा में रहते थे; किन्तु उसके आक्रमण से अपनी महती श्री को समेटकर धन-संपत्ति और बन्धु-बान्धवों के साथ पश्चिम में जाकर बस रहे। यद्यपि हमारे अठारह कुलों में अठारह हजार जान पर खेलने-वाले व्रात नामक योद्धा हैं, और भी सात रथी और सात महारथी हैं, आहुक और अन्धक भोज के पुत्र रण में लोक का संहनन करनेवाले हैं, फिर भी आजतक मध्यदेश के उस जीवन की टीस हम सबके हृदय से नहीं मिटती।

"और भी; वह जरासन्ध अकेला नहीं है, सहायक राजाओं का पूरा समूह उसके पक्ष में है, उसने पृथिवी के मध्य भाग को अपने अधीन करके साम्राज्य स्थापित किया है। चेदि का शिशुपाल शिष्य की भांति उसका अनुगामी है। करूष देश का वक्र उसके साथ है। कुन्ति देश (आधुनिक कोंतवार, दतिया, ग्वालियर) का दन्तवक्र, प्राग्ज्योतिष का भगदत्त, वंग और पुंड्र का पौंड्रक, विदर्भ का भीष्मक—ये सब उसी जरासन्ध के गुट्ट में हैं। इसे तोड़े बिना कोई राजसूय सफल नहीं हो सकता। हे राजन्, मेरी यह मति है। आगे तुम जैसा उचित समझो, निश्चित स्वयं करो।"

कृष्ण की बात युधिष्ठिर ने समझ ली। उस समय की जो राजनैतिक परिस्थिति थी, उसमें जरासन्ध मगध से शूरसेन-मथुरा तक के प्रदेश को दबोच कर चट्टान की तरह दृढ़ बैठा था। सहायक राजाओं की एक शृंखला उसके चारों ओर कसी हुई थी। मगध से जो साम्राज्य उठ रहा था, उसके

साथ टक्कर कौन ले, यही प्रश्न था।

दो प्रकार की शासन-प्रणालियां

इस समय भारत में दो प्रकार की शासन-प्रणालियों से लोग परिचित थे। एक सार्वभौम शासन-प्रणाली थी, जिसमें अनेक जनपदों के बीच कोई एक राजा अश्वमेध या राजसूय यज्ञ करके ऊपर तैर आता था, किन्तु वह अन्य जनपदीय राजाओं को उखाड़ता न था। प्रत्येक जनपद की पृथिवी का स्वामी पार्थिव कहलाता था; किन्तु कई जनपदों के प्रदेश को मिलाकर महापृथिवी या सर्वभूमि कहते थे। उसी का अधिपति सार्वभौम कहलाता था। दौःषन्ति भरत इसी प्रकार के सार्वभौम थे, जिन्होंने अनेक अश्वमेधों द्वारा अन्य जनपदीय राजाओं को अपने वश में किया, किन्तु उन्हें जड़ से उखाड़ा नहीं।

दूसरी शासन-प्रणाली गणराज्यों की थी। अन्धक-वृष्णियों में यही शासन था। इस पद्धति में प्रत्येक कुल एक इकाई माना जाता था। हरएक कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। कुलों के राजा मिलकर अपने में से किसी एक को श्रेष्ठ चुन लेते थे। कभी कोई श्रेष्ठ बनता, कभी कोई। इस प्रणाली को पारमेष्ठ्य पद्धति कहा गया है।

साम्राज्य और पारमेष्ठ्य इन दोनों के तारतम्य का विवेचन करते हुए युधिष्ठिर ने कहा, "हे कृष्ण, आपने जो कहा है, वह ठीक ही है। सम्राट शब्द अन्य सबको हड़प लेने वाला है (सम्राट् शब्दोहि कृत्स्नभाक्, सभा० १४।२)। उसमें और गणराज्य में तीन मुख्य भेद हैं। साम्राज्य का आधार बल है, कुल राज्य का आधार शम या शांति की नीति है। जो लोग केवल मोक्ष में शम की बात कहते हैं, मैं उनसे सहमत नहीं। शम की नीति तो राज्य के लिए भी है। दूसरे, सम्राट सारे जनपद के कल्याण को अपने ही केन्द्र में समेट लेना चाहता है। किन्तु कुलराज्य में यह विशाल भूमि जहां तक देखें, रत्नों से बिछी हुई जान पड़ेगी। जनपद के भीतर दूर-दूर तक जनता का श्रेय या कल्याण व्यापक रूप में पाया जायगा। तीसरे, सम्राट अपने समक्ष अन्य किसी के अनुभाव या व्यक्ति-गरिमा को स्वीकार नहीं करता, किन्तु कुलराज्य में दूसरों से समवेत होकर ही कोई व्यक्ति प्रशस्त और पूज्य बनता है। आरम्भ (सैनिक पराक्रम) से पारमेष्ठ्य नहीं

प्राप्त होता। उसमें तो कुल के मनस्वी लोगों की सम्मति से कार्य करना आवश्यक है। मुझे यह निश्चय प्रतीत होता है कि जरासन्ध के चक्र को तोड़े बिना मैं स्वयं सम्राट् के गुण नहीं प्राप्त कर सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि अपने स्वार्थ के लिए भीम और अर्जुन को और आपको कैसे भेज दूं? भीम और अर्जुन मेरी आंखें हैं और आप तो मन के समान हैं। दोनों आंखों और मन के बिना जीना भी कोई जीवन है? राजसूय के लिए यह दूसरा झंझट खड़ा करके कहीं ऐसा न हो कि कोई अनर्थ देखना पड़े। अतएव इस कार्य से हाथ खींच लेना ही अच्छा है।"

यह सुनकर अर्जुन और कृष्ण दोनों ने युधिष्ठिर को समझाया। अर्जुन ने कहा, "राजा को पराक्रमयुक्त होना चाहिए। वही पूरा क्षत्रिय है, जो विजय की वृत्ति रखता है। समस्त गुण पराक्रम के साथ हैं। यदि राजसूय यज्ञ के लिए जरासन्ध का विनाश करके हम राजाओं को छुड़ा सकें तो इससे बढ़कर क्या बात है? शम के इच्छुक मुनियों के लिए काषाय ठीक है। आपके साम्राज्य के लिए हम शत्रुओं से युद्ध करेंगे।"

कृष्ण ने अर्जुन की बात का समर्थन करते हुए कहा, "भारत वंश में उत्पन्न कुन्ती के पुत्र के लिए जो विचार उचित है, वह अर्जुन ने कहा है। क्या मृत्यु ने किसी के साथ रात या दिन का समझौता किया है? अयुद्ध से किसी को अमर होते हुए भी नहीं सुना। अतएव जो विधिपूर्वक सुविचारित नीति है, उसी के अनुसार हृदय को संतोष देने वाला कार्य करना चाहिए। हम लोग बिना सेना के मगध में जाकर जरासन्ध के पास तक पहुंच जायंगे। भीम, अर्जुन और मुझसे एकान्त में मिलकर वह एक के साथ अवश्य युद्ध के लिए तैयार हो जायगा। यदि तुम्हारा हृदय स्वीकार करे, यदि मुझमें तुम्हारा विश्वास हो तो भीम और अर्जुन को मुझे सौंपो; मैं सब ठीक कर लूंगा।"

कृष्ण की यह बात सुनकर युधिष्ठिर ने कहा, "आपकी आज्ञा से ही मैंने राजसूय का विचार किया है। जिस प्रकार यह कार्य सिद्ध हो, वैसा करिए। मेरा कार्य जगत का कार्य है।"

जरासन्ध की उत्पत्ति

यहां महाभारतकार ने जरा नाम की राक्षसी से जरासन्ध की उत्पत्ति

का संबंध बताया है। यह मांस और शोणित का भोजन करने वाली नरभक्षिका कोई देवी थी, जिसकी पूजा मगध की निषाद्-जाति के लोग करते थे। अवश्य मगध जनपद की इस देवी की कहानी बौद्ध साहित्य में भी आ गई। वहां इसे हारीती कहा गया है। वह पहले बच्चों को खाने वाली राक्षसी थी। पीछे बुद्ध ने उसके एक बच्चे को छिपाकर उसमें मातृत्व का प्रेम जाग्रत किया और वह बच्चों की अधिष्ठात्री देवी के रूप में पूजी जाने लगी। यहां भी उसने नवजात शिशु के शरीर के दो टुकड़ों को अपने मंत्र-बल से एक में जोड़कर उसे राजा को सौंप दिया और स्वयं मातृत्व की भावना से भरकर अन्तर्धान हो गई। मगध में उसका महोत्सव मनाया जाने लगा और लोग उसका चित्र अपने घर की दीवारों पर लिखने लगे। हारीती के समान यह भी बहुत पुत्रों की माता मानी जाने लगी। मगध की जरा देवी की भांति गांधार जनपद में भी भीमा नाम की भयंकर देवी थी। उसकी कहानी भी बौद्ध धर्म के साथ जुड़ गई और पाच सौ यक्ष पुत्रों की माता हारीती गांधार देश की सबसे बड़ी देवी बन गई। आगे वन-पर्व में भीमा देवी की यात्रा का उल्लेख आया है। आजतक भीमा-देवी की यात्रा और उसका मंदिर सारे पंजाब में प्रसिद्ध हैं।

मगध की ओर प्रयाण

इस प्रकार मत निश्चित करके कृष्ण, भीम और अर्जुन मगध की ओर चले। उन्होंने अपने जाने की बात गुप्त रखी और स्नातकों का वेश बना लिया, जो कि विद्या पढ़कर गुरुगृह से लौटते हुए इधर-उधर चरक वेश में जाते-आते रहते थे और कोई उन्हें शंका की दृष्टि से न देखता था। इस वेश में फूल-मालाओं का पहनना आवश्यक था।

कृष्ण के सामने दूसरी समस्या यात्रा का मार्ग निश्चित करने की थी। मध्यदेश में से साकेत, वाराणसी होता हुआ जो मार्ग मगध को जाता था, उसे उन्होंने छोड़ दिया। सन्देह के निवारण के लिए पहले वे पश्चिम की ओर कुरु-जांगल में घुसे, जो, वर्तमान हिसार-सिरसा का इलाका था। वहां से कुरुक्षेत्र के पद्मसर नामक स्थान में होते हुए फिर उत्तर-पूर्व की ओर मुड़े। वहां कालसी, देहरादून और सुकेत के बीच में कालकूट जनपद

था। उसे पार कर पहाड़ की तराई के किनारे-किनारे आबादी को बचाते हुए और सरयू, सदानीरा या राप्ती तथा गंडकी को पारकर मिथिला में घुसे और वहां से गंगा उतरकर पूरब की ओर मुड़े। वहां जंगल में कुरुवार (कुरवोरश्छद) आदि आदिनिवासियों के इलाके में होकर गोरथगिरि के पास पहुंचे, जहां मगध की राजधानी थी।

गिरिव्रज वैहार, वृषभ, वराह, चैत्यका-गिरि और ऋषि-गिरि, इन पांच पहाड़ियों के बीच में बसा हुआ था। बौद्ध साहित्य में और पुरातत्त्व की खुदाई से भी इन पांचों पहाड़ियों के बीच की बस्ती के प्रमाण मिले हैं। पहाड़ियों के बीच में गिरिव्रज को घेरनेवाला एक बाहरी परकोटा था, जिसके अवशेष पच्चीस-तीस मील की लम्बाई तक पाये गए हैं। यह दीवार पत्थर के बड़े-बड़े ढोकों से बनाई गई थी, जिसकी चौड़ाई कहीं-कहीं पर अठारह फुट तक मिली है और ऊंचाई भी बारह फुट तक है। इसमें स्थान-स्थान पर बुर्ज बने हुए थे पश्चिम की ओर वैहारगिरि की तलहटी में अभी तक रणभूमि नामक स्थान है, जिसे 'जरासन्ध का अखाड़ा' भी कहते हैं। वैहार गिरि के पूर्वी छोर पर जरासन्ध की बैठक या मचान है। गिरिव्रज को राजगृह भी कहते थे। इसके बीचोंबीच मणिनाग का स्थान था, जो आजकल का मणियार मठ है।

कृष्ण और दोनों पांडव राजगृह के बाहरी परकोटे के पास पहुंचकर उसके साधारण द्वार से भीतर नहीं घुसे। राजगृह में प्रवेश करने के लिए उत्तरी द्वार, जहां तप्तोद कुंड है, और दक्षिणी द्वार जहां से बाणगंगा निकली है, ये दो द्वार थे। कृष्ण आदि को इसी उत्तरी द्वार से प्रवेश करना चाहिए था, किन्तु वे ऋषभगिरि की, जिसका दूसरा नाम संभवतः चैत्यक-गिरि भी था, ओर बढ़े। राजमहल के चारों ओर एक अन्दरूनी परकोटा था। उसमें भी प्रवेश कठिन था। किन्तु उस समय ऐसा हुआ कि जरासन्ध के पुरोहित राजा के यहां अग्निहोत्रादि कर्म करने के लिए धूमधाम से जा रहे थे। ये भी उन्हींके साथ मिलकर महल की तीन कक्षाओं को पार करते हुए भीतर जा पहुंचे।

जरासन्ध-वध

जरासंध का व्रत था कि वह स्नातक ब्राह्मणों का आधी रात को आने

पर भी स्वागत किया करता था। अतः इन्हें देखकर इनका भी उसने स्वागत किया और बैठने के लिए कहा किन्तु; इनका अपूर्व वेश देखकर वह विस्मित हुआ और बोला, "स्नातक विप्रों को माल्य और अनुलेपन के साथ मैंने देखा है, किन्तु उनकी भुजाओं में प्रत्यंचा के निशान नहीं देखे। सच बताओ, तुम कौन हो? सत्य कहने में ही राजाओं की शोभा है। चैत्यक-गिरि की चोटी पर चढ़कर सीधे मेरे महल में अद्वार से इस प्रकार निर्भय होकर आनेवाले तुम कौन हो और क्यों मेरी दी हुई पूजा को तुम स्वीकार नहीं करते ?"

यह सुनकर कृष्ण ने कहा, "हे राजन्, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही स्नातक व्रती होते हैं, किन्तु उनके नियम अलग हैं। क्षत्रिय की शक्ति भुजा में रहती है, वाणी में नहीं। वह श्री चाहता है। मित्र के घर में द्वार से और शत्रु के घर में अद्वार से घुसना चाहिए। शत्रु होने के कारण हमने तुम्हारी पूजा नहीं ली।"

इस प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य है कि केवल दो साथियों के साथ जरासंध के कोट में और फिर उसके महल के भीतरी भाग में घुसकर कृष्ण ने बड़े साहस का काम किया और भारी जोखिम भी उठाई। यदि जरासंध एक-एक के साथ युद्ध करने की उनकी चुनौती को स्वीकार न कर लेता तो उन तीनों पर सभी कुछ संकट आ सकता था। यह भी संभव है कि राज-गृह में भी कुछ लोग जरासन्ध से असंतुष्ट हों; क्योंकि इसी प्रसंग में कृष्ण ने पहले कहा है कि मागधों में एक सौ एक कुल ऐसे हैं, जो जरासन्ध से प्रसन्न नहीं हैं, अतएव उनपर वह बलपूर्वक शासन करता है (सभा.१४।१३)।

कृष्ण की बात सुनकर जरासन्ध ने कहा, "मुझे तो याद नहीं कि तुम्हारे साथ मेरा वैर हुआ हो। कुछ बिगाड़ न करने पर भी क्यों तुम मुझे अपना वैरी मानते हो ?"

कृष्ण ने उत्तर दिया, "लोक से इतने क्षत्रियों को पकड़कर तुम रुद्र के लिए उनकी बलि देना चाहते हो, इससे बढ़कर क्या पाप होगा? मनुष्यों का समालम्भ आजतक कभी नहीं देखा गया। तुम मनुष्य-बलि से देव शंकर को पूजना चाहते हो। हम धर्म के रक्षण में समर्थ हैं। तुम्हें युद्ध के लिए चुनौती देते हैं। हमारे साथ लड़ो या राजाओं को छोड़ दो।"

यह सुनकर जरासन्ध ने अपने ऐंठू स्वभाव से कहा, "बिना जीते हुए

किसी राजा को मैं नहीं लाया। क्षत्रिय के लिए यही धर्म है कि विक्रम से दूसरे को वश में करके उसके साथ जो चाहे, करे। देवता के लिए इनकी मान्यता करके भय से मैं इन्हें आज कैसे छोड़ दूं ? सेना से, या एक-एक से, या दो से या तीन से, जैसे भी चाहो, मैं युद्ध करने को तैयार हूं।"

यह कहकर जरासन्ध ने अपने पीछे अपने पुत्र सहदेव के अभिषेक का आदेश दे दिया और स्वयं युद्ध के लिए तैयार हो गया। कृष्ण ने पूछा, "हम तीनों में से तुम किनके साथ लड़ना चाहते हो ?"

जरासन्ध ने तीनों की ओर देखकर भीम के साथ लड़ना स्वीकार किया।

इसके अनन्तर उन दोनों महाबलवीरों का अत्यंत भयंकर बाहुयुद्ध हुआ। वे दोनों कार्तिक मास के पहले दिन अखाड़े में उतरे थे। चतुर्दशी की रात को जरासंध थककर अलग हो गया। तब कृष्ण ने कहा, "हे भीम, थके हुए शत्रु को और रगड़ना ठीक नहीं, नहीं तो हो सकता है कि उसका दम ही टूट जाय।"

भीम कृष्ण के इस इशारे को समझ गए। वस्तुतः कृष्ण का आशय था कि यही समय है कि इसका दम तोड़कर काम तमाम करो।

भीमसेन ने भी ऊपर से दिखावटी रूप में कहा, "हां, कृष्ण, मुझे इस दशा में इसे और न रगड़ना चाहिए, जबकि इसके प्राण फूल कर छाती में आ गए हैं।"

इस प्रकार भीम और जरासन्ध फिर एक-दूसरे से भिड़ गए और अन्त में भीमसेन ने उसे मार डाला।

तुरन्त जरासन्ध का रथ जुड़वाकर दोनों भाइयों के साथ कृष्ण उस पर सवार हुए और जहां छियासी राजा बन्द थे, वहां जाकर उन सबका बन्धन मोक्ष किया और सहदेव का राज्याभिषेक कर वह इन्द्रप्रस्थ लौट आये।

१४ : : दिग्विजय

जरासन्ध का वध हो जाने पर युधिष्ठिर का राजनैतिक कंटक तो मिट गया, किन्तु राजसूय यज्ञ की सफलता के लिए दूसरी आवश्यकता थी कोष

का संग्रह। कोष-विवर्द्धन के लिए राजाओं से कर-ग्रहण करना आवश्यक था और कर के आहरण का मान्य उपाय उस समय की राजनीति में दिग्विजय समझा जाता था। अतएव महाभारत के अग्रिम प्रकरण में चार पांडव भाइयों द्वारा चारों दिशाओं की दिग्विजय का वर्णन किया गया है। अर्जुन ने उत्तर, भीमसेन ने पूर्व, सहदेव ने दक्षिण और नकुल ने पश्चिम दिशा की दिग्विजय की। ज्ञात होता है कि महाभारत के मूल संस्करण में दिशाओं की विजय का केवल संकेत मात्र था। अर्जुन ने विजय-यात्रा के लिए युधिष्ठिर से प्रार्थना की और उन्होंने उसका समर्थन किया, "योग्य ब्राह्मणों का स्वस्तिवाचन प्राप्त कर शत्रुओं के क्लेश और मित्रों के आनन्द के लिए हे अर्जुन, तुम्हारी निश्चय ही विजय होगी।"

यह सुनकर अर्जुन ने दिग्विजय-यात्रा की और उसी प्रकार अन्य भाइयों ने भी धर्मराज की आज्ञा से दिशाओं को जीता। किन्तु इस संक्षिप्त उल्लेख से जनमेजय का मन नहीं भरा। उन्होंने वैशम्पायन से कहा, "हे ब्रह्मन्, दिशाओं की इस विजय को विस्तार के साथ कहिए, क्योंकि पूर्वजों का चरित्र सुनते हुए मुझे संक्षेप से तृप्ति नहीं होती।" इस पृष्ठभूमि में वैशम्पायन ने दिग्विजय-पर्व के उस बृहत् संस्करण का वर्णन किया, जिसमें देश की चारों दिशाओं के भूगोल और अनेक ऐतिहासिक उल्लेखों का समावेश हो गया है।

खाण्डवप्रस्थ से चलकर अर्जुन ने पहले कुणिन्द और कालकूट प्रदेश को जीता। यमुना के उत्तर में देहरादून से जगाधरी तक फैला हुआ प्रदेश कुणिन्द कहलाता था। यहां से कुणिन्द गणराज्य के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसी प्रदेश में कालकूट था, जहां हिमालय के किसी शिखर में काले अंजन की खान थी। हिमालय के इस हिस्से के कुछ उत्तर-पश्चिम में पंजाब की पहाड़ी रियासतें सिरमूर, नाहन, बिलासपुर, मंडी आदि भी इस प्रकार भरी हुई हैं, जैसे कटहल में कोए। शिमला की इन पहाड़ी रियासतों के लिए ही सम्भवतः 'सप्तद्वीप' इस भौगोलिक संज्ञा का प्रयोग हुआ है। इन्हें ही संसप्तक-गण भी कहते थे। इन पहाड़ी राजाओं के साथ अर्जुन की सेना का तुमुल संग्राम हुआ, किन्तु अन्त में उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली और स्वयं भी उसकी विजय-यात्रा में सम्मिलित हो गए।

इस भौगोलिक प्रसंग में महाभारतकार का ध्यान हिमालय की तराई में बसी हुई किरात जातियों की ओर गया है। किरात प्रदेश नेपाल से आसाम तक फैला हुआ भूभाग था, जिसके पूर्वी छोर पर प्राग्ज्योतिष देश था। वहां के भगदत्त राजा से तथा ब्रह्मपुत्र आदि नदियों के कछारों में रहनेवाले एवं समुद्र की कुक्षि में बसनेवाली जातियों से अर्जुन का युद्ध हुआ। अन्त में भगदत्त ने अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर मित्रता की याचना की। अर्जुन ने उससे प्रीतिपूर्वक कर लेना स्वीकार किया।

इसी प्रसंग में और भी अनेक पर्वतीय राजाओं को वश में करने का उल्लेख है। हिमालय के भूगोल के विषय में महाभारतकार ने मूल्यवान् सूचना देते हुए उनके तीन भाग लिखे हैं—अन्तर्गिरि, उपगिरि और बहिर्गिरि। समानान्तर फैली हुई हिमालय की ये तीन बाहियां थीं, जो उसके भूगोल की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्तर्गिरि में हिमालय की लगभग बीस हजार फुट से ऊंची गौरीशंकर, नन्दादेवी, केदारनाथ, बदरीनाथ, त्रिशूल, धवलगिरि आदि चोटियां हैं, जो सदा बरफ से ढकी रहती हैं। इस हिस्से को पाली में महाहिमवन्त कहा है, जो अंग्रेजी में 'ग्रेट सेन्ट्रल हिमालय' का पर्याय है। उससे नीचे की ओर हिमालय की वे चोटियां हैं, जो छह हजार से आठ नौ हजार फुट तक ऊंची हैं। नैनीताल, मसूरी, शिमला आदि स्वास्थ्यप्रद स्थान हिमालय के इसी भाग में हैं, जिसकी प्राचीन संज्ञा बहिर्गिरि थी। इसे पाली में चुल्लहिमवन्त (अंग्रेजी में लैसर हिमालय) कहा जाता था। उपगिरि हिमालय के उस हिस्से का नाम था, जिसे अब तराई कहते हैं। हरिद्वार से देहरादून तक हिमालय की जो उठती हुई ऊंचाई है वह इसीके अन्तर्गत है। पाणिनि ने भी अन्तर्गिरि और उपगिरि इन दो भागों का उल्लेख अपने एक सूत्र (गिरेश्चसेनकस्य, ५।४।११२) में किया है।

हिमालय के इस भूगोल का प्रासंगिक उल्लेख करने के बाद दिग्विजय का यह सिलसिला प्राचीन त्रिगर्त या कुल्लू-कांगड़ा की ओर मुड़ता है। इस प्रदेश को कुलूत कहा गया है, जो कुल्लू का संस्कृत रूप है। कुलूत के राजा पर्वतेश्वर बृहन्त ने अपने नगर से बाहर आकर बड़ी सेना के साथ अर्जुन का मार्ग छेका, किन्तु वह उसके विक्रम को न सह सका और उसने रत्न देकर सन्धि कर ली। तब उसे साथ लेकर अर्जुन ने उसी प्रदेश के दूसरे

राजा सेनाबिन्दु को एवं मोदापुर, वामदेव और पहाड़ी जातियों से भरे हुए सुदामा पर्वत के प्रदेश को जीतकर उत्तर कुलूत या कांगड़ा के उत्तरी प्रदेश के राजाओं को अपने वश में करके धर्मराज युधिष्ठिर के शासनान्तर्गत कर लिया। ज्ञात होता है, यह सेनाबिन्दु राजा, जिसकी राजधानी का नाम देवप्रस्थ था, उसी पौरव वंश की शाखा में था, जिसने ऐतिहासिक काल में मद्र देश के अपने राज्य की ओर बढ़ते हुए सिकन्दर से लोहा लिया था। त्रिगर्त के राजा पर्वतीय कहलाते थे। भारत के प्राचीन भूगोल में दो पर्वतीय प्रदेश प्रसिद्ध थे, जिनमें से एक कुल्लू कांगड़ा की पहाड़ी रियासतोंवाला यही प्राचीन त्रिगर्त देश था, जहां के जनपदों को पुराणों के भुवन कोश में पर्वताश्रयी कहा गया है। यहां अधिकांश गणराज्य थे, जिनके लिए महाभारत में 'उत्सव-संकेत' शब्द आया है। रघुवंश में भी रघु-द्वारा इसी प्रदेश में उत्सव-संकेतों की विजय का उल्लेख है। उत्सव-संकेत प्रदेश कांगड़ा और रामपुर बशहर के बीच किन्नरों का प्रदेश जान पड़ता है। उत्सव-संकेत संज्ञा उस प्रदेश की जातियों के लिए इसलिए प्रयुक्त होती थी, क्योंकि उनमें उत्सव या विशेष मेलों के अवसर पर सामूहिक रूप से वर-कन्याओं के विवाह स्थिर किये जाते थे। 'संकेत' का विशेष पारिभाषिक अर्थ विवाह या स्त्री-पुरुष का समागम है। वर्ण रत्नाकर में मदनगृह को संकेतगृह कहा गया है। कुछ मैथिल ब्राह्मणों में भी इस प्रकार की प्रथा बची रह गई है।

त्रिगर्त-कुलूत के उलझे हुए भौगोलिक वर्णन के अनन्तर महाभारतकार ने पश्चिमोत्तर भारत के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रदेशों की विजय का उल्लेख किया है। इनमें कश्मीर सुविदित है। दार्व, चिनाव और रावी के उपरले प्रदेश के बीच का भूभाग जम्मू का इलाका था, जिसे अब 'डुग्गर' कहते हैं। अभिसार वर्तमान 'छिभाल' प्रदेश था, जिसमें पुंछ, राजौरी और भिम्भर की रियासतें हैं। मानचित्र देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि चिनाव के पूरब का प्रदेश दार्व, उसके पश्चिम का अभिसार, एवं उसके भी पश्चिम में झेलम और सिन्धु के बीच का प्रदेश उरशा कहलाता था, जिसे अब हजारा कहते हैं। अभिसार, उरशा और सिंहपुर (नमक के पहाड़ों के प्रदेश की राजधानी) इन तीनों राजाओं के साथ अर्जुन को भारी युद्ध करना पड़ा।

इसके बाद का भौगोलिक वर्णन और भी उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ता

है। उसमें कश्मीर के उत्तर-पश्चिम दरद् देश का उल्लेख है, जिसे इस समय दर्दिस्तान कहते हैं और गिलगित तथा यासीन जिसके प्रसिद्ध स्थान हैं। इसके उत्तर में वंक्षु नदी या आमू दरिया के उस पार प्राचीन कम्बोज जनपद था, जिसे इस समय पामीर का ऊंचा पठार कहते हैं। दर्दिस्तान के ठीक पश्चिम में काफिरस्तान-कोहिस्तान का जो प्रदेश हिन्दूकुश तक फैला हुआ है, वह प्राचीन भारतीय भूगोल की परिभाषा में लोह या रोह कहलाता था। इसी के नाम से मध्यकाल में अफगानिस्तान के कुछ निवासी रुहेले कहलाए। प्राचीन भुवनकोष में त्रिगर्त के अतिरिक्त यह दूसरा पर्वतीय प्रदेश था। पाणिनि ने अपने भूगोल में इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है। यहीं अनेक लड़ाकू जातियों के कोठार भरे थे। महाभारतकार ने लोहित देश के दश-मण्डल इस नाम से इनका उल्लेख किया है। हिन्दूकुश के उत्तर-पश्चिम में वंक्षु की शाखा बल्ख नदी के दोनों ओर की भूमि बाल्हीक जनपद थी। यहां के निवासी घोर लड़ाके थे, जो बड़ी रगड़ के बाद ही वश में किये जा सके। वंक्षु के दक्षिण और बाल्हीक के पूर्व का रेतीला प्रदेश प्राचीन काल में 'चोल' कहलाता था और आज भी उसे चोलिस्तान कहते हैं।

बाल्हीक तक दखल कर लेने के बाद चुनी हुई सेना लेकर अर्जुन ने उत्तर-पूर्व की राह पकड़ी और वहां जो दस्यु या ईरानी बसे थे, उनसे लोहा लिया। उसके बाद उसने पामीर के पठार के भी उस पार चीनी तुर्किस्तान की ओर छापा मारा। अवश्य ही इसी प्रदेश में परमकम्बोज और उत्तर ऋषिक इन जातियों का निवास था। ऋषिकों के साथ अर्जुन का सबसे भयंकर युद्ध हुआ, जिसकी उपमा तारकासुर और कार्तिकेय के युद्ध से दी गई है। ऋषिक लोगों की पहचान निश्चित रूप से यूची जाति से की जाती है, जिनकी भाषा 'आर्षी' कहलाती थी। ऋषिकों के ही अन्तर्गत एक उपजाति तुषार या तुखार कहलाती थी।

महाभारत के इस महत्वपूर्ण भौगोलिक प्रकरण के लेखक की पैनी दृष्टि बाल्हीक, वंक्षु और कम्बोज से लेकर मध्य एशिया के ऋषिकों तक से भलीभांति परिचित थी। ईसवी-पूर्व दूसरी शती में यूची या ऋषिक हूणों के दबाव से चीनी तुर्किस्तान से खदेड़े जाकर बल्ख की ओर चले आये थे। महाभारत का वह प्रकरण उससे कुछ पूर्व काल का होना चाहिए।

इस विजय से वापस लौटते हुए अर्जुन की विजय-यात्रा मानसरोवर और कैलास के आसपास के हाटक नामक भू-प्रदेश से गुजरती है। अन्त में वह वीर अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ विविध रत्न और धन का संग्रह करके इन्द्रप्रस्थ लौट आया।

भीमसेन की दिग्विजय

भीमसेन ने बड़ी सेना सजाकर पूर्वी दिशा की विजय के लिए प्रस्थान किया। इन्द्रप्रस्थ से चलकर उसने पहले पांचालों के नगर में पांचाल क्षत्रियों को शान्ति की नीति से अनुकूल बनाया। तब गण्डकी नदी पार करके विदेह जनपद को वश में किया। इस प्रसंग में हिमालय से लेकर चेदि तक के भूप्रदेश का वर्णन किया गया है। भीम की यह विजय-यात्रा गोमूत्रकागति से पूर्व दिशा में बढ़ती हुई कभी उत्तर की ओर और कभी दक्षिण के जनपदों और राजाओं पर दो-फंकी मार करती हुई चली। उसने दशार्ण जनपद के सुधर्मा राजा को लोमहर्षण युद्ध में जीतकर उसे अपने वश में कर लिया। सुधर्मा के पौरुष से प्रसन्न होकर भीमसेन ने उसे अपने सेनापतियों का अधिपति नियत किया। तब अपने सैन्यदल से पृथिवी को कंपाते हुए भीमसेन ने अश्वमेधेश्वर राजा रोचमान को जीता और उसके साथ शम की नीति का पालन किया। अश्वमेधेश्वर की ठीक पहचान नहीं दी गई; किन्तु सम्भव है कि दशार्ण या धसान नदी के पश्चिम और चम्बल के पूर्व का प्रदेश इस नाम से अभीष्ट हो, जहां अश्वनदी चर्मण्वती या चम्बल में मिलती है। वन-पर्व में उल्लेख है कि कुन्ती ने नवजात शिशु कर्ण को मंजूषा में रखकर अश्वनदी में बहा दिया था, और वह पेटी अश्वनदी में बहती हुई पहले चम्बल में और फिर चम्बल से जमुना में और तब गंगा में बहती हुई चम्पानगरी में जा पहुंची थी (वन पर्व, २९२/२५)। जिस प्रकार चर्मण्वती नदी गोमेध यज्ञों के लिए प्रसिद्ध थी, उसी प्रकार उसकी सहायक अश्वनदी का सम्बन्ध अश्वमेध यज्ञों से ज्ञात होता है।

तब कुछ दक्षिण की ओर मुड़कर भीमसेन ने पुलिन्दों की बस्ती पर छापा मारा। यह विन्ध्याचल की तलहटी में बसा हुआ वह प्रदेश ज्ञात होता है, जिसे अटवी-राज्य कहते थे और जो बेतवा के दोनों ओर घने

जंगलों के रूप में फैला हुआ था। इसी को बाण ने विन्ध्याटवी कहा है। वहां रहने वाले पुलिन्दों का भी उसने वर्णन किया है। इसके बाद भीम ने चेदि के राजा शिशुपाल के देश की ओर मुंह मोड़ा, जिसे वश में लाने के लिए युधिष्ठिर की विशेष आज्ञा थी। चेदि-जनपद नर्मदा के किनारे फैला हुआ था। माहिष्मती उसकी राजधानी थी। इस अवसर पर शिशुपाल ने कोई विरोध नहीं किया, किन्तु नगर से बाहर आकर भीमसेन का स्वागत किया और परिवार की कुशल पूछी। अपना चेदि राष्ट्र भीमसेन को सौंपते हुए उसने हंसकर पूछा, "यह सब किसलिए कर रहे हो?" भीम ने युधिष्ठिर का नया संकल्प उसे सुनाया। ज्ञात होता है कि इस संकल्प तक शिशुपाल को युधिष्ठिर की इस नई प्रवृत्ति का पता न था और न वह पक्ष या विपक्ष में अपना मन बना सका था। भीम की बात सुनकर भी शिशुपाल ने उसके साथ वैसा ही सद्व्यवहार किया। वहां तेरह रातें सत्कारपूर्वक बिता कर भीम ने शिशुपाल से बिदा ली। फिर कुमार विषय में श्रेणिमान् राजा को जीता। यह गाजीपुर का प्रदेश था, जहां कार्तिकेय की पूजा प्रचलित थी। फिर कोशल जनपद में अयोध्या के राजा को और उससे उत्तर के मल्ल क्षत्रियों (गोरखपुर, देवरिया) को जीतकर हिमाचल के पार्श्व (तराई इलाके) में जा निकला।

इस प्रसंग में दक्षिण की ओर के दो प्रदेशों का नाम और लिया गया है—गोपाल-कच्छ अर्थात ग्वालियर या कोंतवार प्रदेश के कछारों में रहने वाले लोगों का और शुक्तिमान् पर्वत के निवासियों का। शुक्तिमान् भारतवर्ष के सात कुलपर्वतों में से एक था। ये सातों कुलपर्वत भारत के प्राकृतिक मानचित्र में स्पष्ट सिलसिलेवार दिखाई पड़ते हैं। महेन्द्र पूर्वीघाट का उत्तर भाग, मलय दक्षिणी और सह्याद्रि पश्चिमी घाट के नाम हैं। इसके बाद सतपुड़ा और महादेव पहाड़ियां क्रम से आती हैं, जो शुक्तिमान् ज्ञात होती हैं। इसी पर्वत-शृंखला का पूर्वी भाग, जो सोन की उपत्यका में आगे बढ़ा हुआ है, ऋक्षपर्वत होना चाहिए। दोनों के उत्तर में विन्ध्य और उसी का उत्तर दक्षिण का बढ़ाव अड़ावला पर्वत पारियात्र था। पूर्व के अन्य देशों में काशी, वत्स, भर्ग, मगध और अंग जनपदों के नाम हैं, जिन्हें भीमसेन ने करद बनाया। गया का भी उल्लेख

है, उसीके पास पशुभूमि सम्भवतः गिरिव्रज के आसपास थी, जो गया के उत्तर-पूर्व और राजगृह के पश्चिम में है। जैन आगमों में दी हुई प्राचीन परिभाषाओं के अनुसार दस सहस्र गौवों की इकाई एक व्रज कहलाती थी। इस प्रकार अनेक व्रजों से भरा हुआ प्रदेश पशु-भूमि रहा होगा। वस्तुतः गोरथगिरि के पास पांच पहाड़ियों से घिरा हुआ प्रदेश गिरिव्रज कहलाता था (जो जरासंध की राजधानी थी) और उसके बाहर के मैदानों की व्रज-भूमि पशु-भूमि। इसी प्रसंग में मत्स्य और मलय के भी नाम हैं। मत्स्य की पहचान निश्चित नहीं, किन्तु दोनों के पाठान्तर मल्ल और मलद भी उपलब्ध हैं, जो इस प्रदेश के भूगोल से संगत होते हैं। शर्मक-वर्मक नामक क्षत्रियों की पहचान लिच्छवियों से की गई है। भीमसेन ने इनके साथ और विदेहराज जनक के साथ शान्तिपूर्वक सन्धि की। मिथिला में रहते हुए ही उसने इन्द्रपर्वत के समीप रहनेवाले सात किरात राजाओं को भी विजित बनाया। यह कोसी और गण्डकी के बीच नेपाल का भाग होना चाहिए। मगध में जरासन्ध के पुत्र ने कर देना स्वीकार किया, किन्तु अंगदेश (मुंगेर-भागलपुर) के राजा कर्ण ने उसका मार्ग रोका और युद्ध द्वारा ही वह वश में किया जा सका। पौण्ड्र, वंग और सुह्म के राजाओं को जीतकर समुद्र के तटवर्ती म्लेच्छ राजाओं को भी वश में किया और असम में लौहित्य तक बढ़ गया। इस प्रकार कोटिशत संख्य धन के साथ भीमसेन इन्द्रप्रस्थ लौट आया और उसे धर्मराज के चरणों में निवेदित किया। पूर्व दिशा के वर्णन में कुछ ही नाम ऐसे रह जाते हैं, जिनकी पक्की पहचान अभी सम्भव नहीं हुई, अन्यथा महाभारत के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि इन्द्रप्रस्थ से समुद्रतट और लौहित्य तक का ब्यौरेवार भूगोल लेखक को विदित था।

सहदेव की दिग्विजय

युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर सहदेव ने दक्षिण दिशा की ओर कूच किया। पहले शूरसेन-मथुरा और उसके साथ सटे हुए मत्स्य देश (जयपुर-अलवर) को जीतकर अपने वश में कर लिया। इसी यात्रा में उसने अधिराज के स्वामी दन्तवक्र को करद बनाकर छोड़ दिया तथा अपरमत्स्य, पटच्चर

और नवराष्ट्र के राजाओं को जीतकर कुन्ति जनपद (कोंतवार, ग्वालियर) के कुन्तिभोज को प्रीतिपूर्वक वश में किया। चर्मण्वती के तटवासी राजाओं को जीतता हुआ वह नर्मदा की ओर बढ़ गया और वहां बिन्द, अनुबिन्द राजाओं को जीतकर माहिष्मतीपुरी पहुंचा। वहां के राजा नील ने उसके साथ घोर संग्राम किया। त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) के राजा को जीतकर अश्मक जनपद की राजधानी पोतन (वर्तमान पैठण) को जीता। वहां से सुराष्ट्र की ओर गया। भोजकट या विदर्भ के राजा भीष्मक के पास दूत भेज कर उससे सन्धि की। सुराष्ट्र में कृष्ण से मिलकर दक्षिण की ओर अनेक स्थानों को जीता। इन स्थानों में से शूर्पारक (वर्तमान सुपारा, बम्बई के उत्तर समुद्रतट के पास), नासिक के आसपास दण्डकवन, मुरचीपत्तन (वर्तमान क्रंगनोर) संजयन्ती (वर्तमान संजन) तथा करहाटक (करहाड़) सुविदित हैं। ताम्रद्वीप सिंहल का पुराना नाम था। एकपाद जाति के लोग सम्भवत: उत्तरी कनाडा जिले के वनवासी नामक स्थान के रहनेवाले थे।

महाभारत के इस प्रकरण में देश और विदेश के नामों का और भी महत्त्वपूर्ण गुच्छक पाया जाता है। उस युग में भरुकच्छ (वर्तमान भड़ोंच) नर्मदा के मुख पर बहुत बड़ा समुद्रपत्तन (बन्दरगाह) था। वहां से पश्चिम और दक्षिण की ओर जानेवाले पोत अपनी यात्रा आरम्भ करते थे। आंध्र सात-वाहनों के समय में भारतीय जलयान एक ओर भरुकच्छ से पश्चिमी वेलातट के जलपत्तनों को छूते हुए केरल, चोल, पाण्ड्य, द्रविड़, आंध्र और कलिंग तक की यात्रा करते थे। इन सबका उल्लेख महाभारकारत ने किया है:

पांण्डयांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोडकेरलैः।
आंन्ध्रांस्तलवनांश्चैव कलिंगानोष्ट्रकर्णिकान्॥ (सभा २८।४८)

दूसरी ओर पश्चिम में रत्नाकर के उस पार के तीन अतिप्रसिद्ध पोत-पत्तनों का उल्लेख इस प्रकरण में आया है, जिनके साथ रोम-युग में भारत-वर्ष का विशेष व्यापार होता था। ये तीन नाम इस प्रकार हैं—अंताखी, रोमा और यवनों की पुरी:

अंताखीं चैव रोमां च यवनानां पुरं तथा।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत्॥ (सभा २८।४९)

अंताखी सीरिया का एन्तीओकस नगर था, जिसे सिकन्दर के उत्तरा-

धिकारी राजा एन्तीओकस (प्रा० अंतिओक) ने बसाया था। रोमा रोम साम्राज्य की प्रसिद्ध राजधानी थी, जिसका उच्चारण आज भी रोमा है। यवनों की पुरी नील नदी के किनारे एलेग्जेंड्रिया थी। सहदेव ने अपने दूत भेजकर इन सबके साथ राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें अपने अनुकूल बनाया। इस प्रकार की कल्पना यहां महाभारतकार ने की है। अवश्य ही यह प्रकरण आंध्र-सातवाहन युग में इस दिग्विजय पर्व के अन्तर्गत लिया गया होगा, जब भरुकच्छ के पोतपत्तन से अंताखी, रोमा और यवनपुरी के साथ व्यापार का सीधा सम्बन्ध था। अनेक पार्थिवों को बल और शान्ति से अपने वश में लाकर और उन्हें करद बनाकर सहदेव इन्द्रप्रस्थ लौट आया।

नकुल की दिग्विजय

पश्चिम दिशा की दिग्विजय के लिए नकुल ने महती सेना के साथ प्रस्थान किया। सर्वप्रथम आरम्भ में ही उसकी मुठभेड़ रोही तक के मत्तमयूर क्षत्रियों से हुई। इस देश के लोग कार्त्तिकेय की पूजा करते थे। वर्तमान रोहतक के पास ही खोकराकोट नामक स्थान से यौधेय गण के सिक्के ढालने के मिट्टी के अनेक सांचे प्राप्त हुए हैं, जिनमें बहुधान्यक का उल्लेख है। इसका वर्णन महाभारतकार ने भी किया है। उसके बाद रोहतक से आगे शैरीषक (वर्तमान सिरसा) को वश में किया। तदनन्तर पंजाब और राजस्थान के अनेक जनपद और क्षत्रिय जातियों को वश में करता हुआ वह पश्चिम की ओर बढ़ा। इनमें शिबि (झंगमघियाना के दक्षिण शेरकोट), त्रिगर्त (कांगड़ा), अंबष्ठ, मालव (रावी-चिनाब के संगम के पास) और पंचकर्पट के नाम उल्लेखनीय हैं। मध्यमिकापुरी में वाटधान नाम के ब्राह्मणों को वश में किया। मध्यमिका चित्तौड़ के पास प्रसिद्ध पुरी थी, जिसे अब नगरी कहते हैं। इसके अनन्तर नकुल बीकानेर रियासत के उत्तर-पश्चिम में गया, जहां सरस्वती नदी की प्राचीन धारा किसी समय बहती थी, किंतु अब बालू में अदृश्य हो गई है। शूद्र और आभीर नामक क्षत्रियों के गण सरस्वती के किनारे बसे हुए थे और उनका प्रदेश जैसलमेर से आगे बढ़कर उत्तरी सिन्ध तक चला गया था। यूनानी भूगोल-लेखकों ने सक्खर-रोड़ी के पूर्व में उनका उल्लेख किया है। ये दोनों पड़ोसी गणराज्य थे, जिनमें आभीर

शूद्रों से किसी समय अधिक बलवान और समृद्ध हो गए थे, जिससे उनके लिए 'महाशूद्र' संज्ञा का प्रचार हुआ।

इसी प्रसंग में महाभारतकार ने सिन्धु नदी के किनारे बसनेवाली उन महाबली कबाइली जातियों का उल्लेख किया है, जो राजनैतिक परिभाषा में ग्रामणेय कहलाती थीं, (सिन्धु कूलाश्रिता ये च ग्रामणेया महाबलाः, सभा० २९।८)। प्राचीन भारत में ग्रामीण दो प्रकार के होते थे : एक ग्राम-ग्रामणी अर्थात् गांव का मुखिया, जो सब जगह होता है, और दूसरे पूग-ग्रामणी। पूग लूटमार करके जीविका चलानेवाली (उत्सेधजीवी) जातियों के संघ को कहते थे। इस प्रकार की जातियां सिंधु नदी के किनारे-किनारे आजतक बसी हुई हैं। वे लोग अपने किसी नेता या पूर्व पुरुष के नाम से विख्यात होते हैं, जैसे युसुफजाई, ईसाखेल आदि। इन्हींके लिए पाणिनि ने 'स एषां ग्रामणी' सूत्र में इनके नाम रखने की विधि का उल्लेख किया है। इस्लाम से पहले हिन्दूकाल में भी इन कबाइली या ग्रामणेय जातियों में नाम रखने की यही प्रथा थी।

समस्त पंचनद प्रदेश और सिंधु तीर के गिरि-गह्वरवासी ग्रामणेय जातियों को जीतने के बाद नकुल ने और भी पश्चिम दिशा के कितने ही स्थानों को वश में किया, जिनमें रमठ (जागुड या गजनी का प्रदेश), हारहूर (दक्षिणी पश्चिमी अफगानिस्तान में अरगन्दाब नदी—प्राचीन ईरानी हरह्व ती, अरख्वैती प्रदेश—के निवासी), उत्तरजोतिक (उत्तर-पश्चिमी पहाड़ों का जोता), वृन्दाटक (वृन्द अर्थात् बुरिन्दु-बुनेर और अटक) और द्वारपाल का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। यहां यह भी सूचित किया गया है कि नकुल ने इन स्थानों में स्वयं न जाकर केवल शासन भेजकर ही उन्हें अधीन किया। वासुदेव नाम के किसी राजा ने दस राज्यों के साथ पांडव का शासन मानकर सन्धि कर ली। ये दस राज्य अर्जुन की दिग्विजय में उल्लिखित लोह-मंडल के दस राज्य ज्ञात होते हैं। उत्तर-पश्चिम की इस यात्रा से वह मद्रों की राजधानी शाकल (स्यालकोट) में लौट आया और वहां अपने मामा शल्य से मिला। यहींसे उसने सागरकुक्षि अर्थात् सिंधु-सागर-संगम के समीप रहनेवाले पह्लव और बर्बर नामक म्लेच्छ राजाओं को वश में किया। तदनन्तर दश सहस्र ऊंटों पर अपना

संचित कोष लदवाकर वह इन्द्रप्रस्थ लौट आया।

इस प्रकार चारों पांडवों द्वारा चारों दिशाओं की विजय समाप्त हुई और युधिष्ठिर के कोष में मणि, हिरण्य, वस्त्र, धन और धान्य का अपूर्व अक्षय भंडार संगृहीत हो गया। किस प्रकार राजसूय यज्ञ के समय चारों दिशाओं के करद नृपति अपनी भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थ में उपस्थित हुए, इसका अत्यन्त रोचकात्मक वर्णन दुर्योधन ने राजसूय यज्ञ से लौटकर धृतराष्ट्र के सम्मुख किया। उसमें भी भारत के राजनैतिक और आर्थिक वैभव की जो साक्षी मिलती है, उसे हम आगे देखेंगे।

१५ : : युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ

दिग्विजय होने पर राजसूय यज्ञ का भाव युधिष्ठिर के मन में जोर पकड़ने लगा। सर्वप्रथम उन्होंने अपने राज्य का सुशासन किया। शत्रुओं के शेष हो जाने से आन्तरिक रक्षण द्वारा शान्ति से और राजकाज के सब व्यवहारों में सचाई बरतने से प्रजाएं अपने-अपने काम में लग गईं। मेघों ने समय पर जल बरसाया। प्रजाओं से ठीक मात्रा में कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा जनपद जीवन से लहलहा उठा। गोरक्षा, कृषि और वाणिज्य, ये तीनों कार्य भली-भांति चल निकले। विशेषत: राज्य के प्रोत्साहन से इनकी अधिक उन्नति हुई :

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षं कर्षणं वणिक्।
विशेषात्सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः।। (सभा० ३०।३)

धर्मानुकूल धनागम से युधिष्ठिर के कोषागार और कोष्ठागार में महान् संचय हो गया। यह देखकर राजा ने यज्ञ का विचार मन में किया। मित्रों ने भी यही सुझाव दिया। इसी समय कृष्ण भी द्वारका से वहां आए। उनके आगमन से इन्द्रप्रस्थ हर्ष से भर गया, जैसे सूर्यहीन प्रदेश में सूर्य के आने से और वायुरहित स्थान में वायु के संचार से आनन्द हो जाता है। स्वागत-सत्कार के अनन्तर युधिष्ठिर ने कृष्ण से कहा, "हे कृष्ण, आपकी कृपा से सारी पृथिवी मेरे वश में हो गई है और बहुत-सा धन भी प्राप्त हो

गया है। अब मेरी इच्छा है कि मैं आपके साथ विधिवत् यज्ञ करके इसका उपयोग करूं, सो आप आज्ञा दें। हे गोविंद, आप ही दीक्षा ग्रहण करें, क्योंकि आपके यज्ञ करने से मैं भी पापरहित हो जाऊंगा, अथवा आप मुझे ही आज्ञा करें, जिससे आपकी अनुज्ञा पाकर मैं इस उत्तम क्रतु को करूं।" यह सुनकर कृष्ण ने उत्तर दिया, "हे राजन्, तुम्हीं राजसूय जैसे महायज्ञ करने के योग्य सम्राट् हो, तुम्हारे यज्ञ करने से हम लोग भी कृतकृत्य होंगे। जो मेरे योग्य कार्य हो बताओ।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा, "हे कृष्ण, अब मेरा संकल्प सफल हुआ और अब मुझे अवश्य सिद्धि मिलेगी।" इस प्रकार कृष्ण की अनुमति पाकर युधिष्ठिर ने सहदेव को और मंत्रियों को आज्ञा दी कि राजसूय के लिए आवश्यक सामग्री, यज्ञ-पात्र, मंगलात्मक वस्तुएं और अन्न आदि समस्त सम्भार का प्रबन्ध किया जाय। उस यज्ञ में व्यास स्वयं ब्रह्मा बने। उन्होंने अनेक वेदज्ञ ऋत्विजों को बुलाया। ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य अध्वर्यु और पैल नामक ऋषि धौम्य के साथ होता बने। पुण्याहवाचन के अनन्तर वह देवयजन-कार्य शास्त्रोक्त-विधि से प्रारम्भ हो गया। सहदेव को राजा ने आज्ञा दी कि चारों ओर दूत भेजकर सब राज्यों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रतिष्ठित शूद्रों को आमन्त्रित किया जाय। सबने यथासमय आकर युधिष्ठिर की दीक्षा के उत्सव में भाग लिया और युधिष्ठिर ने अनेक विप्र, भाई-बन्धु, मित्र, सचिव और अनेक स्थानों से समागत लोगों के साथ साक्षात् शरीरधारी धर्म के समान यज्ञ-भूमि में प्रवेश किया। यज्ञ के उस आयतन में अनेक आवसथ शिल्पियों द्वारा बनाये गए थे। उनमें सब ऋतुओं के अनुकूल अन्न, शयनादि का प्रबन्ध था, साथ ही अनेक कथा-वार्त्ता और नट, नर्तकों के नाट्य कर्म की भी व्यवस्था थी। इस प्रकार राजसूय-यज्ञ में जहां एक ओर वैदिक कर्मकांड के अनुसार अग्निहोत्र और वेद-पाठ होता था वहां दूसरी ओर उसका रूप प्राचीन काल के समाज नामक उत्सवों-जैसा था। 'दान दीजिए, भोजन कीजिए,' यही ध्वनि वहां सुनाई पड़ती थी। युधिष्ठिर ने विशेष रूप से नकुल को हस्तिनापुर भेजकर भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य और अपने सब भाइयों को आमंत्रित किया। सब गुरुजन और दुर्योधन आदि भाई भी वहां पधारे। उनके साथ शकुनि, कर्ण, शल्य, जयद्रथ भी आए। और भी प्राग्ज्योतिष,

पुण्ड्र, वंग, कलिग, कुन्तल, अन्ध्र, द्रविड़, सिंहल, बाल्हीक, काश्मीर आदि अनेक जनपदों के राजा और राजपुत्र वहां आए। अपने पुत्र के साथ महाबली शिशुपाल भी युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित हुआ। इसी प्रकार और भी मध्यप्रदेश के राजा एवं अनेक वृष्णिवीर वहां आए, जिनका युधिष्ठिर ने उचित स्वागत-सत्कार किया। उन्होंने समय के अनुसार यह विनीत वचन कहा, "इस यज्ञ में आप सब मुझ पर अनुग्रह करें। मैं और जितना मेरा धन है, वह सब आपका है। आप इच्छानुसार उससे प्रसन्न हों।" यह कहकर उसने खाने-पीने का प्रबन्ध दुःशासन को सौंपा। ब्राह्मणों की पूजा का अश्वत्थामा को, राजाओं के सत्कार का संजय को और सुवर्ण, रत्नादि के देखने एव दक्षिणा देने का कार्य कृपाचार्य को सौंपा। भूल-चूक की देख-रेख (कृताकृत परिज्ञान) के लिए महामति भीष्म और द्रोण से प्रार्थना की। व्यय विदुर के हाथ में सौंपा और दुर्योधन को यह कार्य नियुक्त किया कि जो लोग भेंट लेकर आयें, उन्हें वह स्वीकार करे।

धर्मराज युधिष्ठिर की सभा को देखने के लिए और उनके दर्शन के लिए अनेक लोग एकत्र हुए। हमारे लाये हुए रत्नों से कौरव्य राजा युधिष्ठिर का यज्ञ पूरा हो, इस प्रकार की होड़ से राजा लोगों ने युधिष्ठिर का कोष भर दिया। कौन्तेय महात्मा युधिष्ठिर का वह सदन अनेक आवसथों से सुशोभित हो उठा और स्वयं युधिष्ठिर उस दक्षिणावान् यज्ञ से सुशोभित हुए। न केवल देवता, किन्तु ब्राह्मण और सब वर्णों की प्रजाएं उस यज्ञ समागम से तृप्त और प्रसन्न हुईं।

कृष्ण की पूजा

जिस दिन अभिषेक का समय आया, उस दिन ब्राह्मण और ऋषि लोग यज्ञ की अन्तर्वेदी में प्रविष्ट हुए। उस समय भीष्म ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा, "हे भारत, आए हुए राजाओं का यथायोग्य सत्कार होना चाहिए। ऐसा प्राचीन नियम है कि आचार्य, ऋत्विज, राजा, स्नातक, अपने भाई-बन्धु और स्त्री-पक्ष के सम्बन्धी—ये छह संवत्सर के अनन्तर जब दर्शन दें तो वे विशेष सम्मानीय अतिथि होते हैं। तुम्हारे यहां तो ये सब लोग एकत्र हुए हैं, अतएव इन सबको अर्घ्य देना चाहिए और इन सबमें भी जो सबसे

वरिष्ठ और श्रेष्ठ हों, उसे विशिष्ट रूप में पूजा से सम्मानित करना चाहिए।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा, "हे पितामह, इन सबमें आप किसे सबसे अधिक पूजा के योग्य मानते हैं ?" यह सुनकर भीष्म ने कहा, "हे युधिष्ठिर, जितने लोग आये हैं, उन सबमें तेज, बल और पराक्रम द्वारा कृष्ण परम पूज्य हैं। नक्षत्रों में सूर्य के समान सबके मध्य में वह तप रहे हैं। उनकी उपस्थिति से हमारी यह यज्ञ-भूमि जगमग हो रही है।"

इस प्रकार भीष्मकी सम्मति पाकर सहदेव वार्ष्णेय कृष्ण के लिए तुरन्त अर्घ्य ले आये। कृष्णने उसे विधिवत् स्वीकार किया। वासुदेव कृष्ण की यह पूजा शिशुपाल को ठीक न लगी। उसने संसद् के बीच में ही भीष्म, युधिष्ठिर और कृष्ण इन तीनों पर आक्षेप किया। चेदिराज शिशुपाल ने कहा :

"ऐसे महात्मा राजाओं के होते हुए कृष्ण को यह सम्मान देना ठीक नहीं। महात्मा पाण्डवों ने यह उचित शिष्टाचार नहीं किया। क्या इस विषय में जो सूक्ष्म मर्म है, उसे अनजान की भांति आप नहीं जानते? भीष्म की समझ भी थोड़ी है। कृष्ण राजा नहीं हैं। कैसे सब राजाओं के मध्य में यह अर्घ्य के योग्य हैं, जो आपने इनकी पूजा की ? यदि आयु में बड़ा जानकर यह किया हो, तो वृद्ध वसुदेव के होते हुए उनके पुत्र की पूजा कैसी ? अथवा कृष्ण को आचार्य मानकर पूजा की हो तो द्रोण के होते हुए वह भी अनुचित है। यदि कृष्ण को पूजा के लिए ऋत्विज समझा हो, तो व्यास के होते हुए कृष्ण की अर्चा कैसी ? कृष्ण न राजा है, न ऋत्विज है, न आचार्य; किस नियम से आपने उसको सम्मान दिया ? यदि ऐसा ही करना था तो राजाओं को यहां बुलाकर उनका अपमान करने की क्या आवश्यकता थी ? हमने भय से, लोक से, या चापलूसी से युधिष्ठिर को कर नहीं दिया, बल्कि यह समझा था कि धर्म के मार्ग से युधिष्ठिर राजा होना चाहते हैं, तभी हमने उसे कर दिया। किन्तु वह हमें कुछ नहीं मानते। इसे अपमान के सिवा और क्या समझा जाय, जो इस राज्य-संसद् में राज्य-चिह्न प्राप्त न करने पर भी कृष्ण को अर्घ्य दिया गया ? 'युधिष्ठिर धर्मात्मा है' यह बात आज अकस्मात् मिट्टी में मिल गई। कृष्ण तो धर्मच्युत हैं, क्योंकि वृष्णि-कुल में जन्म लेकर, जहां राजा नहीं होते, इन्होंने एक राजा (जरासन्ध) का वध किया ? आज युधिष्ठिर का सारा धर्मात्मापन चला गया और उनका

हृदय संकीर्ण हो गया ! पर यह पाण्डव भयभीत होकर कृपण बन गए तो हे कृष्ण, तुम्हें तो यह समझना था कि पूजा के अधिकारी न होते हुए मैं उसे कैसे स्वीकार करूं। इस अयुक्त पूजा से तुम्हारे लिए अपना बड़प्पन समझना ऐसा ही है, जैसे कोई कुत्ता एकांत में. हवि का टुकड़ा खाकर अकड़ता है। राजाओं का तो इस अपमान से कुछ बिगड़ा नहीं, तुम्हारी ही हे कृष्ण, इससे विडम्बना हुई। जैसे अन्धे को कोई शीशा दिखाए या नपुंसक का विवाह करे, राजा के होते हुए तुम्हारी यह राजा-जैसी पूजा है। युधिष्ठिर जैसे राजा हैं, वैसे ही यह देख लिया, भीष्म जैसे राजा हैं, यह भी देख लिया, और जैसे यह कृष्ण हैं, वह भी देख लिया। सब जैसा तैसा ही है।"

यह कहकर शिशुपाल उठा और अनेक राजाओं के साथ आसन छोड़ कर संसद् से बाहर चला गया। तब युधिष्ठिर शिशुपाल के पीछे दौड़े और मनाते हुए मीठे वचन कहने लगे, "हे राजन्, तुमने जैसा कहा, वह उस प्रकार नहीं है। ऐसा रूखा व्यवहार अनुचित है। शायद तुम धर्म को नहीं जानते। यह शान्तनु के पुत्र भीष्म हैं, इनका अनादर ठीक नहीं। और भी, देखो, तुमसे कहीं आयु में बड़े राजा यहां हैं, उन्हें कृष्ण की पूजा पर कोई आपत्ति नहीं हुई। तुम भी उसे वैसे ही सह लेते। भीष्म कृष्ण को ठीक समझते हैं, तुम उन्हें नहीं जानते।" यह देखकर भीष्म ने कहा, "इसको मनाना व्यर्थ है। कृष्ण आयु में या राजपद में वृद्ध न सही, पर लोक में वह वृद्धतम हैं। न केवल जो लोग यहां आये हैं, उनमें कृष्ण पूज्यतम हैं, अपितु तीनों लोकों में अर्चनीय हैं। अतएव बड़े-बूढ़ों के होते हुए भी हमने कृष्ण की पूजा की, दूसरों की नहीं। मैंने भी बहुत से ज्ञानवृद्धों से भेंट की है, उन सबने कृष्ण के गुणों का मुझसे बखान किया है। जन्म से लेकर आजतक उनके जो कर्म हैं, उनकी चर्चा लोक में मैंने मनुष्यों से सुनी है। हे चेदिराज, किसी कामना से या सम्बन्धी जानकर हमने कृष्ण की पूजा नहीं की। यहां उपस्थित लोगों में कोई बालक भी ऐसा नहीं है, जिसे हमने न परख लिया हो। गुणों के कारण ही हमने कृष्ण को सिरमौर समझ कर उनकी पूजा की। ब्राह्मणों में ज्ञान-वृद्ध और क्षत्रियों में अधिक बली पूज्य होते हैं। कृष्ण में दोनों बातें हैं। लोक में, मनुष्यों में, कृष्ण से बढ़कर कौन है ? शिशुपाल यदि इस पूजा को ठीक नहीं समझता, तो जो वह ठीक समझे, करे।" भीष्म

के चुप होने पर सहदेव ने भी अपनी बात कही, "हे राजाओ, मेरे द्वारा कृष्ण की पूजा जिसे न रुची हो, उस बली के सिर पर मेरा पैर है। मैं यह कहता हूं, किसीके पास अच्छा उत्तर हो तो कहे। राजाओं में जो बुद्धिमान हों, वे मेरा समर्थन करें।"

सहदेव के इस प्रकार ललकारने पर सभा में खलबली मच गई। सुनीथ ने लाल-लाल आंखें दिखाकर क्रोध से कहा, "मैं सेनापति हूं, सारे वृष्णि और पाण्डवों को अभी युद्ध में निपट लूंगा।" इस प्रकार सबको उभाड़कर शिशुपाल यज्ञ विध्वंस करने के लिए राजाओं से सलाह करने लगा। तब राजाओं को विचलित देखकर युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा, "हे पितामह, राजाओं के इस समुद्र में क्रोध का ज्वार-भाटा उठ खड़ा हुआ है। अब मैं क्या करूं, जिससे यज्ञ में विघ्न न हो और प्रजाओं का हित हो?" यह सुनकर भीष्म ने कहा, "हे राजन्, डरो मत। क्या कुत्ता कभी सिंह को पछाड़ सकता है? जो कल्याण का मार्ग था वह मैंने पहले ही चुन लिया। वृष्णि-सिंह कृष्ण के सामने ये राजा भौंक रहे हैं। जबतक कृष्णरूपी शेर सोया है, वे नहीं समझते। यह अल्पबुद्धि शिशुपाल उन्हें यम के घर भेजना चाहता है।" भीष्म की यह बात सुनकर शिशुपाल ने भी रूखे और कड़वे वचन कहे :

"अरे बूढ़े कुलांगार, ऐसी घुड़कियों से तू राजाओं को डराना चाहता है। तुझे लज्जा नहीं आती? हां, तेरे जैसे नपुंसक के लिए यही ठीक है। हे भीष्म, तू जिन पाण्डवों का अगुआ है, तेरे पटेले से जिन्होंने पनसुइया बांधी हैं, वे अन्धे पाण्डव अंन्धे के पीछे चल रहे हैं। अरे भीष्म, तू ज्ञानवृद्ध होकर इस ग्वाले की बड़ाई करता है! तेरी जिह्वा के टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते! बचपन में एक छोटे शंकट को इसने पैर मारकर उलट दिया, इसमें क्या अद्भुत बात हो गई? बांबी-सा गोवर्धन सप्ताह भर हाथ पर रख लिया, मैं तो इसे अचम्भा नहीं मानता। हां, अन्न का पहाड़ वहां यह साफ कर गया, इसका हमें अचरज अवश्य है। जिस राजा का इसने अन्न खाया, उसी कंस को इसने मार डाला, यह भी इसके लिए अद्भुत बात नहीं। जिसका अन्न खाय, उस पर शस्त्र न उठाना चाहिए, धर्म का अनुशासन तो यही है। तू इस स्त्रीहंता की चाहे जितनी बड़ाई करे, तेरे कहने से वह सच्ची नहीं हो सकती। तू गवैया-सा चाहे जितना भी अलाप ले, तेरे

गीत से उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। वह तो जैसा है, वैसा ही रहेगा। धर्म के जानकार होकर तूने कैसे दूसरे को चाहनेवाली अम्बा का अपहरण किया ? तेरा ब्रह्मचर्य न जाने मोह से है या क्लीबत्व से। अरे निस्सन्तान बुड्ढे, तेरा धर्मानुशासन मिथ्या है। मैं उस जरासन्ध की प्रशंसा करता हूं, जिसने इस केशव को दास समझकर इससे युद्ध की इच्छा न की। जरासन्ध-वध के समय इसने जो किया, वह भी मुझे ज्ञात है। आश्चर्य है, ये पांडव नहीं समझते, कैसे उन्हें भी तूने धर्म के मार्ग से घसीट लिया है।"

शिशुपाल-वध

उसके इन रूखे वचनों को सुनकर भीमसेन क्रोध से आगबबूला होगया। किसी तरह भीष्म ने उसे बलपूर्वक रोका। किन्तु शिशुपाल को अपने बल का गर्व था, वह बिल्कुल भी न डरा और हँसता हुआ कहने लगा, "अरे भीष्म, इसे छोड़ क्यों नहीं देते ? अपने प्रताप की अग्नि में जलते हुए इस पतिंगे को मैं देख लूं।" इस प्रकार और भी 'तू-तू, मैं-मैं' उस सभा में हुई और शिशुपाल ने अपनी गालियों की बौछार कृष्ण पर छोड़ दी और उन्हें युद्ध के लिए ललकारा। अन्त में कृष्ण ने क्रुद्ध होकर अपने चक्र से शिशुपाल का सिर अलग कर दिया। उस समय मानो अनभ्र आकाश से वृष्टि हुई और जलता हुआ वज्र छूटा। उपस्थित राजाओं में सन्नाटा छा गया। कुछ दांत पीसने और होंठ काटने लगे, कुछ कृष्ण की बड़ाई करने लगे और कुछ मध्यस्थ हो गए। तब युधिष्ठिर ने शिशुपाल के पुत्र को चेदि देश का राजतिलक कर दिया, और इस प्रकार वह यज्ञ शान्त-विघ्न होकर समाप्त हुआ। युधिष्ठिर ने अवभृथ स्नान किया और समस्त राजमण्डल ने चारों ओर से उन्हें बधाई दी :

"हे अजमीढ़ के वंशज, तुमने आज साम्राज्य पाकर अपने पूर्वजों का यश बढ़ाया है। तुम्हारे इस कर्म से धर्म की वृद्धि हुई है। अब हमें आज्ञा दो, अपने राष्ट्रों को जायं।" वह सुनकर युधिष्ठिर ने सबको यथोचित रीति से बिदा किया। राजाओं के चले जाने पर कृष्ण ने भी युधिष्ठिर से बिदा मांगी। युधिष्ठिर ने गद्‌गद कण्ठ से कृष्ण का ऋण स्वीकार किया। चलते हुए कृष्ण ने कहा, "हे युधिष्ठिर, जिस प्रकार मेघ सब भूतों का संवर्धन

करता है, वैसे तुम प्रमाद-रहित होकर प्रजाओं का सदा पालन करना।" इस प्रकार कहकर कृष्ण अपने रथ पर चढ़कर द्वारावती चले गए।

१६ : : दुर्योधन का सन्ताप

पहले बताया जा चुका है कि राजसूय यज्ञ में राजाओं द्वारा लाई गई उपहार-सामग्री को भली प्रकार लेकर रखने का कार्य दुर्योधन को सौंपा गया था। उस वैभव को और मय द्वारा बनाई विलक्षण सभा को देखकर दुर्योधन का हृदय ईर्ष्या से उसे नोचने लगा। इस सभा में अनेक प्रकार के दिव्य अभिप्राय बने हुए थे। यहीं पर स्फटिक की तरह चमकते हुए फर्श को देखकर उसे थल में जल होने का भ्रम हुआ था और जल को स्थल समझकर वह वापी में गिरकर भीग गया था।

इस सन्ताप से भरा हुआ वह युधिष्ठिर से बिदा लेकर हस्तिनापुर लौटा। पाण्डवों के यश और महिमा से संतप्त उसका रंग फीका पड़ गया और वह विक्षिप्त-सा रहने लगा। उसे इस अवस्था में देखकर शकुनि ने उसके दुःख का कारण पूछा। दुर्योधन ने उससे अपने मन की बात कही, "वह युधिष्ठिर सारी पृथिवी का राजा हो गया है, उसके पास कितनी सम्पत्ति आ गई है, उसने इतना बड़ा यज्ञ कर लिया है, वह देखकर भी मैं कैसे सुखी रह सकता हूं? मैं अशक्त और असहाय हूं, इससे सोचता हूं कि मृत्यु ही अच्छी। युधिष्ठिर के विनाशके लिए मैंने जितना प्रयत्न किया वह सब व्यर्थ गया। पानी में कमल की तरह वह दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। इसलिए हे मामा, मुझ दुःखी पर तरस खाकर धृतराष्ट्र से यह सब हाल कहो।"

यह सुनकर शकुनि ने उसे समझना चाहा, किन्तु कोई प्रतिकार न देखकर उसने धृतराष्ट्र से सब हाल कहा, "महाराज, दुर्योधन शोक से पीला पड़ गया है। क्या आपको इसका कुछ पता नहीं?"

धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की ओर देखकर पूछा, "हे पुत्र तुम क्यों दुःखी हो? मुझे तुम्हारे शोक का कारण नहीं जान पड़ता। सारा ऐश्वर्य मैंने तुम्हें सौंप रखा है। तुम अच्छा खाते-पहनते हो, फिर क्यों दीन और कृश

हो ? भोग के सब पदार्थ देवताओं की तरह तुम्हारी वाणी के अधीन हैं।"

उपायन-पर्व

दुर्योधन ने गहरी सांस लेकर कहा, "मेरा खाना-पहनना कायर पुरुषों जैसा है। जब मैं युधिष्ठिर की महती श्री देखता हूं तब खाया-पिया मेरी देह को नहीं लगता।"

इस प्रसंग में आगे दुर्योधन ने युधिष्ठिर की उस अतुल धन-सम्पत्ति का वर्णन किया, जिसे राजाओं से उपहार लेते समय उसने स्वयं देखा था। इस प्रकरण को महाभारत में 'दुर्योधन-संताप' या कहीं 'दुर्योधन-प्रलाप' भी कहा गया है। हमने इसे 'उपायन-पर्व' नाम दिया है, क्योंकि इसमें उन उपायनों या भेंट के सम्भारों का वर्णन है, जिन्हें चारों दिशाओं के राजा युधिष्ठिर को देने के लिए लाये थे। आर्थिक और भौगोलिक दृष्टि से यह प्रकरण महत्त्वपूर्ण है। मध्य एशिया से दक्षिणी समुद्रतक और सिन्ध से कलिंग-ताम्रलिप्ति तक के अनेक जनपदों और भू-भागों का इसमें उल्लेख है। इस प्रसंग के लेखक के मन में देश की भौगोलिक और आर्थिक इकाई का विचार बद्धमूल था। सभा-पर्व के चार अध्यायों (अध्याय ४५-४८) में यह प्रकरण आया है। अध्याय ४५ में इसका संक्षिप्त रूप है, जिसमें बहुत ही थोड़े उल्लेख हैं, किन्तु इसके बाद अध्याय ४६ में जनमेजय ने इसी कथा को पुन: विस्तार से सुनने की इच्छा प्रकट की, जिसके फलस्वरूप लगभग सौ श्लोकों में इसका पुन: वर्णन हुआ है। ज्ञात होता है कि महाभारत के मूल संस्करण में इस विषय का बीजरूप में उल्लेख किया गया था। वही शक-कुषाण काल के बाद परिवर्द्धित भौगोलिक और आर्थिक पृष्ठभूमि को लेकर वर्तमान रूप में सजा दिया गया है। इस विस्तार का उल्लेख भी विचित्र सचाई के साथ इस ग्रंथ में रह गया है। शक, तुषार, कंक, बाल्हीक और चीन के नामोल्लेख से इसका काल सूचित होता है।

युधिष्ठिर की अतुल सम्पत्ति

दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से युधिष्ठिर की अतुल संपत्ति का हाल सुनाते हुए कहा :

"वहां इन्द्रप्रस्थ के राजभवन में दस सहस्र स्नातक सोने की थाली में नित्य भोजन पाते हैं। कम्बोज देश (वंक्षु के उत्तर का पामीर प्रदेश) के राजा ने कीमती कंबल, और कदली-मृग के काले, लाल और सांवले समूर युधिष्ठिर के लिए उपहार में भेजे। वहीं के राजा ने भेड़ों की खाल से बने हुए (एड) और वृषदंश नामक जंगली बिलावों के चमड़े से बने हुए वस्त्र (वार्षदंश चैल) जिनके ऊपर सुनहला काम बना हुआ था (जातरूप-परिष्कृत), और बकरे की खालों से बने हुएप्रावार नामक ओढ़ने के कंबल भेजे। उसी देश से तित्तिरकल्माष रंग के तीन सौ गुल्दार घोड़े भी प्राप्त हुए। पीलू, शमी और इंगुदी के पत्ते खाकर तगड़े बने तीन सौ ऊंट और खच्चर भी लाये गये। गोवासन देश(संभवत: शिवि देश, जो गोधन के लिए प्रसिद्ध था) के राजा, ब्राह्मण जनपद (सिन्ध में ब्राह्मणाबाद) और दासमीय (सिन्धु पार अफगानिस्तान के व्रात्य लोग) सोने के बने हुए कमण्डलु लेकर उपस्थित हुए, तब उन्हें प्रवेश मिला।

"कार्पासिक(संभवत: मध्य एशिया केसमीप कारापथ)देश के निवासी स्वर्णालंकार से भूषित लम्बे केशवाली छरहरे बदन की युवती दासियां एवं रंकु नामक बड़े बालोंवाले बकरों की खालें लेकर आये। भरुकच्छ के निवासी गान्धार देश में उत्पन्न उत्तम घोड़े भेंट में लाये। सिन्धु नदी के मुहाने के इस पार के लोग, जहां नदी-मुख की सिंचाई से धान्य उत्पन्न होता है, सिन्धु के उस पार के लोग, जहां केवल इन्द्र की कृपा पर ही वृष्टि निर्भर है, कच्छ-काठियावाड़ के प्राय:द्वीप के लोग(समुद्र निष्कुटे जाता:), बलूचिस्तान के पहाड़ी प्रदेश में रहने वाले वैराम, पारद (हिंगुल देश के लोग), बंग (लंग जाति), कितव (केज मकरान के निवासी)—ये सब अनेक प्रकार के रत्न, भेड़, बकरी, गो, हिरण्य, ऊंट, गधे, अंगूरी शराब (फलज मधु) और अनेक प्रकार के कम्बल लेकर उपस्थित हुए तो भी उन्हें मुलाकात के लिए महल के द्वार पर ही रुक जाना पड़ा।

"प्राग्ज्योतिष देश का राजा भगदत्त यशब के बने हुए कीमती बरतन (अश्मसारमयभांड) और सफेद हाथीदांत की मूठोंवाली तलवार उपहार में देकर वापस गया। और भी कितने ही राजाओं को मैंने वहां देखा। द्वयक्ष, (बदख्शां) त्र्यक्ष (तर्खान) और ललाटाक्ष (लद्दाख) के पगड-

धारी राजा वहां आये। विशेषतः एकपाद संज्ञक कबीले के लोग बीरबहूटी के और सुग्गे के रंग के अनेक घोड़े लेकर उपस्थित हुए। चीन, हूण, शक, ओड्र, पर्वतीय (कोहिस्तान-काफरिस्तान के निवासी), हारहूर (दक्षिणी-पश्चिमी अफगानिस्तान में हरह्वैति या अर्गन्दाब देश के निवासी) और हैमवत (काश्मीर के उत्तर में हिमालयस्थ प्रदेश के निवासी), इन राजाओं का वर्णन मैं कहांतक करूं, जो राजद्वार पर रुके हुए थे और भेंट में देने के लिए अपने साथ काली गरदनवाले, महाकाय, सौ योजन-गामी, काबुली गधे लेकर आये थे? उनके साथ बाह्ली (बल्ख) और चीन देश के बने हुए ऊनी (और्ण), रेशमी (कीटज), और पाट (पट्टज) के बहुत प्रकार के मुलायम वस्त्र, कमल के समान ललाई लिये हुए नम्दे (कुट्टीकृत), मध्य एशिया के रंकु नामक बकरे के लम्बे बालों के रांकव कम्बल, भेड़-बकरों की खालों की पोस्तीन (आविक-अजिन), लम्बी तेज तलवारें, भाले, बरछे और तीखे फरसे एवं अनेक प्रकार की सुगन्धियां और रत्न उपहार की सामग्री में सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त शक, तुषार (शकों की एक शाखा), कंक (शकों की शाखा-विशेष, जिसे चीनी भाषा में कंकु या कंगु कहा गया है, और जो मध्य एशिया के पश्चिमी भाग सुग्ध-बुखारा के प्रदेश में थे), रोमश (शकों की किसी शाखा-विशेष के लोग), और शृंगी (शकों की एक शाखा, जिसमें पुरुष सिर पर मेंढ़े के सींग उष्णीष में लगाते थे, जिनके कुछ मस्तक मथुरा-शिल्प में मिले हैं)—ये सब लोग तेज चाल वाले अगणित घोड़े और असंख्य सुवर्ण लेकर उपस्थित हुए। पूर्व देश का राजा भी मूल्यवान आसन, सवारी और मणि-जटित दांत के पलंग, भांति-भांति के सुनहले रथ, जिनमें सिखाये हुए घोड़े जुते थे और जो व्याघ्र चर्म से मढ़े हुए थे, एवं विचित्र कालीन और नाराच, अर्ध-नाराच आदि शस्त्र लेकर महात्मा युधिष्ठिर के यज्ञ-सदन में प्रविष्ट हुआ।

"मेरु और मंदराचल के बीच में (मध्य एशिया में पामीर के समीप) जो शैलोदा नदी है (वर्तमान खोतन नदी, जहां यशब की खानें हैं), उनके दोनों किनारों पर कीचक संज्ञक बांस के वन हैं (कीचक चीनी भाषा का शब्द है), वहां अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं, जैसे खश, एकाशन, जोह, प्रदर, पशुक, कुणिन्द, तंगण, परतंगण आदि। वे लोग पिपीलिक नामक रवेदार

सोना द्रोण से नापकर ले आये। इस सोने को चीटियां खोदकर मानो वरदान में मुफ्त उन्हें देती थीं (पिपीलिक सुवर्ण के बारे में इस किंवदंती का उल्लेख यूनानियों ने भी किया है, जो प्राचीन व्यापारी जगत में मध्य एशिया और तिब्बती सुवर्ण के विषय में प्रचलित थी)। हिमवान् पर्वत के निवासी राजा काले और श्वेत चंवर, हिमालय के फूलों से उत्पन्न स्वादिष्ट मधु, कैलास के उत्तर की वन्य ओषधियां और उत्तर कुरु (मध्य एशिया प्रदेश) की बनी हुई पानी की भांति हरियाले यशब के दानों की मालाएं (अम्बुमाल) उपहार में लेकर प्रणाम करने के लिए उपस्थित हुए।

"हिमवान् के पूरब में उदयाचल पर्वत के राजा एवं समुद्र के किनारे वारिषेण (आधुनिक बारीसाल) एवं लौहित्य नदी के दोनों किनारों पर रहनेवाले गण तथा फल-मूल खानेवाले किरात, जो चमड़े से अपना शरीर ढकते हैं, बड़ी अद्भुत भेंट की सामग्री लेकर आये। चंदन, अगरु और कालियक के मुट्ठे, बढ़िया चर्म, सुवर्ण और गन्ध, भांति-भांति के मृग और पक्षी एवं किराती दासियां युधिष्ठिर की स्वीकृति के लिए उपायन में लाई गईं। उस अजातशत्रु राजा के लिए जिन-जिन जनपदेश्वरों ने बलि आहरण किया, उनके नामों का मैं कहांतक वर्णन करूं? कायव्य (खैबर दर्रे के निवासी), दरद् (काश्मीर के उत्तर-पश्चिम में दर्दिस्तान), दार्व (डुग्गर, वर्तमान जम्मू प्रदेश), शूर (प्रसिद्ध अफगान कबीला), वैयमक (अफगानी ऐमक कबीला), पारद, बाह्लीक (बल्ख), कुन्दमान (अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा पर कुन्दुज के निवासी), पौरक (पठानों का पोरे नामक कबीला), हंसकायन (काश्मीर की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हुंजा प्रदेश), काश्मीर, औदुम्बर, शिबि (झंगमवियाना के दक्षिण शोरकोट), त्रिगर्त्त, यौधेय, राजन्य (एक प्राचीन जनपद, जिसके सिक्के होशियारपुर जिले में मिले हैं), मद्र (पंजाब का प्रसिद्ध जनपद, जिसकी राजधानी शाकल या स्यालकोट थी), केकय (शाहपुर, झेलम और गुजरात के जिले), अम्बष्ठ (पंजाब का एक जनपद), कौकुर (संभवत: पंजाब की खोक्खड़ जाति, जो झेलम और चिनाब के बीच में बसी है), पह्लव, वसाति (सीबी), मौलेय (मूला नदी के आसपास रहनेवाले), क्षुद्रक, मालव, शक, अंग, बंग, पुण्ड्र, कलिंग, ताम्रलिप्ति, शाणवत्य (संथाल), और गया के आसपास के रहनेवाले—इस प्रकार अनेक क्षत्रिय

जब द्वार पर उपस्थित हुए, तब द्वारपालों ने राजा की आज्ञा से निवेदन किया, 'आप लोग कर और उपहार लेकर आये हों तो द्वार पर आइएगा।'

"पूर्व में काम्यकसर (उड़ीसा में चिल्काझील) के समीप रहनेवाला राजा सोने के साज और जड़ाऊ झूलों से अलंकृत, क्षमावान्, कुलीन और पर्वततुल्य हाथी देकर, भीतर प्रवेश पा सका। उड़ीसा की शूकर जाति और वहीं के पांशु-राष्ट्र (पांस रियासत) के राजाओं ने भी हाथी और घोड़े भेंट में देकर प्रणाम किया। सिंहल के नृपति समुद्र का सारभूत धन शंख, मुक्ता और वैदूर्य के रूप में लेकर सैकड़ों कालीनों के साथ उपस्थित हुए। उनके सांवले शरीर पर मोतियों के बने हुए मणि-चीर-वस्त्र सुशोभित थे और उनके नेत्रों के अपांग-भाग तांबे से दमकते थे। नाना देश और नाना जातियों के उच्च-नीच वर्णों के मनुष्य और म्लेच्छ देश के निवासी मनुष्य युधिष्ठिर के लिए जो उपहार-सामग्री लाये, उसका स्मरण करके आज मुझे मर जाने की इच्छा होती है। उस राज-भवन में पक्वान्न और सीधा जिस प्रकार ब्राह्मणों, स्नातकों, यतियों और भृत्यों में बटता था, उसका कोई अन्त नहीं। कुब्ज और वामन सदृश छोटे-छोटे नौकरों तक को खिलाकर ही याज्ञसेनी द्रौपदी स्वयं भोजन करती थी। केवल दो ने ही युधिष्ठिर को कर नहीं दिया—एक तो विवाह-संबंध के कारण पंचाल क्षत्रियों ने और दूसरे सखा होने के नाते अन्धकवृष्णियों ने। उस राजसूय यज्ञ की श्री पाकर युधिष्ठिर हरिश्चन्द्र के समान सुशोभित हो गए। ऐसी दशा में मेरा कृश, सशोक और विवर्ण होना स्वाभाविक है। मुझे चैन कहां ? क्या तुम समझते हो, मेरे प्राण बचेंगे ? तुमने किसी अन्धे सारथी की तरह उल्टा जुआ बांध दिया है। जो छोटे हैं, वे बढ़ रहे हैं, और जो बड़े हैं, वे छीज रहे हैं।"[1]

शकुनि की योजना

दुर्योधन का यह विलाप सुनकर धृतराष्ट्र ने समझाया, "हे पुत्र, तुम ज्येष्ठ के पुत्र होने से ज्येष्ठ हो, तुम्हें पांडवों से द्वेष नहीं करना चाहिए। द्वेष-

१. इस महत्त्वपूर्ण प्रकरण की भौगोलिक और आर्थिक सामग्री के विषय में जिन्हें अधिक जानने की इच्छा हो वे कृपया श्री मोतीचन्द्र कृत 'उपायन पर्व : एक अध्ययन' अंग्रेजी पुस्तक देखें।

कर्त्ता मृत्यु-जैसा दुःख पाता है। तुम अपने भाई की संपत्ति पर क्यों आंख गड़ाते हो ? तुम्हें भी वैसी यज्ञ-विभूति चाहिए तो तुम भी महायज्ञ करो, जिससे तुम्हारे यहां भी राजा विपुल धन भर दें। जो अपने धर्म में रहकर निज धन से संतोष पाता है, वही सुखी होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह स्वकर्म में नित्य उद्योग करे, दूसरों के काम में न उलझे।"

धृतराष्ट्र के इस प्रकार समझाने पर दुर्योधन को तनिक भी शांति न मिली, उलटे उसे मन में ईर्ष्या और द्वेष की आग और भभक उठी। उसने बहुत कुछ अनर्गल बकने के बाद अन्त में कहा, "या तो मुझे वैसी ही लक्ष्मी चाहिए या मैं लड़कर प्राण दे दूंगा। आज जैसी अवस्था में मेरा जीना व्यर्थ है।"

मौका पाकर पास में बैठे हुए शकुनि ने कहा, "युधिष्ठिर के पास तुम जो संपत्ति देखते हो, उसे मैं बिना जोखिम के और बिना युद्ध के केवल अपने पांसों के बल से तुम्हें दिला सकता हूं। दांव मेरा धनुष है, पांसे मेरे बाण हैं, द्यूत-कला मेरी प्रत्यंचा है और पांसों का फलक ही मेरा रथ है।"

शकुनि का इशारा पाकर दुर्योधन ने पिता से फिर बात चलाई, "हे तात, यह शकुनि केवल द्यूत से पाण्डवों की सारी संपत्ति मुझे दिला सकता है। बस आप कह भर दीजिए।"

धृतराष्ट्र यह सुनकर फेर में पड़ गए। उन्होंने कहा, "मैं विदुर से सलाह कर लूं, तो कहूं।"

दुर्योधन यह चाल समझता था। उसने कहा, "विदुर तो पांडवों का हितैषी है। वह तो तुम्हारी बुद्धि को गड़बड़ा देगा। दो आदमियों की राय कहीं मिला करती है ? अपने काम में दूसरे की सहायता कैसी ? मन्दबुद्धि डरकर अपने को बचाता रहता है। बरसात में भीगे हुए भूसे की तरह वह सब तरह बिगड़ जाता है। रोग और मृत्यु बाट नहीं देखतीं कि मनुष्य का काम हुआ या नहीं। इसलिए जबतक शक्ति है, तभीतक हित कर लेना चाहिए।"

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को फिर बरजते हुए कहा, "हे पुत्र, तुम इस अनर्थ द्वारा घोर कलह का सूत्रपात करने चले हो।"

दुर्योधन ने कहा, "इसमें अनर्थ की क्या बात है ? पुराने लोगों ने ही

तो द्यूत का व्यवहार निश्चित कर दिया है। न उसमें किसी धर्म्य मार्ग का अतिक्रमण है, और न किसी का अहित है। जो अक्षद्यूत में प्रवृत्त होते हैं, उनके लिए स्वर्ग का द्वार खुला है। अतएव शकुनि की बात मानकर आप शीघ्र सभा-निर्माण करने की आज्ञा दे दीजिए।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "पुत्र, तुमने जो कहा, वह मुझे नहीं जंचता। फिर भी तुम्हारा जो मन हो, करो। वैसा करके पीछे पछताओगे, यह बात कभी धर्मानुकूल नहीं हो सकती। मुझे क्षत्रियों का बीज नाश करनेवाला बड़ा भय आया हुआ जान पड़ता है।" इतना कहकर धृतराष्ट्र ने मन में विचारा, 'दैव का विधान दुस्तर है, उसे कौन टाल सकता है!' ऐसा सोचते हुए उनकी बुद्धि पर मानो दैव ने ही परदा डाल दिया और राजा धृतराष्ट्र ने पुत्र की बात मानते हुए अपने राज-पुरुषों को सभा बनाने की आज्ञा दे दी।

पाण्डवों को निमंत्रण

तदनुसार सहस्रों शिल्पियों ने मिलकर सहस्र स्तंभोंवाली, सौ द्वार-पाली तोरणों से अलंकृत सभा का शीघ्र निर्माण कर दिया और राजा को उसकी सूचना दी।

तब धृतराष्ट्र ने मन्त्र-मुख्य विदुर से कहा, "जाओ, मेरी आज्ञा से राजपुत्र युधिष्ठिर को शीघ्र ही यहां ले आओ। वह भाइयों के साथ यहां आकर इस विचित्र सभा को देखें और मन-बहलाव के लिए कुछ पांसों का खेल (सुहृद्-द्यूत) भी खेल लें।"

यह सुनकर विदुर सन्नाटे में आ गए। उन्हें यह सब अच्छा न लगा और भाई से बोले, "हे राजन्, मेरी इस कार्य के लिए जाने में रुचि नहीं है। तुम ऐसा न करो। मैं कुल के नाश से डर रहा हूं। मुझे आशंका है कि द्यूत के फलस्वरूप तुम्हारे इन पुत्रों में अवश्य झगड़ा हो जायगा।"

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया, "हे विदुर, यदि दैव प्रतिकूल न होते तो क्या मुझे स्वयं इस कलह का संताप न होता? ब्रह्मा ने जो रच दिया है, सारा जगत् वैसी ही चेष्टा में लगा है, स्वतंत्र नहीं है। इसलिए हे विदुर, मेरी आज्ञा से युधिष्ठिर के पास जाओ और उसे शीघ्र ही ले आओ।"

१७ :: शकुनि का कपट-द्यूत

राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर युधिष्ठिर के समीप गए। उनका मन कुढ़ रहा था; क्योंकि उनको बलपूर्वक इस काम में नियुक्त किया गया था। युधिष्ठिर ने उचित सत्कारपूर्वक पूछा, "हे विदुर, आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता। सब कुशल से तो हैं ? धृतराष्ट्र के पुत्र तो उनके अनुकूल हैं ? प्रजाएं तो वश में हैं?"

विदुर ने उत्तर दिया, "महात्मा धृतराष्ट्र पुत्रों के साथ कुशल से हैं। उन्होंने आपकी कुशल पूछी है और कहा है, 'तुम्हारी सभा के जैसी ही हमारी सभा तैयार हो गई है। उसे आकर देखो। थोड़ा सुहृद-द्यूत भी यहां करके मन-बहलाव करो। आपके आने से हम सब प्रसन्न होंगे।' इसलिए मैं यहां आया हूं। वहां धृतराष्ट्र ने जो पांसे बनवाए हैं और वहां जो कितव (धूर्त्त जुआरी) आये होंगे, उन्हें भी चलकर देखना होगा।"

युधिष्ठिर ने कहा, "मुझे द्यूत में कलह दिखाई पड़ता है, जानबूझ कर इसके लिए कौन तैयार होगा ? आप क्या ठीक समझते हैं ? हम सबके लिए आपका वचन प्रमाण है।"

विदुर ने कहा, "मेरी राय में जुआ अनर्थ की जड़ है। मैंने इसे रोकने का यत्न किया, फिर भी राजा ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। तुम विद्वान् हो, आज्ञा सुनकर जो ठीक हो, करो।"

युधिष्ठिर ने पूछा, "धृतराष्ट्र के पुत्रों के अतिरिक्त वहां कौन-कौन से कितव आए हैं, जिनसे हमें खेलना होगा ?"

विदुर ने कहा, "गांधारराज शकुनि मंजे हुए खिलाड़ी हैं, अक्ष-विद्या के उस्ताद हैं, सदा जीत का दांव फेंकते हैं और भी विविंशति, चित्रसेन आदि हैं।"

ये नाम सुनकर युधिष्ठिर अनिष्ट के भय से कांप गए। उन्होंने कहा, "वहां भयंकर छलिया और कपटी खिलाड़ी आए हैं। विधाता की आज्ञा के वश में सबकुछ है। मेरा मन नहीं कि उन धूर्तों के साथ द्यूत करूं, साथ ही धृतराष्ट्र के शासन से न जाऊं, यह भी नहीं चाहता। पुत्र को सदा पिता की मर्यादा रखनी चाहिए। इसलिए हे विदुर, जैसा कहते हो, चलता हूं। यदि मुझे सभा में कोई चुनौती न देगा तो शकुनि से खेलने की मेरी इच्छा नहीं।

लेकिन मेरा यह सदा व्रत है कि आहूत होने पर मुंह न मोड़ूंगा।" यह कहकर धर्मराज अगले दिन भाइयों और द्रौपदी-सहित विदुर के साथ चल दिये। वे हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र-भवन में पहुंचे और वहां सबसे मिलकर गांधारी से मिले। धृतराष्ट्र की बहुएं द्रौपदी की उस दीप्त शोभा को देखकर मन में प्रसन्न नहीं हुईं।

शकुनि की चुनौती

अगले दिन वे लोग सभा में गए, जहां खिलाड़ी जमे थे। बैठने पर पहले शकुनि ने कहा, "हे राजन्, सभा जमी हुई है। सब लोग मन-बहलाव के लिए उत्सव के भाव से आये हैं। हे युधिष्ठिर, पांसे फेंककर खेलने का नियम रहे।"

युधिष्ठिर ने कहा, "अक्षद्यूत पाप से भरा हुआ, दूसरों को ठगने का व्यापार है। क्षात्र-पराक्रम के अनुकूल नहीं है। नीति-धर्म भी द्यूत के पक्ष में नहीं हैं। तुम व्यर्थ उसकी बड़ाई करते हो। परवंचकता में जुआरी का जो मानदंड होता है, उसे कोई अच्छा नहीं समझता। हे शकुनि, इस कुमार्ग से हृदयहीन की भांति हमें जीतने की इच्छा न करो।"

शकुनि ने उत्तर दिया, "छल के समय भी जो पांसों की ठीक गणना कर ले, वही सच्ची विधि जाननेवाला है। वही खिलाड़ी है, जो पांसों के अनुकूल-प्रतिकूल गिरने पर भी खिन्न न हो। जो द्यूत का जानकार है, वह महामति होता है, वही इसके उतार-चढ़ाव सह सकता है। पर पांसों के साथ जो दांव हैं, वे ही घातक हैं, वे ही कालरूप हैं, क्या तुम्हारा यही अभिप्राय है? यदि हां, तो हे युधिष्ठिर, शंका मत करो, हम लोग मिलकर खेलेंगे। दांव लगाओ, देरी न हो।"

शकुनि के इस प्रकार वचन सुनकर युधिष्ठिर को फिर धर्म की याद आई और उन्होंने मानो अन्तिम पैंतरा चलते हुए कहा, "मुनिसत्तम असित देवल ने कहा है, 'धूर्तों के साथ छल से खेलना पाप है! धर्म से ही युद्ध में जय मिलती है। धर्मपरायण होकर खेलना अच्छा है।' स्त्रियां गाली-गलौज पर उतर आती हैं, किन्तु छल-छिद्र नहीं करतीं। युद्ध भी बिना कपट और शठता के ही होना चाहिए। यही सत्पुरुषों का व्रत है। जो धन यथाशक्ति

ब्राह्मणों को अर्पित करने के लिए है, उसे हे शकुनि, दांव पर मत रखवाओ।"

जुए के मार्ग में इतनी दूरतक पैर बढ़ाकर युधिष्ठिर ने जो बार-बार छल से बचने की माला जपी, उससे तड़पकर शकुनि ने कहा, "हे युधिष्ठिर, जानकार अनजान के साथ लोक में जो व्यवहार करता है, क्या सर्वत्र उसमें कपट ही भरा रहता है ? हम लोगों को तो इन व्यवहारों में कपट की गन्ध नहीं आती। यहांतक आकर यदि तुम अनजान बनकर कपट की दुहाई देते हो और मन में डरते हो तो खेलना छोड़ दो।"

शकुनि के ये वचन ठीक निशाने पर लगे। युधिष्ठिर ने कहा, "मैंने व्रत किया है कि जो मुझे चुनौती देगा, उससे मैं मुंह न मोड़ूंगा। विधाता बलवान है। मैं भाग्य के हाथों में हूं। तो कहो, कौन मेरे साथ खेलेगा और इस द्यूत में दांव का धनी-धोरी कौन बनेगा ?"

यह सुनते ही दुर्योधन ने चट कहा, "मेरा मामा शकुनि मेरे लिए खेलेगा, दांव के लिए रत्न और धन मैं दूंगा।"

यह सुनकर युधिष्ठिर बोले, "तुम्हारी ओर से किसी दूसरे का खेलना मुझे नियम-विरुद्ध लगता है। पर तुम्हारी इच्छा ! ऐसा ही हो।"

द्यूतारम्भ

इस प्रकार वह सुहृद्-द्यूत आरम्भ हो गया। पहले दांव में युधिष्ठिर ने समुद्र से उत्पन्न अपनी सर्वश्रेष्ठ मणि लगाई। जवाब में दुर्योधन ने भी अपनी मणियां रख दीं और 'मुझे धन से क्या लेना है' यह कहते हुए वह चट बोल पड़ा, "अब जीता !" अक्ष-विद्या का मर्म जाननेवाले शकुनि ने पांसा फेंकते हुए कहा, "वह जीता !" युधिष्ठिर कहते ही रहे, "अरे, यह दांव कपट से जीत लिया, अभी और बहुतेरे दांव चलने हैं। ये सहस्र निष्कों कण्ठियों से भरी हुई सौ कुंडियां दांव पर लगाता हूं।" लेकिन शकुनि पांसे फेंककर झट बोला, "वह जीता !"

युधिष्ठिर ने फिर कहा, "यह मेरा व्याघ्र के चमड़े से मढ़ा और घंटियों से झनझनाता हुआ जैत्ररथ है। सहस्र कार्षापण इसका मूल्य है। अब की बार इसी धन से खेलता हूं।" इतना सुनना था कि शकुनि ने फिर उसी कपट से पांसा फेंकते हुए आवाज दी, "वह जीता !"

इसके बाद युधिष्ठिर ने सुवर्ण के आभूषणों से सज्जित एक सहस्र हाथी; दस सहस्र निष्क से अलंकृत दासियां, उतने ही दास, हैमसज्जित रथ, तीतरपंखी रंग के गांधार देश के घोड़े एवं रथ और शकटों में जुतने वाले ऐसे अनेक अश्व जो दूध-भात का भोजन पाते और खड़े रहते थे, दांव पर रखे, पर शकुनि ने उसी प्रकार कूट चाल से पांसा जीत कर कहा, "वह जीता !"

इसके बाद युधिष्ठिर ने अपना कोष भी दांव पर लगा दिया। उसमें चार सौ तांबे के कलश थे और एक-एक में तौल में पांच-पांच द्रोण आहत सुवर्ण-मुद्राएं थीं। उसे भी शकुनि ने "वह जीता !" कहकर हर लिया।

विदुर का उपदेश

इधर द्यूत का पारा चढ़ता जा रहा था, उधर हाल बिगड़ता हुआ देखकर विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया, "महाराज, मरनेवाले को जैसे औषध अच्छी नहीं लगती, वैसे ही मेरा कथन आपको न रुचेगा, फिर भी कहूंगा, विचार करें। दुर्योधन भरत-वंश के लिए काल जन्मा है। यह राजभवन में ही शृगाल उत्पन्न हो गया है। मधु का लोभी जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा हुआ छत्ते को देखता है, खड्ड को नहीं देखता, ऐसे ही यह दुर्योधन अक्ष-द्यूत से मत्त पांडवों से वैर कर अपना नाश नहीं देखता। आपको ज्ञात है, जितने यादव, भोज और अन्धक कंस के सगे-संबंधी थे, सबने उसे छोड़ दिया। ऐसे ही सौ-सौ वर्षों से खाने-पीनेवाले आपके जातिबन्धु भी अलग हो जायंगे। आप यदि आज्ञा दें तो अर्जुन दुर्योधन को कैद कर ले, उस पापी के निग्रह से सब कौरव सुखी होंगे। हे राजन्, इस कौए को त्यागकर मोरों को और इस शृगाल को त्यागकर शार्दूल पांडवों को अपने पक्ष में करो। क्यों शोक-समुद्र में डूबते हो ? नीति है कि कुल के लिए एक पुरुष को, एक कुल को ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए त्याग दे, और आवश्यकता हो तो अपने लिए पृथिवी भर को छोड़ दे। प्राचीनकाल में कवि-पुत्र उशना ने इस नीति का उपदेश असुरों को देकर कहा था कि तुम लोग पापी जम्भासुर का त्याग कर दो। वन में रहनेवाले कुछ पक्षियों ने, जो सोना उगलते थे, किसी के घर में घोंसला ला रखा। उस अंधे ने सोने के लोभ से उन्हें मारकर अपने

वर्तमान और भावी दोनों लाभों का नाश कर लिया। ऐसे ही राजन्, तुम पांडवों से द्रोह करके पछताओगे। उद्यान में जैसे-जैसे पुष्प फलते हैं, माली उन्हें चुनता है, किन्तु कोयला फूंकनेवाला सारे पेड़ को जड़ मूल से जला डालता है।

"द्यूत कलह का मूल है। आपस में फूट पैदा करके युद्ध करा देता है। दुर्योधन वैसा ही उग्र वैर करनेवाला है। वह मद से सारे राष्ट्र के क्षेम को मिटा देगा, जैसे बैल स्वयं अपने सींग को तोड़ डालता है, जैसे नौसिखुए कर्णधार की नाव पर चढ़कर यात्री समुद्र में डूबता है, वैसे ही हे राजन्, तुम भी नष्ट होगे। दुर्योधन पांडवों के साथ द्यूत में जीतता है, क्या तुम इससे प्रसन्न होते हो? इस उत्पन्न होती हुई घोर अग्नि को अयुद्ध से शांत करो। द्यूत द्वारा आप जितना धन चाहते हैं, उससे कहीं अधिक के लिए पांडवों को अपने पक्ष में क्यों नहीं करते?"

दुर्योधन के कटु वचन

विदुर के ये वचन दुर्योधन न सह सका। उसने कहा, "हे विदुर, तुम सदा छिपे हुए पांडवों की प्रशंसा और हमारी निन्दा करते हो। जहां तुम्हारा स्नेह है, हम जानते हैं। क्या तुम हमें अबोध समझते हो? तुम्हारी वाणी बता रही है कि तुम्हारा मन कहां है? तुम गोद में बैठे हुए नाग हो। बिलाव की तरह अपने पोषक की ही हिंसा करते हो। स्वामि-द्रोह से बढ़कर पाप नहीं। शत्रुओं को जीतकर हमने महाफल प्राप्त किया है। हमसे कड़वी बातें मत कहो। हे विदुर, अपने यश की रक्षा करो। हमें छोड़कर दूसरे के हित में मत लगो। मैं ही सबकुछ कराने वाला हूं, क्यों तुम ऐसा समझते हो? मेरे लिए क्या हित है, यह मैं तुमसे कब पूछता हूं? तुम्हारा भला हो, कृपा करके हम सहिष्णुओं को अपने वाग्बाणों से मत बींधो। मेरा तो एक ही शिक्षक है, दूसरा नहीं; उसीने गर्भ में सोते हुए ही मुझे शिक्षा दे दी थी, वही मुझे जैसा चलाता है, वैसा करता हूं। पानी जैसे ढाल की ओर बहता है, वैसे ही मैं भी अपने स्वभाव की ओर जाता हूं। जो बलपूर्वक किसी को सिखाता है, वह अपना सिर चट्टान से टकराता है या सांप को दूध पिलाता है। उससे केवल मनमुटाव बढ़ता है। हे विदुर, जो भुस में आग लगाकर

स्वयं वहां से भाग नहीं जाता, उसकी राख का भी पता नहीं लगता। कहा है, जो दूसरे का हितू और अपना बैरी है, ऐसे अहितकारी मनुष्य को पास में न रहने दो। इसलिए जहां चाहो, चले जाओ। जो असती स्त्री है, उसे चाहे जितना रिझाओ, वह भाग ही जाती है।"

इन विषबुझे वचनों से विदुर के मन को अत्यधिक संताप हुआ, फिर भी उन्होंने अपने को सम्हालते हुए कहा, "हे धृतराष्ट्र, इन बातों से व्यथित होकर यदि मैं तुम्हें छोड़ दूं, तो मेरी मित्रता हलकी कही जायगी। राजाओं के चित्त तो चंचल होते हैं। वे शांति की बात कहकर मूसलों से मारते हैं। हे दुर्योधन, तुम अपने को पंडित और मुझको मूर्ख समझते हो। मूर्ख वह है, जो अपने ही आदमी को मित्र बनाकर पीछे उस पर दोष लगाता है। मंद बुद्धि व्यक्ति को सुमार्ग पर ले जाना वैसा ही कठिन है, जैसा श्रोत्रिय के घर की चंचला स्त्री को संयम में रखना। हित और अनहित के कार्यों में यदि चापलूसी की बात ही सुनना चाहते हो, तो किसी मूढ़ से जाकर सलाह करो। जो पुरुष प्रिय-अप्रिय की भावना छोड़कर हितकारी अप्रिय बात भी कह सकता है, वही राजा का सच्चा सहायक है। सज्जनों के लिए एक ऐसा पेय पदार्थ है, जो कड़ुवा, तीखा, गरम, यशनाशक, रूखा और दुर्गन्धिपूर्ण है। उसका नाम क्रोध है। असज्जन उसे नहीं पी सकते। हे महाराज, उस क्रोध को पचाकर शांत बनो। पंडित वह है जो सर्प की तरह नेत्रों से ज्वाला उगलने-वाले क्रोधी व्यक्ति से स्वयं कुपित नहीं होता, इसलिए मैं अपने आपको रोककर यह सब कह रहा हूं।"

युधिष्ठिर की हार

धृतराष्ट्र, दुर्योधन और विदुर के इस वार्तालाप की पृष्ठभूमि में युधिष्ठिर और शकुनि का वह द्यूत भी चल रहा था। "हे युधिष्ठिर, पांडवों का बहुत-सा धन हार चुके, अब और कुछ हो तो बोलो।" शकुनि का यह वचन सुनकर युधिष्ठिर ने फिर कहा, "मेरा धन असंख्य है। सिंधुनद के पूर्व की प्रजाओं का जितना धन है, वह मेरा ही है। उसे मैं दांव पर रखता हूं। ब्राह्मण राज्याधिकारी और ब्राह्मणों का धन इन दो के अतिरिक्त जितने पुर और जनपद हैं, वह सब मेरा धन है, उसे दांव पर रखता हूं।" इतना सुनते ही शकुनि

ने फिर पांसा फेंकते हुए कहा, "वह जीता !" उसे हारकर युधिष्ठिर फिर सब राजपुत्रों को एवं नकुल और सहदेव को भी दांव पर हार गए।

तब शकुनि ने चुटकी ली, "तुम्हारे प्रिय माद्री-पुत्रों को तो मैंने जीत लिया। ज्ञात होता है कि भीमसेन और अर्जुन तुम्हें अधिक प्यारे हैं।" आहत होकर युधिष्ठिर ने कहा, "अरे मूर्ख, तू हम सब भाइयों के मन में फूट डालता है।" शकुनि ने उत्तर दिया, "द्यूत खेलनेवाले जो प्रलाप कर जाते हैं, उनपर स्वप्नों में भी क्या कोई ध्यान देता है? हे युधिष्ठिर, आप सचमुच जेठे और बड़े हैं। नमस्कार है आपको। जो एक बार नशे में चूर हो गया, वह गड्ढे में गिरता ही है। जो प्रमत्त हो गया, वह नाश को प्राप्त होता ही है।"

अब युधिष्ठिर की विवेक-बुद्धि क्षीण हो चुकी थी। उन्होंने अर्जुन और भीम को भी दांव पर रख दिया और हार गए। शकुनि ने ललकारा, "अब कहो, युधिष्ठिर, दांव पर रखने के लिए क्या धन है?" युधिष्ठिर ने निर्बुद्धि होकर कहा, "सब भाइयों का प्यारा मैं ही अब बचा हूं। अपने को ही मैं दांव पर रखता हूं।" इतना कहना था कि शकुनि ने पांसा फेंका और कहा, "वह जीता !" और ऊपर से व्यंग्य किया, "हे युधिष्ठिर, यह तुमने पाप किया, जो धन अवशिष्ट रहने पर भी अपने आपको हार गए ! अभी तुम्हारी प्यारी द्रौपदी अपराजित बची है ! उसे दांव पर रखकर फिर अपने आपको स्वतंत्र करो।"

इस समय तक युधिष्ठिर पक्के जुआरी के समान अपने विवेक को बिल्कुल खो चुके थे। शकुनि की बात सुनकर विचार करना तो दूर, उन्होंने द्रौपदी को भी दांव पर रख दिया। इतना सुनते ही सभा के सब वृद्ध सदस्य उन्हें धिक्कारने लगे। सारी सभा क्षुभित हो गई। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य को पसीना हो आया। विदुर प्राण-शून्य की तरह सिर पकड़कर नीचा मुंह कर सोचने लगे। केवल धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार-बार पूछने लगे, "क्या जीत लिया ? क्या जीत लिया ?" वह अपनी मुद्रा छिपा न सके :

धृतराष्ट्रस्तु संहृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः।
किञ्चितं किञ्चितमिति आकारं नाभ्यरक्षत॥ (सभापर्व ५८।४१)

महाभारत के समस्त कथा-प्रवाह में जिस प्रकार अकेला ही यह श्लोक धृतराष्ट्र के कुटिल चरित्र को तराश कर सामने रखता है, उस प्रकार का

और कोई श्लोक ढूंढ़े न मिलेगा। ठीक अवसर पर कहे हुए इस श्लोक में वेदव्यास की साहित्यिक प्रतिभा की पराकाष्ठा है। चरित्र-चित्रण का इतना संक्षिप्त और चुटीला उदाहरण दूसरा नहीं मिलता। क्या सचमुच धृतराष्ट्र का भीतरी मन इतनी दूर तक दुर्योधन के षड्यंत्र में सना हुआ था? हमें स्मरण है कि एक पहले अवसर पर भी जब दुर्योधन ने यह प्रस्ताव किया था कि यदि धृतराष्ट्र किसी मीठे उपाय से पांडवों को हस्तिनापुर से बाहर वारणावत नगर भेज दें तो वह राज्य पर पूरा अधिकार कर ले, तब धृतराष्ट्र ने ऐसे ही कहा था, "दुर्योधन, बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में भी चक्कर काट रही है, पर इस पापी विचार को खुलकर कह नहीं सकता।" धृतराष्ट्र का प्रस्तुत वाक्य तो कहीं अधिक निष्ठुर है। द्रौपदी के दांव पर रखे जाने से कर्ण, दुःशासन आदि की तो बाछें खिल गईं। उस सभा में और जो लोग थे, उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली। उधर मदोद्धत शकुनि ने बिना विचारे "वह जीती!" की आवाज लगाई।

जब बात बढ़ती हुई इस दुःखद स्थिति तक पहुंच गई, तब कौरव फूले न समाये। दुर्योधन ने डपटकर कहा, "हे विदुर, जाओ और पांडवों की प्रिय भार्या द्रौपदी को यहां ले आओ। वह जाकर शीघ्र घर का आंगन बुहारे और दूसरी दासियों की तरह हमें सुख दे।"

यह सुनकर विदुर ने अपने को कठिनता से सम्हालते हुए कहा, "हे मूर्ख, तू गड्ढे में गिरता हुआ अपने आपको नहीं देखता। हिरण होकर व्याघ्रों को कुपित करना चाहता है। कृष्णा किसी प्रकार भी दासी नहीं बनी, क्योंकि द्रौपदी को दांव पर रखते समय युधिष्ठिर स्वयं स्वतंत्र नहीं रह गए थे। आज मैं देखता हूं कि नरक का घोर द्वार खुल गया है। शिलाएं तैर रही हैं और नाव डूब रही है। राजा धृतराष्ट्र का मूढ़ पुत्र किसी की बात नहीं सुनता, इससे कुरुवंश का दारुण विनाश अवश्य होकर रहेगा।"

विदुर के वचन का दुर्योधन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने उलटे एक दूसरे सूत को आज्ञा दी, "तुम जाओ और शीघ्र द्रौपदी को यहां लाओ। विदुर की तरह तुम्हें पांडवों से भय नहीं है।" राजवचन सुनकर वह सूत गया और सिंह की मांद में कुत्ते की तरह घुसकर पांडवों की राज-महिषी के पास पहुंचा।

१८ :: द्रौपदी-चीरहरण

परिचारक सूत ने अन्तःपुर में जाकर द्रौपदी से कहा, "हे द्रौपदी, युधिष्ठिर मदमत्त होकर द्यूत में तुम्हें हार चुके। दुर्योधन ने तुम्हें जीत लिया है। अब तुम धृतराष्ट्र के घर में काम करने के लिए मेरे साथ वहां चलो।" द्रौपदी ने कहा, "अरे सूत, यह क्या कहते हो? कहीं कोई राज-पुत्र अपनी स्त्री को भी जुए में हारता है? क्या मूढ़ राजा के पास और कुछ दांव लगाने के लिए नहीं रह गया था?" सेवक ने उत्तर दिया, "हां, जब राजा के पास कुछ और नहीं रहा, तब उसने तुम्हें दांव पर रख दिया। हे राजपुत्री, तुम्हें दांव पर रखने से पूर्व वह राजा अपने भाइयों और अपने आपको भी दांव पर लगा चुका था।" द्रौपदी ने कहा, "हे सूतपुत्र, जाओ और इस द्यूतकारी राजा से सभा में पूछो कि पहले उसने अपने आपको हारा या मुझे? यह जान कर आओ, फिर मुझे ले चलो।"

सूतपुत्र ने सभा में जाकर द्रौपदी का प्रश्न दोहराया। उसे सुनकर युधिष्ठिर को जैसे काठ मार गया। हां, नहीं—उनके मुंह से कुछ न निकला। इस पर दुर्योधन ने कहा, "द्रौपदी यहां आकर प्रश्न कहे। यहीं सब लोग उसका प्रश्न और युधिष्ठिर का उत्तर सुनें।"

दुर्योधन के वशवर्त्ती उस सूत ने व्यथित होकर वह बात जाकर कही, "हे राजपुत्री, सभ्य तुम्हें वहीं बुलाते हैं। जान पड़ता है कि कौरवों का नाश आ गया है।"

सुनते ही द्रौपदी सन्नाटे में आ गई। उसने अपने महान् चरित्र की सारी शक्ति बटोरकर कहा, "विधाता इसी प्रकार पंडित और मूर्ख को दुःख-सुख दिया करता है। इस लोक में धर्म ही महान है। उसीकी रक्षा करने से कल्याण होगा।"

दो कथान्तर

द्रौपदी के कौरवों की सभा में लाये जाने की घटना महाभारत में दो प्रकार से दी गईहै। एक तो जब दुर्योधन ने द्रौपदी को लिवा लाने के लिए अपना दूत महल में भेजा, तब युधिष्ठिर को संभवतः मन में यह आशंका हुई कि द्रौपदी

को लाने के लिए कहीं बल-प्रयोग न किया जाय, अथवा द्रौपदी को ही यह सन्देह उत्पन्न हो कि उसके वहां आने के विषय में उसके पति की क्या सम्मति है। अतएव युधिष्ठिर ने अपना विश्वस्त दूत भी महलों में भेजकर द्रौपदी को संदेश भेजा कि वह वहां आ जाय। फलतः मलिनवसना द्रौपदी सभा में आकर अपने ससुर के सामने खड़ी हो गई। (सभा. ६०।१४, १५)

ज्ञात होता है, यही उस घटना का संक्षिप्त और मूल रूप था। घटना का दूसरा बृहत्तर रूप इस प्रकार वर्णित हुआ है : दुर्योधन के दूत ने महल से लौटकर सभा में द्रौपदी का प्रश्न युधिष्ठिर से कह सुनाया, किन्तु युधिष्ठिर ने उसका कोई उत्तर न दिया। तब दूत ने स्वभावतः सभा की ओर अभिमुख होकर वही प्रश्न दोहराया और आग्रह किया, "आप लोग बतावें, मैं जाकर क्या उत्तर दूं ?"

इस पर दुर्योधन तमतमा गया। उसने तमककर दुःशासन से कहा, "ज्ञात होता है कि यह सूतपुत्र कायर है, मन में भीमसेन से डरता है। तुम स्वयं जाकर द्रौपदी को पकड़ कर ले आओ। उसके ये पराधीन पति अब क्या कर सकते हैं ?"

यह सुनकर दुःशासन उठा और द्रौपदी के भवन में जाकर बोला, "अयि पांचाली, तुम द्यूत में जीत ली गई हो। लज्जा त्यागकर दुर्योधन के दर्शन करो। उसने धर्म से तुम्हें पाया है। सभा में आओ।"

दुःशासन की यह निर्लज्ज वाणी सुनकर द्रौपदी अत्यंत दुःखी हुई। अपने विवर्ण मुख को हाथ में छिपाकर रोती हुई उस ओर दौड़ी, जहां महल में गान्धारी रहती थी। दुःशासन ने क्रोध से झपटकर उसके बाल पकड़ लिये और वह उसे बलपूर्वक सभा में ले आया।"

द्रौपदी ने कांपते हुए कहा, "हे अनार्य, मैं सभा में चलने योग्य नहीं हूं। मैं आज मलिनवसना हूं और केवल एक वस्त्र पहने हूं।"

उद्धत दुःशासन ने उत्तर दिया, "तुम मलिनवसना हो, एक वस्त्र पहने हो, या वस्त्रविहीना भी हो, तो भी जुए में जीती हुई दासी हो चुकी हो, दासियों के साथ यथाकाम व्यवहार होता है।"

इस प्रकार दुःशासन से पराभव पाकर अमर्ष से जलती हुई द्रौपदी ने लज्जा और शोक से कहा, "अरे मन्दबुद्धि, इस सभा में शास्त्रों का उप-

देश देनेवाले क्रियावान गुरुजन सदस्य बैठे हैं। उनके सामने मैं खड़ी होने योग्य नहीं हूं। तुम्हारा यह व्यवहार अनार्योचित और क्रूर है। हा, आज भारतों का सब धर्म नष्ट हो गया! क्षत्रियों का आचार लुप्त हो गया, जहां भरी सभा में कुरु-धर्म की मर्यादा इस प्रकार रौंदी जाती हुई सब चुपचाप देख रहे हैं! द्रोण और भीष्म में कुछ सत्त्व नहीं बचा, और क्या सचमुच महात्मा राजा धृतराष्ट्र तथा अन्य कुरुवृद्ध इस अधर्म को नहीं देख रहे?"

यों कहते हुए उसने अत्यन्त करुणा से अपने पतियों की ओर देखा। उनके शरीरों में क्रोधाग्नि धधक रही थी। कृष्णा की दृष्टि देखकर वे और दुखी हुए।

इसी अवसर पर दुःशासन ने रूखी हँसी हँसकर चिढ़ाते हुए उसे फिर 'दासी' कहा। कर्ण और शकुनि ने उसका अनुमोदन किया। दुर्योधन, कर्ण और शकुनि को छोड़कर जितने सदस्य वहां थे, सभी द्रौपदी को सभा में खींचकर लाई जाती हुई देखकर दुःख और शोक से गड़ गए।

भीष्म का अस्पष्ट उत्तर

इस अवसर पर भीष्म ने द्रौपदी के महाप्रश्न का मुंह खुला हुआ देखकर कहा, "हे सौभाग्यवती, धर्म की गति सूक्ष्म है। मैं तेरे प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकता। एक ओर तो यह सिद्धांत है कि जो स्वयं अधन और अवश है, वह पराये धन को दांव पर नहीं रख सकता। दूसरी ओर यह बात है कि स्त्रियां अपने स्वामी के स्वत्त्व में होती हैं। इस बारीक बात में मेरी बुद्धि काम नहीं करती। युधिष्ठिर सारी पृथिवी को छोड़कर भी सत्य को न छोड़ेंगे। वह कह चुके हैं कि मैं जीत लिया गया, इसलिए मैं तुम्हारे प्रश्न की विवेचना नहीं कर पाता। शकुनि ने युधिष्ठिर को द्यूत में जीता। जब स्वयं युधिष्ठिर ही उसमें छल-कपट नहीं देखते तब मैं तुम्हारे प्रश्न का क्या उत्तर दूं?"

इस प्रकार कानूनी बारीकी की आड़ लेकर भीष्म ने प्रश्न का उत्तर देने का साहस न किया। तब द्रौपदी ने सभा की ओर देखकर कहा, "और जो कौरव सभा में बैठे हैं, वे मेरे प्रश्न का उत्तर दें।"

भीम का क्रोध

विलाप करती हुई असहाय द्रौपदी से दुःशासन ने फिर कुछ अप्रिय और कठोर वचन कहे। इस पर भीम से न रहा गया। उसने क्रोध से युधिष्ठिर की ओर देखते हुए कहा, "हे युधिष्ठिर, कितव लोगों की भी बन्धकी स्त्रियां होती हैं, उन पर भी दया की जाती है। कोई उन्हें दांव पर नहीं रख देता। अनेक राजा जो धन-रत्न उपहार में लाये थे, उन्हें, राज्य और अपने आपको भी तुम दांव पर रख हार गए। इसका मुझे क्रोध नहीं, क्योंकि तुम सबके मालिक थे, लेकिन द्रौपदी को तुमने दांव पर रखा, यह सचमुच बड़ी ज्यादती है। हे सहदेव, जल्दी अग्नि ले आओ, मैं इस राजा की दोनों भुजाओं को, जिससे इसने द्रौपदी को दांव पर रखा है, जला डालूं।"

इस पर अर्जुन ने कहा, "हे भीम, पहले कभी ऐसे वचन तुम्हारे मुंह से नहीं सुने। क्या तुम्हारी धर्म में पूजा-बुद्धि जाती रही? बड़े भाई का इस प्रकार उल्लंघन ठीक नहीं।"

भीमसेन ने उत्तर दिया, "हे अर्जुन, क्या कहते हो? मैं इसे अपना पुरुषार्थ समझूंगा, यदि मैं आज धधकती आग में इसकी दोनों भुजाएं जला डालूं।"

विकर्ण का साहस

इस स्थिति में धृतराष्ट्र के पुत्र विकर्ण ने कहा, "हे राजा लोग, द्रौपदी ने जो प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर देना चाहिए। इस 'तू-तू मैं-मैं' से क्या लाभ? भीष्म और धृतराष्ट्र दोनों कुरुओं में वृद्ध हैं। वे क्यों कुछ नहीं कहते? विदुर भी महामति हैं। द्रोण और कृप दोनों ही ब्राह्मण और आचार्य होकर इस प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते? और भी जो राजा एकत्र हैं, वे काम-क्रोध को छोड़कर बतावें कि कौन-सा पक्ष ठीक है।"

विकर्ण के इस प्रकार कहने पर भी सभासदों में से कोई टस-से-मस न हुआ। इस पर क्रोध से मुट्ठी भींचते हुए विकर्ण ने स्वयं ही कहा, "आप लोग प्रश्न का उत्तर दें या न दें, मैं जो न्याय समझता हूं उसे कहूंगा, राजाओं के चार व्यसन हैं—शिकार, शराब, जुआ और व्यभिचार। जो

इनमें आसक्त हैं, वह धर्म को छोड़कर ही फिर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। ऐसा व्यक्ति जो कार्य करे, उसका प्रमाण नहीं माना जा सकता। (सभा० ६१।२१)

"इस युधिष्ठिर ने जुए के व्यसन में डूबकर द्रौपदी को दांव पर लगाया, अतएव यह मान्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि जब यह स्वयं अपने को हार चुका था तब इसे द्रौपदी को दांव पर रखने का अधिकार कहां रह गया? इस प्रकार विचार करके मेरा दृढ़ मत है कि द्रौपदी विजित नहीं हुई।"

चीरहरण

इतना सुनना था कि सभा के सदस्यों में हर्ष की लहर दौड़ गई। सब लोग विकर्ण की प्रशंसा और शकुनि की निन्दा करने लगे। किन्तु कर्ण क्रोध से आग बबूला हो गया। उसने विकर्ण का हाथ पकड़कर कहा, "अरे, तू बड़ा खोटा है। जहांसे जन्म लिया, उसीका नाश करता है। द्रौपदी के बार-बार पूछने पर भी उसके पति तो कुछ नहीं कहते। मैं समझता हूं, उनकी राय में भी द्रौपदी धर्म से जीती गई। यह तेरा लड़कपन है, जो सभा के बीच में बूढ़ों की-सी बातें करता है। तू धर्म को ठीक नहीं जानता। द्रौपदी कैसे अविजित रही, जब युधिष्ठिर ने अपना सर्वस्व दांव पर रख दिया था? द्रौपदी भी सर्वस्व के अन्तर्गत है। जब नाम लेकर द्रौपदी को दांवपर रखा तब बता, वह अविजित कैसे रही? और यदि उसका सभा में लाया जाना अधर्म हो तो सुन। स्त्रियों का एक पति होता है, यह तो अनेक की है। इसके सभा में ले आने से क्या हो गया? ओ दुःशासन, यह विकर्ण बड़े बोल बोल रहा है। तुम उठो, पाण्डवों के और द्रौपदी के भी वस्त्रों को उतार लो।"

यह सुनकर पांचों भाइयों ने अपनी पगड़ी और उत्तरीय स्वयं उतारकर रख दिये। तब दुःशासन सभा के बीच में बलपूर्वक द्रौपदी का वस्त्र खींचने लगा। चारों ओर से अनाथ हुई द्रौपदी ने मन में भगवान् का स्मरण किया :

"हे देव, आपत्तियों में तुम्हीं अभय देनेवाले हो। हे लोकों के पितामह, क्या तुम नहीं जानते, मैं किस पराभव को प्राप्त हो गई हूं? हे महात्मन्, तुम धर्म-रूप हो, मेरी रक्षा करो।"

द्रौपदी के वस्त्र के भीतर से अनेक प्रकार के और वस्त्र प्रकट होने लगे और वहां सभा में वस्त्रों का अम्बार लग गया।

द्रौपदी की रक्षा कैसे हुई ?

इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि जिस समय दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्र खींचना आरम्भ किया, उस समय द्रौपदी ने जो कृष्ण से प्रार्थना की, वह प्रसंग महाभारत पूना-संस्करण में प्रक्षिप्त होने के कारण पाद-टिप्पणी में चला गया है, क्योंकि अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों के प्रमाण से ऐसा ही सिद्ध हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि उस अतिदीन और करुण स्थिति में पड़ी हुई अनाथा द्रौपदी ने अवश्य ही धर्ममय नारायण का स्मरण किया होगा। कोई भी मानव ऐसी स्थिति में यही कर सकता है। उसके उत्तर में ईश्वर की महिमा क्या कर सकती है, इसके विवाद में कोई रस नहीं। यह अपने-अपने दृष्टिकोण और धार्मिक आस्था पर है। अवश्य ही उस समय जो द्रौपदी के साथ हो रहा था, उससे बढ़कर अनर्थ की कल्पना सम्भव नहीं। यदि धर्म और न्याय की कोई सत्ता है तो उसकी अभिव्यक्ति ऐसे अवसर पर होनी ही चाहिए। उस अभिव्यक्ति का एक रूप वह चमत्कार है, जिसके द्वारा द्रौपदी का वस्त्र इस प्रकार से बढ़ गया कि उसकी लज्जा बच गई; किन्तु यदि उस प्रकार का चमत्कार मानव के लिए प्रत्यक्ष न भी हो तो भी ईश्वर, सत्य, न्याय और धर्म, इनकी सत्ता अखण्ड है, वह त्रिकाल में अबाध रहती है। मानव उसके साथ कितना भी अनाचार करे, सृष्टि का सत्य अन्ततोगत्वा दुर्धर्ष और अखण्ड है। मनुष्य अपने अनाचार से उसे छिपा या मिटा नहीं सकता। दुःख और अन्याय की अग्नि, जो थोड़े समय के लिए झुलसा देती है, अन्त में सत्य के अमृत से ही शान्ति पाती है। इस जगत में मनुष्यों द्वारा किये हुए अनाचारों का अन्त नहीं; किन्तु सृष्टि के सत्य की अनुभूति यह भी मानवीय मन की सबसे ऊंची प्राप्ति है। द्रौपदी के इस दुःखद-काण्ड के भीतर सत्य का वह प्रज्वलित रूप देखा जा सकता है। किस प्रकार युधिष्ठिर द्वारा आचार का उल्लंघन इस सर्वनाश का कारण हुआ, यह भी तो धर्म के दुर्धर्ष नियम की ही चरितार्थता है।

भीम की प्रतिज्ञा

जिस समय दुःशासन द्रौपदी का वस्त्र खींचने के लिए उद्यत हुआ, उस समय सारी सभा विक्षुब्ध हो उठी और चारों ओर शोर-गुल मच गया। भीम ने क्रोध से दांत पीसते हुए चिल्लाकर कहा, "मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि इस पापी दुःशासन की छाती फाड़कर उसका रक्तपान करूंगा। यदि ऐसा न करूं तो मुझे सद्गति न मिले।"

सभा में चारों ओर से लोग दुःशासन को धिक्कारने लगे और वह लज्जित होकर बैठ गया। सब लोग धृतराष्ट्र की निन्दा करते हुए कहने लगे, "क्यों नहीं द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर दिया जाता?"

धर्मज्ञ विदुर का भाषण

इस पर सभासदों को रोककर धर्मज्ञ विदुर ने कहा, "हे सभासदो, द्रौपदी अपना प्रश्न कहकर अनाथ की तरह रो रही है और आप लोग उत्तर नहीं देते, यह धर्म की बड़ी हानि है। दुःखी जन अग्नि से जलते हुए की भांति सभा में आता है। सभ्य लोग सत्य और धर्म का जल छिड़ककर उसे शान्त करते हैं। विकर्ण ने अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया है, आप लोग भी यथामति उत्तर दें। सभा में जाकर और धर्मदर्शी बनकर जो प्रश्न का उत्तर नहीं देता, वह अनृत का भागी होता है। अधर्म के बाणों से बिंधा हुआ धर्म जब सभा में पहुंचता है, तब वे बाण उसके शरीर को नहीं कोंचते, वे सभासदों के शरीरों को कोंचने लगते हैं। अतएव कृष्णा के प्रश्न का उत्तर सभासद लोग दें।"

द्रौपदी की स्पष्टोक्ति

विदुर की बात सुनकर भी कोई राजा न बोला। कर्ण ने दुःशासन से कहा, "दासी द्रौपदी को घर ले जाओ।" दुःशासन उसे खींचकर ले जाने लगा, तब द्रौपदी ने कहा, "इस सभा में आने पर मुझे जो करना चाहिए था, वह मैंने पहले नहीं किया, क्योंकि मैं घबराई हुई थी। अब मैं कुरु-संसद् में उपस्थित इन गुरुजनों को प्रणाम करती हूं। जो मैंने नहीं किया, उसका

मुझे अपराध न लगे।" यह कहते हुए वह विलाप करने लगी और फिर बोली, "इससे अधिक दुःख की और क्या बात होगी कि मैं स्त्री होकर आज सभा के बीच में लाई गई ? धर्म की सनातनी मर्यादाएं कौरवों ने आज तोड़ डालीं। यह समय का विपर्यय है कि जिसे पहले स्वयंवर में राजाओं ने देखा था, आज उसे वे ही लोग सभा में देख रहे हैं। आज मैं अधिक यह दुःख न सह सकूंगी। मैं दासी हूं या अदासी, जीती गई हूं या अजित रही, जैसा आप समझते हैं, उत्तर दें, वैसा मैं करूं।"

द्रौपदी के वचन सुनकर भीष्म का मुंह खुला, "हे कल्याणी, मैं कह चुका हूं, धर्म की चाल महीन है। महात्मा विप्र भी उस पर नहीं चल सकते। मैं तेरे प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि मामला बड़ा सूक्ष्म, गहन और गौरव से भरा हुआ है। इस कौरव-कुल का नाश तो निश्चित है। हे पांचाली, इतनी कठिनाई में पड़ी हुई भी तुम धर्म की ही बुद्धि रखती हो, यह तुम्हारे अनुरूप है। द्रोण आदिक ये और भी धर्म के जाननेवाले बूढ़े ऐसे बैठे हैं जैसे इनके शरीर में प्राण ही नहीं। मेरी तो सम्मति है कि युधिष्ठिर ही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दें कि तुम अजित हो या जीती गई हो।"

द्रौपदी की मुक्ति

यह देखकर दुर्योधन ने भी भीष्म की बात का समर्थन किया। इससे सभासद कुछ प्रसन्न हुए और युधिष्ठिर के मुख की ओर देखने लगे कि वह क्या कहेंगे। इसके बाद भीम और कर्ण की फिर कुछ गरमागरमी हुई। विदुर ने बीच-बचाव किया। तब दुर्योधन ने कहा, "यदि भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव का यह कहना है कि द्रौपदी को दाव पर रखते समय युधिष्ठिर स्वतंत्र नहीं रह गए थे, तो हे द्रौपदी, तुम दास्यभाव से मुक्त हुई।"

इस पर अर्जुन ने कहा, "जब युधिष्ठिर ने हम चारों को दांव पर रखा था, तबतक वे स्वतंत्र थे, किन्तु जब वह अपने को हार चुके तब वे स्वतंत्र कैसे रहे, इसे आप लोग समझ लें।"

धृतराष्ट्र का वरदान

इसी समय कौरव-राजकुल में बड़े-बड़े अपशकुन होने लगे। गान्धारी

घबराई हुई सभा में आई और उसने एवं विदुर ने धृतराष्ट्र को झकझोरा। तब धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को डपटा, "हे मन्द बुद्धि, तेरा नाश हो, जो तू इस प्रकार सभा में स्त्री और विशेषत: द्रौपदी के साथ व्यवहार करता है!" फिर द्रौपदी से कहा, "हे पांचाली, तू मेरी सब बहुओं में श्रेष्ठ है, जो चाहे, वर मांग।"

द्रौपदी ने कहा, "मैं मांगती हूं कि मेरे धर्मानुगामी पति युधिष्ठिर दासभाव से मुक्त हों। कहीं मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्य को खेलनेवाले साथी दास-पुत्र कहकर न पुकारें। वह पहले की ही तरह राजपुत्र रहे।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "हे भद्रे, दूसरा वर और मांग।"

द्रौपदी ने कहा, "भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव ये भी स्वतंत्र हों, यह दूसरा वर मांगती हूं।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "दो वरदानों से तेरा पर्याप्त आदर नहीं हुआ; तीसरा वर और मांग।"

द्रौपदी ने उत्तर दिया, "लोभ से धर्म का नाश होता है। मैं अब तीसरा वर मांगने के अयोग्य हूं। मेरे ये पति गड्ढे में गिरकर उसके पार हो गए हैं। यदि इनका कर्म पवित्र होगा, तो इन्हें पुन: कल्याणों की प्राप्ति होगी।"

द्रौपदी के ऐसे नैतिक और तेजस्वी वचन सुनकर कर्ण भी, जो पहले उसके सम्बन्ध में निष्ठुर बात कह चुका था, चकित हो गया और बोला, "मनुष्यों में जो स्त्रियां आजतक सुनी गई हैं, किसी का ऐसा उदात्त कर्म नहीं सुना। जब पांडव और धृतराष्ट्र के पुत्र दोनों क्रोध से भर गए तब भी द्रौपदी शान्तमूर्ति बनी रही। अगाध जल में डूबते हुए पाण्डुपुत्रों के लिए तुम पारगामी नाव बन गई।"

भीम ने कर्ण की इस बात को भी ताना समझा और क्रोध से उबल पड़ा। तब युधिष्ठिर ने उसे रोककर पिता धृतराष्ट्र के सामने हाथ जोड़कर कहा, "हे तात, आप हम सबके नाथ हैं। सदा हम आपकी आज्ञा में रहना चाहते हैं। कहिए, हम क्या करें?"

धृतराष्ट्र ने कहा, "हे अजातशत्रु, तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपने राज्य का अनुशासन करो। मुझ बूढ़े का यही कहना है कि तुम शांति का अवलम्बन रखना। जहां बुद्धि है, वहीं शांति का आश्रय लिया जाता है

हे तात! दुर्योधन की इस निष्ठुरता को हृदय में मत लाना। माता गांधारी और मेरे बुढ़ापे की ओर देखना। मैंने इस द्यूत को तमाशे की तरह उपेक्षा भाव से लिया था, जिससे यहां एकत्र अनेक मित्रों को देख पाऊं और पुत्रों के बलाबल को भी जान लूं। अब तुम खाण्डवप्रस्थ जाओ।" यह सुनकर युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ लौट गए।

पुनः द्यूत-क्रीड़ा

यह समाचार जानकर तुरन्त दुःशासन दुर्योधन के पास दौड़ा गया और खीजकर बोला, "बड़े कष्ट से यह सब हुआ था, पर बुड्ढे ने सब चौपट कर डाला (स्थविरो नाशयत्यसौ)। सारा जीता हुआ धन फिर शत्रुओं को दे दिया।"

सुनते ही दुर्योधन, कर्ण और शकुनि धृतराष्ट्र के पास दौड़े गए और दुर्योधन ने मृदुवाणी से कहा, "सब उपायों से शत्रु को मारना चाहिए, बृहस्पति की यह नीति क्या आपने नहीं सुनी? पांडव काले नाग थे, उन्हें कण्ठ में लटकाना कहांतक उचित है? अब वे हमें निःशेष किये बिना न मानेंगे। द्रौपदी का क्लेश वे कहां भूल सकते हैं? इसलिए पाण्डवों के साथ हम फिर द्यूत खेलकर उन्हें वश में करें। जो हारेगा, वह बारह वर्ष वन में रहेगा और तेरहवें वर्ष अज्ञातवास करेगा। हम राज्य में जमे हैं, सेना भी बहुत है, तेरह वर्ष का व्रत पार करके यदि वे लौट आये तो युद्ध में उन्हें जीत लेंगे। आप आज्ञा दे दें।"

यह प्रस्ताव सुनकर निर्बुद्धि धृतराष्ट्र ने कुटिल भाव से चट कहा, "हां-हां, अभी वे रास्ते में होंगे। जल्दी उन्हें लौटा लाओ। पाण्डव यहां आकर फिर द्यूत खेलें।"

द्रोण, विदुर, अश्वत्थामा, भीष्म और विकर्ण ने बहुत समझाया। गांधारी भी शोक से डूब गई और कहने लगी, "इन अशिष्ट पुत्रों की बात तुम मत मानो। कुल के घोर नाश का कारण मत बनो।" किन्तु धर्मदर्शिनी गांधारी की बात भी धृतराष्ट्र ने अनसुनी कर दी और कहा, "जैसा तुम चाहते हो, करो। पाण्डव लौट आवें और द्यूत खेलें।"

तुरन्त दूत दौड़ाया गया। मार्ग में से ही युधिष्ठिर धृतराष्ट्र का वचन

सुनकर फिर लौट आये। अबतक की दारुण विपत्ति पर उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। फिर वही अपनी टेक की दुहाई देने लगे। उनके आते ही शकुनि ने जुए की नई शर्त सुनाई। पांसा फेंका गया और चट शकुनि ने कहा, "मैंने जीत लिया। अब तुम लोग वनवास करो।"

पाण्डव सब प्रकार से हीन होकर वन की ओर चल दिये। द्रौपदी भी उनके साथ चली। केवल कुंती को विदुर ने अपने यहां रख लिया। पाण्डवों के पुरोहित धौम्य भी उनके साथ हो लिये।

(सभा पर्व समाप्त)

१९ : : बिदुर पर धृतराष्ट्र का कोप

महाभारत के तीसरे पर्व—आरण्यक पर्व या वन पर्व में पाण्डवों के वनवास की कथा है। यद्यपि इस बृहत् पर्व में लगभग ३०० अध्याय और १२,००० श्लोक हैं, किन्तु कथा-प्रवाह की दृष्टि से इसकी सामग्री परिमित है। इस कमी की पूर्ति इस पर्व के अनेक उपाख्यान, चरित, नीति और धर्म के प्रसंगों एवं तीर्थयात्रा-सम्बन्धी वर्णनों से भली-भांति हो जाती है। ऐसे स्थल इस पर्व में कटहल में कोयों की भांति भरे हुए हैं, मानो बारह वर्ष के लम्बे वनवास-काल को संतुलित करने या समय काटने के लिए वे प्रसंग यहां आवश्यक समझकर रखे गए हों।

वनवास में पांडवों का दुःख हलका करने के लिए यहां नलोपाख्यान की सुन्दर कथा है, जो उत्कृष्ट साहित्यिक रस से युक्त है और अब तो संसार की विविध भाषाओं में अनुवाद के रूप में विश्व-साहित्य का अंग बन चुकी है। ऋष्यश्रृंग उपाख्यान, रामायण का रामोपाख्यान और भारत के साहित्यिक जगत की अमर कृति सावित्री-सत्यवान उपाख्यान भी इसी पर्व में है। इस पर्व के अन्य विषय ये हैं :

पाण्डव-प्रव्राजन, पौराभिगमन, शौनक-वाक्य, आदित्य के १०८ नामों का स्तोत्र, विदुर-विवासन, धृतराष्ट्र-संताप, सुरभि-इन्द्र-संवाद, मैत्रेय-धृतराष्ट्र-भेंट, किर्मीर-वध, कृष्ण-पाण्डव-समागम, शाल्व-वध-कथा, द्वैत-वन-प्रवेश, द्रौपदी-वाक्य, शस्त्र-प्राप्ति, इंद्रकीलाभिगमन, किरात-युद्ध,

नलोपाख्यान, कार्तवीर्य-वध-उपाख्यान, पुलस्त्य-तीर्थयात्रा, लोमशागमन, लोमशतीर्थयात्रा-प्रस्थान, ऋष्यशृंग-उपाख्यान, च्यवन-सुकन्या-उपाख्यान, मांधाता-उपाख्यान, श्येनकपोतीय, अष्टावक्रीय उपाख्यान, यावक्रीत-उपाख्यान, गन्धमादन-प्रवेश, हनुमद्भीम-समागम, पुष्पाभिहरण, जटासुर-वध, मणिमद्-वध, अर्जुनाभिगमन, निवातकवचवध, आजगर-पर्व, मार्कण्डेय-समास्या, ब्राह्मण-माहात्म्य, धुन्धुमारोपाख्यान, सरस्वती-तार्क्ष्यसंवाद, मत्स्योपाख्यान, मण्डूकोपाख्यान, द्रौपदी-प्रमाथ, रामोपाख्यान, सावित्री-उपाख्यान, कुण्डलाहरण, आरणेय और यक्षप्रश्न। इन उपाख्यानों के हृदयग्राही अंशों को अब हम क्रमशः देखेंगे।

हस्तिनापुर के नगर-द्वार से बाहर निकलकर पाण्डव द्रौपदी के साथ उत्तर की ओर चले। जैसे ही यह समाचार नगर में फैला, शोकसंतप्त पुरवासी कौरव, भीष्म, द्रोण, विदुरादिक को बुरा-भला कहने लगे और बाहर निकलकर युधिष्ठिर से बोले, "जहां आप जायेंगे वहीं हम भी चलेंगे, हमारा यहां रहना व्यर्थ है।"

तृष्णा का रोग

युधिष्ठिर ने उनके स्नेह से व्यथित हो उन्हें समझा-बुझाकर वापस भेजा और स्वयं रथ पर बैठकर गंगा के किनारे हो लिये। फिर भी कुछ ब्राह्मण उनके साथ रह गए। युधिष्ठिर ने कहा, "स्वयं अपने लिए भोजन का प्रबन्ध करते हुए और मेरे लिए क्लेश पाते हुए आपको मैं कैसे देख सकूंगा?"

इस पर विद्वान शौनक उन्हें समझाने लगे, "आपके सदृश जन शरीर और मन के कष्टों से दुःखित नहीं होते। जनक का अनुभव-वाक्य है कि सब संसार मन और दुःखों के कष्ट से पीड़ित है। शारीरिक व्याधि का उपाय चिकित्सा से और मानस दुःखों की शांति ज्ञान से होती है। मन के दुःखों का मूल स्नेह है। कोटर में रखी हुई अग्नि जैसे समूल वृक्ष को जला देती है, वैसे ही थोड़ा-सा राग भी धर्मार्थी को नष्ट कर डालता है। जो ज्ञानी हैं वे राग से अभिभूत नहीं होते। राग के कारण तृष्णा बढ़ती है और वह बढ़ती हुई मनुष्य को सदा चिंताओं में डाल देती है। तृष्णा प्राणान्तक रोग है। तृष्णा का आदि-अन्त नहीं। निर्बुद्धि मनुष्य अपने भीतर उत्पन्न

हुए लोभ से नाश को प्राप्त हो जाता है। हे युधिष्ठिर, संतोष ही परम सुख है और सब अस्थिर है, इसलिए तुम तृष्णा को वश में रखना।"

सूर्य का वरदान

इस उपदेश में युधिष्ठिर का मन इस समय क्या लगता! उन्हें तो यही चिन्ता सता रही थी कि साथ में चलते हुए इन ब्राह्मणों के भोजन आदि का प्रबन्ध कैसे हो। युधिष्ठिर ने अपने पुरोहित धौम्य से पूछा, "महाराज, मैं ऐसी स्थिति में क्या करूं ?"

धौम्य ने सूर्य के १०८ नाम बताते हुए उसकी आराधना करने का परामर्श दिया। युधिष्ठिर ने तप द्वारा सूर्य को प्रसन्न किया और सूर्य ने प्रसन्न होकर वरदान दिया, "तुम्हारे चौके में अक्षय अन्न रहेगा।" युधिष्ठिर ने नियम लिया कि ब्राह्मणों को और अपने भाइयों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करेंगे। इसी प्रकार द्रौपदी ने नियम किया कि युधिष्ठिर को भोजन कराने के बाद वह स्वयं भोजन करेगी।

सूर्य के वरदान में द्रौपदी को एक तांबे की अक्षय बटलोई मिलने का उल्लेख नीलकंठ के संस्करण में पाया जाता है, किन्तु पूना के संस्करण में वह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है।

विदुर पर क्रोध

उधर पाण्डवों के चले जाने पर धृतराष्ट्र का मन कुछ सोचकर बेचैन हो गया। उन्होंने विदुर से कहा, "हे विदुर, कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवों के प्रति हमारे व्यवहार से क्रुद्ध पुरवासी हमें जड़ से उखाड़ दें। इसलिए बताओ, हम क्या करें।"

इस प्रश्न में धृतराष्ट्र के मन में छिपा हुआ खुटका साफ दिखाई पड़ता है। प्रश्न सुनकर विदुर भी पहले तो ठिठके, फिर कहने लगे, "हे राजन्, धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का मूल भी धर्म है; राज्य का मूल भी धर्म है। वह धर्म तो सभा में अक्षद्यूत के समय लुप्त हो गया। तुम्हारी उस करतूत का अब एक ही उपाय मेरी समझ में आता है, जिससे तुम्हारे उस पापी पुत्र को लोग पुनः साधु समझने लगें। तुमने पाण्डवों को जो राज्य

और भूमि पहले दी थी वह उन्हें फिर प्राप्त हो, यही तुम्हें करना चाहिए। मैंने पहले ही तुमसे दुर्योधन का त्याग करने के लिए कहा था, किन्तु तुमने माना नहीं। अब इस हित-वचन को न मानोगे तो पीछे पछताओगे। तुम युधिष्ठिर को पुनः उनका राज्य दे दो। तुमने पूछा, इसलिए मैंने यह कहा है।"

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया, "हे विदुर, तुम्हारा यह कहना मेरे गले नहीं उतरता। इससे पांडवों का हित होगा और मेरे पुत्रों का अहित। मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम हमारे हितू नहीं रहे। मैं पांडवों के लिए अपने पुत्रों को कैसे छोड़ दूं ? हे विदुर, मैं तो तुम्हारा इतना आदर करता हूं, पर तुम टेढ़ी बात ही करते हो। तुम्हारा जहां मन हो, चले जाओ या यहां रहो। असती स्त्री को जितना भी मनाओ, वह अन्त में छोड़ ही जाती है। यही तुम्हारी दशा है।" इतना कहकर धृतराष्ट्र क्रोध से कांपते हुए एकाएक उठे और अन्तःपुर में चले गए। इधर विदुर भी "बात ऐसी नहीं है" कहते हुए पांडवों के पास चल दिये।

उधर पांडव बनवास के विचार से गंगा के किनारे बढ़ते हुए कुरुक्षेत्र की ओर अभिमुख होकर यमुना और दृषद्वती पार करते हुए सरस्वती के पास जा निकले। यह इलाका जंगलों से भरा हुआ था, इसे ही कुरु-जांगल कहते थे। सरस्वती का किनारा दक्षिण की ओर जहां रेगिस्तान को छूता है, वहीं काम्यक् वन था, जो अब कामां कहलाता है। विदुर उसी काम्यक वन में पांडवों के पास जा पहुंचे। उन्हें देखकर पहले तो युधिष्ठिर डरे, "कहीं फिर यह कोई अक्ष-द्यूत जैसी उपाधि का संदेश लेकर तो नहीं आया? "कहीं क्षुद्र शकुनि ने कपट से हमारे हथियार हर लेने का व्यौंत तो नहीं बांधा ? भीमसेन, यदि ऐसा हुआ तो क्या होगा ? द्यूत की चुनौती पाकर मैं फिर उससे मुंह न मोड़ सकूंगा। कहीं यदि गांडीव चला गया तो सदा के लिए राज्यप्राप्ति से हाथ धोना पड़ेगा।"

कुछ देर बाद आश्वस्त होकर बैठने पर उन्होंने विदुर से आने का कारण पूछा। विदुर ने बताया, "तुम्हारे चले आने पर धृतराष्ट्र ने मुझसे अपने लिए हितकर बात पूछी। मैंने कहा, 'पांडवों का हित करने से ही तुम्हारा हित होगा।' किन्तु रोगी को पथ्य अन्न की तरह मेरा यह कहना

उसे अच्छा न लगा। कौरवों का नाश निश्चित है। क्रोध से बौखलाकर धृतराष्ट्र ने मुझसे कह दिया, 'जहां मन की साध हो, वहां चले जाओ। मुझे अब तुम्हारी सहायता नहीं चाहिए।' यों धृतराष्ट्र से छुटकारा हुआ तो मैं तुरन्त तुम्हारे पास आया हूं। मैंने जो सभा में कहा था, वही फिर कहता हूं। शत्रुओं से सताये जाकर जो क्षमावृत्ति से समय की प्रतीक्षा करता है, वही पृथिवी का राज्य भोगता है।"

युधिष्ठिर ने कहा, "हे विदुर, जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करूंगा।"

२० :: मैत्रेय ऋषि का शाप

इधर विदुर के चले जाने के बाद धृतराष्ट्र उन्हें याद करके छटपटाने लगे। दौड़कर सभा के द्वार तक आये और विदुर को न पाकर लड़खड़ा कर गिर गए। उठाये जाने पर संजय से बोले, "हाय, मेरा भाई सुहृत्, साक्षात धर्म, वह विदुर कहां गया? संजय, जाओ और उसका पता लगाओ। कहीं मुझसे अपमानित होकर वह अपना प्राण न त्याग दे! उसे मनाकर शीघ्र यहां ले आओ।"

"अच्छा!" कहकर संजय भागे हुए काम्यक वन पहुंचे और वहां उन्होंने विदुर को पांडवों के साथ बैठे हुए देखा। पूछे जाने पर संजय ने कहा, "विदुर, धृतराष्ट्र तुम्हारे लिए व्याकुल हैं। उन्हें चलकर देखो और होश में लाओ।"

यह सुनकर विदुर युधिष्ठिर की अनुमति से पुनः हस्तिनापुर लौट आये। मिलने पर धृतराष्ट्र आनन्द-विभोर होकर लिपट गए और बोले, "हे विदुर, तुम सचमुच आ गए! मैंने रोष से जो कहा, उसे क्षमा करो।"

इस प्रकार के पिलपिले व्यक्ति से विदुर क्या कहते! बोले, "हे राजन्, मैंने क्षमा किया। आप हममें बड़े हैं। इसी से मैं आपके दर्शन के लिए जल्दी लौट आया। धर्मचेता पुरुष दीनों की ओर झुकते हैं। पांडु के पुत्र और तुम्हारे पुत्र दोनों मेरे लिए एक-समान हैं। किन्तु पांडव दीन हैं, अतएव मेरा मन उनकी ओर झुकता है।"

कर्ण की सलाह

विदुर को लौटा हुआ जानकर और धृतराष्ट्र के साथ फिर मेल की बात सुनकर दुर्योधन ने शकुनि, कर्ण और दुःशासन से कहा, "धृतराष्ट्र का यह खोटा मंत्री फिर आ गया है। राजा की बुद्धि उसके कारण कहीं फिर न चकरा जाय और वह पांडवों को बुला भेजें। तबतक कोई हितकारी युक्ति निकालो। पांडव फिर लौटे नहीं कि मैं सूखकर कांटा हो जाऊंगा या जान खो दूंगा।"

शकुनि ने कहा, "क्यों बच्चों की-सी बातें करते हो? पाण्डव सत्यवादी हैं, शर्तों का पालन करेंगे। तुम्हारे पिता के बुलाने पर भी वे न आयंगे, और यदि आ भी गए तो मेरा पांसा तो कहीं चला नहीं गया।"

दुःशासन ने मामा शकुनि के वचन का समर्थन किया। कर्ण ने कहा, "मेरा भी इसमें एकमत है।" पर दुर्योधन का मन इन सूखी बातों से खिला नहीं। उसने मुंह फेर लिया। कर्ण ने उसकी नब्ज पहचान ली और क्रोध से प्रचण्ड होकर कहा, "हम लोग राजा दुर्योधन के हाथ-बांधे गुलाम हैं। जबतक हाथ-पैर न हिलायंगे, उनको प्रसन्नता न होगी। मेरा मत है कि हम सब हथियार लेकर चलें और वन में पांडवों को ठिकाने लगा दें। उनके ठंडे हो जाने पर सब झगड़ा निपट जायगा।"

कर्ण की यह बात सुनते ही उनके मुख से 'वाह-वाह' निकल पड़ी और तीनों गुट बनाकर पांडवों का नाश करने के लिए निकले।

वेदव्यास का आगमन

इधर व्यासजी को उनके इस षड्यन्त्र का पता लगा। उन्होंने धृतराष्ट्र से आकर कहा, "हे राजन्, मैं जो सबके हित की बात कहता हूं, उसे सुनो। पांडवों का वन में जाना अच्छा नहीं हुआ। छल से उन्हें जीता गया। तेरह वर्ष पूरे होने पर उनके क्रोध की फुफकारें कौरवों पर छूटेंगी। तुम्हारा यह पापी पुत्र उन्हें मरवाना चाहता है। इसे बरज लो, अथवा इसे अकेले वन में निकाल दो। वहां भटकेगा, तो सम्भव है, इसके मन में पांडवों के लिए प्रेम का अंकुर फूट निकले।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "भगवन्, मुझे भी वह जुए का कांड अच्छा नहीं

लगा। मैं समझता हूं कि ब्रह्मा ने हठात् वह सब करा लिया। भीष्म, द्रोण, विदुर, गांधारी, कोई भी उसे अच्छा नहीं समझता था। यह सब जानकर भी पुत्र-स्नेह से मैं दुर्योधन को नहीं छोड़ सकता।"

व्यास ने गम्भीर होकर कहा, "हे विचित्रवीर्य के पुत्र, तुम सत्य ही कहते हो। पुत्र बड़ी चीज है, उससे बढ़कर कुछ नहीं। इस विषय में मुझे एक पुरानी बात याद आती है। एक समय स्वर्ग की सुरभि गौ के नेत्रों से आंसुओं की धारा बहने लगी। इन्द्र ने उससे कारण पूछा तब उसने कहा, 'हे देवेन्द्र, आपकी कोई त्रुटि नहीं है। पृथिवी पर फैले हुए अपने पुत्रों के शोक से मैं रो रही हूं। इस निष्ठुर किसान को देखो—मेरे दुर्बल पुत्र को, जो हलके-भारी बोझ से पिसा जाता है, किस प्रकार नुकीली आर चुभा-चुभाकर मार रहा है। एक तो थके हुए, दूसरे इस प्रकार मार खाते इसे देखकर मेरा मन घबड़ा गया है। हे इन्द्र, देखो, बोझे से लदे हुए उस छकड़े को मेरे दो पुत्र खींच रहे हैं। एक बली है, कितने भारी बोझ को ढो रहा है। दूसरा निर्बल ठठरीमात्र है, वह बोझ के भार से घिसट रहा है। उसे चाबुक की मार और आर की कोंच सहते हुए देखकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता है। उसीके दुःख से दुःखी मैं करुणा से आंसू बहा रही हूं।' इन्द्र ने कहा, 'हे गौ, तेरे हजारों पुत्रों को इसी प्रकार पीड़ा सहनी पड़ती है। इस एक पुत्र के लिए तू इतना दुःख क्यों करती है?' गौ ने कहा, 'यदि मेरे सहस्र पुत्र भी हों तो मेरे लिए सब बराबर हैं, किन्तु जो दीन है, मेरे हृदय में उसीकी अधिक चोट है।' गौ की बात सुनकर इन्द्र का हृदय पिघल गया और उसने समझ लिया कि पुत्र प्राण से अधिक प्रिय होता है। इन्द्र ने चट मूसलाधार मेघ बरसाया और किसान की मार से बैल को छुटकारा मिला। इसलिए हे धृतराष्ट्र, मैं कहता हूं कि अपने सब पुत्रों पर समान भाव रखो। उनमें जो दीन हैं, उनपर अधिक कृपा करो। यदि चाहते हो कि सब कौरव-पांडव फूलें-फलें तो दुर्योधन से कहो कि पांडवों से मेल कर ले।"

धृतराष्ट्र ने कहा, "हे महाप्राज्ञ, आप जैसा कहते हैं, उसे मैं भी ठीक समझता हूं। विदुर, भीष्म, द्रोण ने भी ऐसा ही कहा था। यदि आपकी मुझपर कृपा है तो आप ही दुर्योधन को क्यों न समझा दें?"

व्यास ने मन में सोचा होगा कि यह अच्छी बला गले पड़ी। उस दुष्ट

के मुंह कौन लगे ! पर ऊपर से बोले, "हे राजन्, देखो, यह मैत्रेय ऋषि पांडवों से मिलकर हम लोगों से मिलने आ रहे हैं। वह दुर्योधन को समझा सकेंगे। जो यह कहें, वही करना। यदि वैसा न हुआ तो यह तुम्हारे पुत्र को शाप भी दे सकते हैं।"

मैत्रेय का शाप

व्यास यह कहकर चले गए और मैत्रेय आ गए। धृतराष्ट्र ने उनसे बात चलाकर पांडवों की कुशल पूछी। मैत्रेय ने कहा, "मैं तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में कुरु-जांगल गया था। वहां काम्यक वन में युधिष्ठिर से मिला। वहां मुझे जुए के अनर्थ की बात ज्ञात हुई। तुम्हारे और भीष्म के रहते हुए पुत्रों का यह विरोध उचित नहीं। सभा में जो कुछ हुआ, वह दस्युओं का आचरण था, उससे तुम्हारी शोभा नहीं बढ़ी। निग्रह और दंड की थूनी तुम्हीं हो। क्यों घोर अनर्थ की उपेक्षा करते हो ?"

तब मैत्रेय ऋषि कोमल वाणी से दुर्योधन को भी समझाने लगे, "हे महाबाहु, तुम्हारे हित के लिए जो कहता हूं, सुनो। पांडवों से द्रोह मत करो। वे बड़े शूर और विकराल युद्ध करनेवाले हैं। कृष्ण उनके सम्बन्धी हैं। युद्ध में कौन उनके सामने ठहर सकता है ? मेरा कहा मानो, मौत के मुंह में मत कूदो।"

मैत्रेय के इस प्रकार समझाने से दुर्योधन पर क्या असर होता ! वह अपनी जांघ ठोककर मुस्कराने लगा। इसपर मैत्रेय आग-बबूला हो गए और उन्होंने अंजलि में जल उठाकर दुर्योधन को शाप दे डाला, "तुम इस अभिमान का फल जल्दी ही भोगोगे। युद्ध में बली भीम गदा से तुम्हारी इस जंघा को तोड़ डालेगा।" फिर कुछ झेंपकर धृतराष्ट्र की ओर देखकर बोले, "यदि तुम्हारा पुत्र मेल कर लेगा तो मेरा शाप सच्चा न होगा।"

किर्मीर-वध

मैत्रेय ने भीम के बल का बखान करते हुए उसे हिडिम्ब, बक और किर्मीर का मारनेवाला बताया। इसपर धृतराष्ट्र ने किर्मीर के विषय में जानना चाहा। मैत्रेय रूखे भाव से यह कहकर चल दिये कि तुम लोग

हमसे प्रीति नहीं करते। तब धृतराष्ट्र ने विदुर से वह कथा पूछी।

किर्मीर कोई जंगली जाति का प्राणी था। उसे राक्षस कहा गया है। वह बक का भाई और हिडिम्ब का मित्र था। उसकी बस्ती काम्यक वन में बच गई थी। उसके पास धनुष-बाण आदि लड़ने के साधन न थे। अतएव जलती हुई लकड़ी या डंडे से ही उसने युद्ध किया। घोर बाहु-युद्ध में भीम ने उसे रगड़कर मार डाला। उसके बाद पांडव द्वैत वन में चले गए। द्वैत वन काम्यक वन का ही एक भाग था। कामा-डीग के इलाके में यह पुराना वन होना चाहिए।

पांडवों की इस विपत्ति का समाचार उनके मित्र बांधवों में फैल गया। वृष्णियों के साथ कृष्ण भी क्रोध से उत्तप्त हो वहां पहुंचे। उन्होंने अपनी धीर वाणी को गुंजाते हुए कहा, "दुःशासन, कर्ण, शकुनि और दुर्योधन के रक्त की प्यासी यह भूमि अवश्य तृप्त होकर रहेगी। तब हम धर्मराज का अभिषेक करेंगे। जो कपट और दुष्टता का व्यवहार करे, वह वध्य है। यही सनातन नियम है।"

श्रीकृष्ण के पराक्रमों की सूची

अर्जुन ने कृष्ण को इस प्रकार विचलित देखकर उन्हें शान्त करना चाहा और वह उनके पराक्रमों का बखान करने लगा।

कृष्ण के पराक्रमों की सूची यहां (१३।१०-३६) और दो बार उद्योग पर्व में आई है। वहां एक बार तो विदुर ने ही दुर्योधन से (उद्योग १२८।४१-५०) और दूसरी बार संजय ने अर्जुन के शब्दों को उद्धृत करते हुए उसका उल्लेख किया है (उद्योग ४७।६८-८०)। अर्जुन के कहे हुए दोनों वर्णन पंचरात्र भागवतों के प्रभाव के अन्तर्गत निर्मित हुए। इनमें नर-नारायण का एक साथ उल्लेख है और स्पष्ट रूप से कृष्ण को विष्णु का अवतार और विराट पुरुष कहा गया है।

इन तीनों सूचियों को मिलाकर देखने से कृष्ण के जीवन की लीलाएं कुछ इस प्रकार सामने आती हैं: बचपन में उन्होंने पूतना का वध किया, गौओं की रक्षा के लिए गोवर्द्धन धारण किया और अरिष्ट, धेनुक, अश्वराज केशी, महाबल चाणूर और कंस का वध किया। बड़े होने पर उन्होंने

जरासंध, दंतवक्र, शिशुपाल, बाणासुर-जैसे बली राजाओं को मारा। इसी प्रकार प्राग्ज्योतिष-दुर्ग में भौम नरकासुर का नाश किया और निर्मोचन में मुर का वध किया। एक ओर गन्धार देश में राजा नग्नजित के पुत्रों को मथ डाला, दूसरी ओर दक्षिण दिशा में पांड्यकवाट नगर के अधिपति पांड्य राजा को एवं कलिंग की राजधानी दन्तकूर में वहां के राजा को मर्दित किया। निषादराज एकलव्य का वध किया एवं शाल्वराज से युद्ध करके उसकी शतघ्नी छीन ली। जारूथी नगरी में आहुति को मारा तथा क्राथ, भीमसेन, शैव्य, शतधन्वा, इन्द्रद्युम्न और कशेरुमान यवन का वध किया। दूसरे पराक्रमों में भोज्या रुक्मिणी का अपहरण किया, स्वर्ग से पारिजात-हरण करके इन्द्र को जीता (उद्योग १२८।४८) और विनाथा वाराणसी का वर्षों तक दहन किया।

श्रीकृष्ण की तपश्चर्याएं

इनके अतिरिक्त विदुर ने कृष्ण की तपश्चर्याओं का जो उल्लेख किया, वह अभूतपूर्व है, "हे कृष्ण, तुमने पूर्व समय में गंधमादन पर्वत पर अनिकेत रूप में विचरण किया। जहां संध्या होती, वहीं तुम टिक रहते, यही तुम्हारा नियम था। पुष्कर-तीर्थ में केवल जल पीते हुए तुमने बहुत समय तक तप किया। विशाला बदरी में एक पैर से खड़े होकर और केवल वायु पीकर तुम तप करते रहे। सरस्वती के तट पर बारह वर्षों तक तुमने ऐसा किया कि उत्तरासंग छूट गया और शरीर की कृशता से एक-एक धमनी दिखाई देने लगी। प्रभास क्षेत्र में जाकर नियम धारणकर एक पैर से खड़े हुए तुम तप करते रहे। कृष्ण, तुम तप के निधान, सनातन यज्ञ, क्षेत्रज्ञ और सब भूतों के आदि-अन्त हो।" और भी कृष्ण की महिमा में अनेक अतिमानवी विशेषण दिये गए हैं। वरुण और अग्नि को जीतने एवं मधु-कैटभ और हयग्रीव के वध का उल्लेख भी उद्योग पर्व (अ० १२८) में है।

हम देखते हैं कि कृष्ण-चरित के कई पहलू इन सूचियों में उभर आए हैं। एक ओर उनकी बाल-लीलाओं का और दूसरी ओर बड़े होने पर अनेक अत्याचारी राजाओं से भिड़न्त करते हुए उनके राजनैतिक जीवन की घटनाओं का उल्लेख है। तीसरी ओर उनके ईश्वरीय रूप का उपबृंहण

है। इस वर्णन में पंचरात्र भागवत धर्म की छाप स्पष्ट है, "हे कृष्ण, तुम अदिति के पुत्र हो, इन्द्र के छोटे भाई हो, तुम विष्णु हो। बालपन में ही तुमने द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को तीन पैरों से नाप लिया। युगान्त में सब भूतों का संहार करके आत्मा में जगत् को आत्मसात् करके तुम स्थित होते हो। तुम्हारे जैसे कर्म पूर्व या अपर काल में कोई नहीं कर सका। तुम ब्रह्म के साथ वैराज लोक में निवास करते हो।"

अर्जुन के इस अतिमानवी वर्णन पर भागवत धर्म की दुहरी छाप लगाने के लिए स्वयं कृष्ण के मुंह से यहां कुछ विशिष्ट वाक्य कहलाये गए हैं, "हे पार्थ, तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूं। जो मेरे हैं, वे ही तुम्हारे हैं। जो तुम्हारा द्वेषी है, वही मेरा द्वेषी है। जो तुम्हारा अनुगत है, वही मेरा अनुगत है। तुम नर हो, मैं नारायण हूं। उस लोक से हम दोनों नर-नारायण ऋषियों के रूप में इस लोक में आये हैं। मैं तुमसे और तुम मुझसे अभिन्न हो। हम दोनों में कोई भेद नहीं जाना जा सकता।"

उद्योग पर्व में भागवतों के इस दार्शनिक तत्त्व को और भी शक्तिशाली सूत्र में कहा गया है :

नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्। (उद्योग ४८।२०)

अर्थात् 'एक ही सत्त्व या चैतन्य नारायण और नर इन दो रूपों में प्रकट हुआ है।' गुप्त काल में और उससे पूर्व सात्वत, भागवत, नारायणीय, एकान्तिन् इत्यादि भागवतों के अनेक भेद थे। उनकी दार्शनिक और धार्मिक विशेषताओं और पारस्परिक विभिन्नताओं का अभीतक कोई अध्ययन नहीं हुआ। महाभारत और गुप्त युग के वैष्णव आगमग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से इस विषय पर प्रकाश पड़ने की आशा है। भारत के धार्मिक इतिहास की कितनी ही कड़ियां महाभारत के कथा-प्रवाह और वर्णनों के पीछे छिपी हुई हैं। उनका उद्घाटन ही महाभारत का सच्चा सांस्कृतिक अध्ययन हो सकता है।

मोटे तौर पर ऐसा विदित होता है कि भगवान् वासुदेव एवं संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की व्यूहात्मक उपासना प्राचीन सात्वतधर्म की विशेषता थी। तूसम से प्राप्त गुप्तकालीन शिलालेख में सात्वत सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है। बाण ने भागवत और पांचरात्रिक इन दो सम्प्रदायों

का अलग-अलग वर्णन किया है। इनमें से पहले के सात्वत ही बाण के समय में भागवत कहलाये। वे कृष्ण की बाल-लीलाओं पर अधिक बल देते थे। दूसरे पांचरात्रिकों का सम्बन्ध नर-नारायण की उपासना से अधिक था। शेषशायी विष्णु एवं नृसिहवराह की कल्पना के साथ उनका विशेष सम्बन्ध था। आगे चलकर ये दोनों एवं और भी वैखानस, एकान्ती, शिखी आदि वैष्णव सब भागवत इस एक शब्द के भीतर विलीन हो गए। उन्हीं का सामूहिक धर्म-ग्रंथ वर्तमान भागवत है।

मूल महाभारत का एक संस्करण पंचरात्रों के प्रभाव के अन्तर्गत भी तैयार किया गया। कृष्ण के पराक्रमों का प्रकरण उसी समय मूल ग्रंथ में सम्मिलित किया गया।

२१ : : श्रीकृष्ण का आश्वासन

जब अर्जुन और कृष्ण नर-नारायण के रूप में अपने प्राचीन सम्बन्धों का स्मरण कर रहे थे, तब दुखियारी द्रौपदी शरणार्थिनी हो कृष्ण के पास आई। अपने लम्बे कथन में द्रौपदी ने पहले तो अर्जुन के स्वर में स्वर मिलाते हुए कृष्ण के उस स्वरूप का वर्णन किया, जहां मानव के दुःख-सुख का स्पर्श नहीं है :

"हे दुर्धर्ष, तुम विष्णु हो, तुम्हीं यज्ञ हो, तुम्हीं यष्टा और यष्टव्य हो। यह जामदग्न्य का मत है। असित-देवल तुम्हें ही सब भूतों के स्रष्टा प्रजापति कहते हैं। ऋषियों के अनुसार तुम सत्य और क्षमा हो। नारद तुम्हें ही सर्वेश्वर कहते हैं। तुमने सिर से द्युलोक को और पैरों से पृथिवी को व्याप्त कर रखा है। तुम्हीं प्रभु, विभू और स्वयंभू हो। सूर्य, चन्द्र, आकाश नक्षत्र, लोक, लोकपाल सब तुममें प्रतिष्ठित हैं।"

इसके अनन्तर द्रौपदी मानवी धरातल पर उतरकर अपने सिमटे हुए शोक को प्रकट करने लगी, "हे कृष्ण, तुम मुझे अपना समझते हो, इसलिए तुम्हें अपना दुखड़ा सुनाऊंगी। पांडवों की पत्नी, कृष्ण की सखी, धृष्टद्युम्न की बहन सभा में घसीटकर लाई गई—यह क्या हुआ? एक वस्त्र पहने

हुए स्त्रीधर्मिणी मुझ दुखिया को राजसभा में देखकर धृतराष्ट्र के पापी पुत्र हँसे—कहो कृष्ण, यह क्या हुआ ? पांडु के पांचों पुत्र, पांचाल क्षत्रिय और वृष्णि लोग क्या उस समय जीवित थे, जब कौरवों ने दासी भाव से मुझपर दृष्टि डाली ? हे कृष्ण, क्या यह सच है कि मैं भीष्म और धृतराष्ट्र की धर्मशीला पुत्रवधू हूं ? युद्ध में भुजाएं फड़कानेवाले उन महाबली पांडवों को मेरी ओर से धिक्कार है, जो क्लेश पाती हुई अपनी धर्मपत्नी को टुकुर-टुकुर देखते रहे ! धिक्कार है, भीमसेन के बल को और धनुर्धर अर्जुन के पौरुष को, जिन्होंने नीचों से मुझे अपमानित होते देखकर भी चूं न की ! सदा-सदा से यही धर्मपथ रहा है कि जो अल्पबल हैं, वे भी भार्या की रक्षा करते हैं। मैं पांडवों की शरण में गई, किन्तु उन्होंने मेरी रक्षा न की ! क्या उन पुत्रों के लिए भी, जो मेरी कोख से जन्मे हैं, मैं उन पतियों के द्वारा रक्षा के योग्य न थी ? हे कृष्ण, इतना सब करके भी यदि दुर्योधन मुहूर्त भर जीवित रहे तो धिक्कार है भीमसेन के बल को और धिक्कार है अर्जुन के गांडीव को ! इस दुर्योधन ने हमारे साथ क्या-क्या करतूतें नहीं कीं ! महाकुल में जन्म लेकर मैं पांडवों की स्त्री हुई और पांडु की पुत्रवधू, फिर भी कृष्ण, मेरे केश खींचे गए और ये पांचों पति बैठे हुए देखते रहे !"

श्रीकृष्ण का आश्वासन

इतना कहकर हाथों से मुंह ढककर द्रौपदी रोने लगी। उसके दुःख और शोक से उत्पन्न आंसू मेंह की तरह बरसने लगे। क्रोध और रुदन से उसका कण्ठ रुंध गया। फिर उसने और भी प्रचंड भाव से कहा, "हे कृष्ण, न मेरे कोई पति हैं, न कोई पुत्र हैं, न कोई भाई है, न पिता या बंधु है, तुम भी नहीं हो, जो उन क्षुद्रों से इस प्रकार मुझे इतना अपमानित देख सके। मेरे दुःख की वह अग्नि जबतक सबको न जला डालेगी, किसी प्रकार शांत न होगी। कर्ण की वह हंसी मैं कभी नहीं भूल सकती।"

द्रौपदी के ये दुःखभरे वचन सुनकर कृष्ण ने वीरों के उस समाज में कहा, "हे द्रौपदी, जिन्होंने तुम्हारा अपमान किया है, जिनपर तुम क्रुद्ध हो, शीघ्र ही उनकी स्त्रियां भी इसी प्रकार रोयेंगी। अर्जुन के बाणों से निकली हुई रक्त की धाराओं में वे अवश्य डूबेंगी। पांडवों के लिए जो

आवश्यक है, मैं करूंगा, तुम शोक मत करो। मैं प्रतिज्ञा करता हूं, तुम फिर पटरानी बनोगी। आकाश चाहे गिर जाय, हिमालय चाहे टूट जाय, पृथिवी चाहे फट जाय, समुद्र चाहे सूख जाय, किंतु मेरा वचन मिथ्या न होगा।"

कृष्ण द्यूत के समय क्यों नहीं पहुंचे ?

इतना कहकर कृष्ण पांडवों की ओर अभिमुख हुए, "हे युधिष्ठिर, यदि मैं उस समय द्वारका में होता तो बिना बुलाये भी द्यूत-सभा में पहुंच जाता और तुम्हें यह कष्ट न देखना पड़ता। सब लोगों को द्यूत के दोष समझाकर मैं उसे रोक देता। मेरे समझाने से यदि धृतराष्ट्र मान जाते तो कौरवों का हित और धर्म की रक्षा होती। यदि न मानते तो मैं उन सबको बलपूर्वक मनाता और पासों को तोड़कर फेंक देता। किंतु मैं उस समय द्वारका से आनर्त (उत्तरी गुजरात) की ओर गया हुआ था। मुझे तो द्वारका में लौटने पर तुम्हारी विपत्ति का हाल पीछे मालूम हुआ। सुनते ही मैं उद्विग्न मन से शीघ्र ही यहां चला आया। सचमुच आप सब पर बड़ी विपत्ति पड़ी।"

युधिष्ठिर के पूछने पर कि आप उस समय द्वारका में क्यों नहीं थे, कृष्ण ने बताया कि वह शाल्वराज से युद्ध करने के लिए आनर्त देश में स्थित उसकी राजधानी सौभनगर चले गए थे। बात यह हुई कि जब कृष्ण ने शिशुपाल का वध किया और वह इन्द्रप्रस्थ से लौटकर घर भी न पहुंच पाये थे, तभी शाल्व ने अपने बंधु शिशुपाल की मृत्यु का बदला लेने के लिए द्वारका पर चढ़ाई कर दी और वहां के नागरिक जीवन को अस्तव्यस्त करके एक विध्वंस मचा दिया। लौटने पर कृष्ण को सब हाल मालूम हुआ और उन्होंने सौभ पर चढ़ाई करके शाल्व को उसके सहायकों के साथ परास्त कर दिया।

द्वारका की सैनिक तैयारी

द्वारका की जो सैनिक तैयारी थी, उसका इस प्रसंग में अच्छा वर्णन किया गया है। जो द्वारका का हाल था, वही प्रत्येक जनपद की राजधानी का था। ये राजधानियां अपने-अपने यहां दुर्ग के रूप में भी प्रतिष्ठित थीं। यूनान के पुर-राज्यों में दुर्गरूपी नगर (एक्रोपोलिस) की रक्षा के लिए नागरिक अपने प्राणों की बाजी लगा देते थे। हेरोक्लाइत का कहना था कि जनता को अपने कानून और अपने नगर की दीवारों के लिए समान भाव से लड़ना

चाहिए। यूनान के पुर-राज्यों से कहीं अधिक विस्तृत शक्तिशाली तथा देश और काल में दीर्घजीवी भारत के जनपद-राज्य थे, जिनका तांता कम्बोज से कलिंग तक फैला हुआ था। यहां भी जनपद की रक्षा का नागरिकों की दृष्टि में अत्यधिक महत्व था। इसे जनपद-गुप्ति कहा जाता था।

'कथं रक्ष्यो जनपदः?' (शांति० ६९।१) यह प्रश्न जनपद की भक्ति रखने वाले नागरिकों के सम्मुख सदा रहता था एवं रक्षा के लिए दुर्ग, गुल्म, संक्रम (पुल), द्वार, परिखा, प्राकार, आयुधागार, धान्यागार, भाण्डागार, अश्वागार, गजागार आदि अनेक साधन तैयार रखे जाते थे। नगर को ऐसा सुगुप्त बनाया जाता था कि समय पड़ने पर स्त्रियां भी पुरुषों की भांति मोर्चा ले सकें। गंधार प्रदेश में वीर आश्वकायनों के सुवास्तु क्षेत्र में यूनानियों ने जैसे ही पैर रखा, उन्हें मशकावती और वरणा इन दो दुर्गों की अभेद्य गुप्ति का परिचय मिल गया, जहां स्त्रियों ने भी डटकर लोहा लिया।

युद्ध के समय जब शाल्व ने द्वारावती का घेरा डालकर (अरुन्धन्) उसको चारों ओर से छेक लिया (व्यूह्य विष्ठितः), तब द्वारका के तत्कालीन रक्षक ने 'सर्वाभिसार' युद्ध की घोषणा कर दी। नगर के चारों ओर कोस भर भूमि खोदकर ऊंची-नीची कर दी गई। (समन्तात्क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः १६।१६); पुल (संक्रम) तोड़ दिये गए; नावों का चलना बन्द कर दिया गया; बिना आज्ञापत्र के न कोई भीतर से बाहर जा सकता था और न किसीको बाहर से भीतर प्रवेश करने दिया जाता था (न चामुद्रोभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते)। नगर में घोषणा हुई कि कोई सुरापान न करे, क्योंकि प्रमादग्रस्त नागरिकों पर शत्रु के आक्रमण का भय था। सेना को पिछला वेतन और भोजन दे दिया गया; सबको हथियार और सैनिक वेश से सज्जित कर दिया गया। सेना में घोषणा हो गई कि वीरता के कार्य करनेवाले पुरस्कृत होंगे। नगर के गोपुर, उनमें बने हुए अट्ट और अट्टालक, आने-जाने की पौरें (प्रतोली), उनके साथ बने हुए मंच (उपतल्प) बड़े फाटकों में लगे हुए भुईनासी ताले (यन्त्र-खनक), हुड़के (हुड़) और गरारियां (चक्र) जिनपर किवाड़ें दौड़ती थीं— इन सबका पक्का प्रबंध करके नगर की रक्षा की गई। इसके अतिरिक्त शतघ्नी लाङ्गल (हल नामक लोहे का हथियार), भुशुण्डि, पत्थर के गोले (अश्मगुड़क), कचग्रहणी

(बाल पकड़कर खींच लेने वाले यंत्र), जलते हुए लुआठे और शोले फेंक-कर शत्रु-सेना में प्रलय मचाने वाले (उल्कालातावपोथिका), उष्ट्रिका, हुड़श्रृंगी इत्यादि अनेक आयुधों से दुर्ग को सुगुप्त कर दिया गया। वृष्णि सैनिकों की चुनी हुई टुकड़ी (मध्यम-गुल्म) ने, जिसमें प्रसिद्ध कुलों के वीर थे, मुख्य रक्षा का भार अपने हाथों में लिया। आवश्यकतानुसार मोर्चों पर पहुंचकर मार करनेवाली टुकड़ियां (उत्क्षिप्त गुल्म), सवार और पैदल अपने-अपने स्थानों पर सावधान होकर डट गए। युद्ध के समय धन की अधिक-से-अधिक बचत की जाय, इस दृष्टि से नट, नर्त्तक और गवैयों को दुर्ग से बाहर भेज दिया गया। द्वारका की रक्षा का यह प्रबंध शास्त्रदृष्ट विधि से किया गया। ज्ञात होता है कि महाजनपद युग में दुर्ग-गुप्ति के विषय पर विशेष ग्रन्थों की रचना हुई थी। उनका कुछ आभास कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है।

शाल्व की चढ़ाई

उधर सौभपति शाल्व ने अपनी चतुरंगिणी सेना से द्वारका का वेग-पूर्वक घेरा डाला। उस अभियान को न सह सकनेवाले वृष्णिकुमार नगर से बाहर निकल-निकल कर युद्ध करने लगे। युद्ध के प्रसंग में कई बार कहा गया है कि शाल्व ने माया से युद्ध किया। दारुण आसुरी माया शाल्वराज की विशिष्टता थी। संभवतः यह दुर्गयुद्ध की रीति थी, जो असुर-जातियों की विशेष विधि थी। अनुमान होता है कि शाल्वजाति का संबंध भारत के बाहर के किसी ऐसे देश से था, जहां माया-युद्ध का प्रचार था। शाल्वों के संबंध में प्राप्त कुछ अन्य संकेतों से ज्ञात होता है कि वे प्राचीन ईरान से संबंधित थे, जो सिंध राजस्थान के मार्ग से भारत में आए और राजस्थान के मध्य और उत्तरी प्रदेश में बस गए। यहीं से वे पूर्व में मथुरा की ओर और दक्षिण में द्वारका की ओर अभियान करते रहते थे। कृष्ण ने उनके इस गुट्ट को तोड़ा। उनके मायायुद्ध के कारण ही संस्कृत साहित्य में सौभ-नगर और सौभिक इन दोनों का संबंध माया या इन्द्रजाल के साथ जुड़ गया। कृष्ण ने आगे बताया कि द्वारका के उस युद्ध में प्रद्युम्न ने इतनी वीरता से लोहा लिया कि शाल्व के पैर उखड़ गए और वह घेरा उठाकर

उलटे पांव सौभ को लौट गया।

राजसूय-यज्ञ से वापस आकर कृष्ण ने द्वारका को क्षत-विक्षत पाया। स्त्री-पुरुष घबराये हुए थे। स्वाध्याय और यज्ञ बन्द हो गए थे। उपवन उजड़ गए थे। नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। यह देखकर कृष्ण उत्तप्त हो गए और कृतवर्मा से द्वारका के रोध और मोक्ष का विस्तृत हाल जानकर शाल्व के विनाश का संकल्प करके मृत्तिकावती पर चढ़ दौड़े। वहां घोर युद्ध के बाद शाल्वराज मारा गया। यही कारण था कि अन्यत्र युद्ध में फंसे हुए कृष्ण द्यूत के समय हस्तिनापुर न पहुंच सके थे।

इतना वृत्तान्त सुनाकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से विदा ली। सुभद्रा और अभिमन्यु को भी उन्होंने अपने साथ रथ पर बैठाया और द्वारका की ओर चल दिये। धृष्टद्युम्न अपने भानजों को साथ ले गया। शिशुपाल का पुत्र धृष्टकेतु अपनी बहन करेणुमती के साथ, जो नकुल की पत्नी थी, चेदि की राजधानी शुक्तिमती को लौट गया। सबसे अन्त में युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को समझा-बुझाकर कठिनता से विदा किया।

२२ : : धर्म और कर्म ही गहन गति

इसके अनन्तर पाण्डव उस महाअरण्य के एक भाग में स्थित द्वैतवन नामक स्थान में पहुंचे। वहां एक बड़ा सरोवर था। वहीं पर मार्कण्डेय उनसे मिलने के लिए आये। पांडवों को उस अवस्था में देखकर मार्कण्डेय के मुख पर किसी विचार की रेखा दौड़ गई और दूसरे ही क्षण उनका चेहरा मुस्कराहट से खिल गया। यह देखकर युधिष्ठिर ने पूछा, "भगवन्, अन्य सब तपस्वी हमारी इस दशा से खिन्न हैं, आपके हँसने का क्या कारण है?"

मार्कण्डेय ने कहा, "हे तात, न मैं प्रसन्न हूं, न मैं हंसता हूं। आपकी इस आपदा को देखकर मुझे उन सत्यव्रती दाशरथि राम का स्मरण हो आया, जिन्होंने पिता की आज्ञा से भोगों को त्यागकर अपने भाई लक्ष्मण के साथ वन में निवास किया था। मैंने अनेक महानुभाव राजाओं को राज्य करते और कष्ट पाते हुए देखा है। अपनी दीर्घ आयु के अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि मनुष्य अपने को बली समझकर कभी अधर्म न करे [नेशे

बलस्येति चरेदधर्मम्] । नाभाग, भागीरथ आदि राजाओं ने सागरान्त पृथिवी को जीतकर केवल सत्य के बल से ही लोकों को वश में किया। कहते हैं, काशी और करूष के राजा अलर्क ने सारी पृथिवी को वश में कर लिया था, किन्तु उन बाणों से वे अपने मन को न बेध सके। तब मन ने उनसे कहा, 'हे अलर्क, मुझे वश में करने के लिए अन्य बाणों को खोजो।' अलर्क ने बात समझी और योगरूपी बाण से मन को वश में किया एवं अपना राष्ट्र और धन, दोनों त्यागकर तपस्वी बन गए। इसीलिए मेरा अनुभव है कि संसार में बल तुच्छ है। देखिए, विधाता ने इस विश्व में जो पुराना विधान चलाया है, उसे मानकर ही सप्तर्षि द्युलोक में चमकते हैं। मनुष्य भी उसी विधान की पूजा से प्रकाशित हो सकता है। बड़े मत्त, दन्तावल हाथी भी विधाता के उस निदेश को मानते हैं। जगत् में बल ही सबकुछ नहीं है। आपने भी सत्य और धर्म से दीप्त तेज और यश प्राप्त किया था। हे महानुभाव, वनवास के इस कष्ट को भोगकर आप पुनः अपनी उस दीप्त लक्ष्मी को प्राप्त करेंगे। बल और अधर्म सदा नहीं टिक सकेंगे।" यह कहकर मार्कण्डेय बिदा हुए।

उनके चले जाने पर द्वैतवन में रहने वाले एक दूसरे तपस्वी मुनि बक दाल्भ्य ने युधिष्ठिर को ब्रह्म और क्षत्र के परस्पर मेल का महत्व समझाया।

तदनन्तर कृष्णा के साथ बैठे हुए पांडव दुःख और शोक से भरे हुए आपस में बातचीत करने लगे। उनमें सबसे अधिक व्यथित द्रौपदी थी। कौरव सभा में अपमानित होने के बाद ज्योंही पहला अवसर मिला, उसने अपने मन का दुःख उंडेलते हुए युधिष्ठिर से कहा :

"वह दुर्योधन अत्यन्त निष्ठुर है, उसका हृदय लोहे का बना है, जो आप जैसे व्यक्ति को मृगचर्म पहनाकर वन में भेज दिया और उसके हृदय में तनिक भी संताप न हुआ। कर्ण, शकुनि, दुर्योधन, दुःशासन इन चारों पापियों की आंखों से एक भी बूंद आंसू न निकला। अन्य सब कौरवों के नेत्र उस समय दुःख के आंसुओं से भीग गए थे। महाराज किसी समय मैंने आपको सभा के बीच में हाथी दांत के बने रत्न-भूषित आसन पर बैठे हुए देखा था। आज कुशा की चटाई पर बैठे हुए देखकर मेरा हृदय शोक से रुंध जाता है। उस हृदय को शांति कहां! भीमसेन को और अर्जुन को इस दशा में देखकर भी आपके हृदय में मन्यु क्यों नहीं उत्पन्न होता? द्रुपद की

पुत्री, महात्मा पांडु की पुत्र-वधू, मुझे इस स्थिति में देखकर आपका क्रोध कहां चला गया ? यह बात मेरी समझ से बाहर है। लोक कहता है कि बिना रोष का क्षत्रिय नहीं होता। आपको तो मैं विपरीत देखती हूं। समय आने पर भी जो क्षत्रिय तेज नहीं दिखलाता, वह सर्वत्र अनादर पाता है। शत्रुओं के प्रति क्षमा उचित नहीं। पहले कभी राजा बलि ने अपने पितामह प्रह्लाद से प्रश्न किया था, 'हे तात, क्षमा श्रेयस्कर है या तेज ? सत्य कहिए।' तब प्रह्लाद ने यही उत्तर दिया था कि न सदा तेज अच्छा है, न सदा क्षमा। जो नित्य क्षमा ही जानता है, उसके भृत्य भी उसका सम्मान नहीं करते। और तो और, वह अपनी स्त्रियों की भी रक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो सदा क्रोधी बनकर दंड का प्रयोग करता है, उसके मित्र और स्वजन भी विरोधी बन जाते हैं। इसलिए न सदा मृदु होना चाहिए और न सदा तेज ही दिखाना चाहिए। समय पर मृदु और समय पर दारुण होना ठीक है। मैं समझती हूं, यह आपके तेज का समय है। कौरवों के प्रति आपका क्षमा-काल बीत गया।"

युधिष्ठिर का क्षमा और अक्रोध पर प्रवचन

द्रौपदी के ये नीति-युक्त वचन सुनकर भी धर्मराज पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने क्रोध के दुष्परिणाम और उसे बस में करने के गुणों पर उलटे द्रौपदी को उपदेश दे डाला :

"क्रोध में बहुत दोष हैं। जो प्रज्ञा से क्रोध को वश में रखता है, वही सच्चा तेजस्वी है। तेजपूर्वक बर्तने के लिए भी क्रोध का त्याग आवश्यक है। काश्यप ने क्षमा के विषय में इस प्रकार की गाथाएं कही हैं : क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है, क्षमा ही वेदों का ज्ञान है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा तप है। जो क्षमावादी हैं, वे ब्रह्मविद्, यज्ञवित् और तपस्वियों से भी ऊंचा लोक पाते हैं। यह लोक और वह लोक दोनों क्षमावान के लिए हैं। जिसने क्षमा से क्रोध को जीत लिया है, उसका स्थान सबसे उच्च है, इसलिए शांति सर्वोपरि है। अतएव, हे द्रौपदी, काश्यप की इन शान्तिवादी गाथाओं को सुनकर तुम क्रोध न करो। हे प्रिये ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, विदुर और व्यास ये क्षमा के पक्ष में हैं। वे धृतराष्ट्र

को समझायंगे और वे हमें हमारा राज्य लौटा देंगे। यदि नहीं, तो लोभ से उन्हीं का नाश हो जायगा। मैंने पहले ही समझ लिया था कि क्षमा-संबंधी विचारों की योग्यता दुर्योधन में नहीं है। मैं ही उनके योग्य हूं। अतएव मेरे ही पास क्षमा आती है।"

धर्म ने रक्षा क्यों नहीं की ?

युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर द्रौपदी हतप्रभ हो गई। उसने पहले तो ब्रह्मा को प्रणाम किया, "हा विधाता ! तुम्हारे पैर छूती हूं। तुमने इनकी बुद्धि पर कैसा परदा डाल दिया है!" फिर साहस बटोरकर वह बोली, "मैं जानती हूं, आप भीमसेन और अर्जुन को, माद्रीपुत्रोंको और मुझे भी एक बार छोड़ देंगे, पर धर्म को नहीं छोड़ेंगे। मैंने आर्योंसे सुना है—'जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है'—पर मैं देखती हूं कि आपकी रक्षा धर्म भी नहींकरता। छाया जैसे पुरुष के पीछे चलती है, आपकी बुद्धि सदा धर्म के पीछे चली है। देव, पितर, अतिथि, ब्राह्मण इन सबके प्रति आपने धर्म से व्यवहार किया है। राज्य छोड़कर वन में आगये, पर धर्म नहीं छूटा। कैसे यह हुआ कि आपकी वह धर्मिष्ठ बुद्धि द्यूत के व्यसन में फंस गई ? सोचती हूं, लोक ईश्वर के वश में है। विधाता जैसा घुमाता है, वैसा ही होता है। वह मनुष्यों को कठपुतली की तरह चलाता है। धागे से बंधा हुआ पक्षी जैसे परवश है, नाथा हुआ बैल जैसे लाचार है, वैसे ही मनुष्य आत्माधीन नहीं। धार के बीच में पड़ा हुआ वृक्ष जैसे उखड़ जाता है, वैसे ही दुःख-सुख के फेर में पड़ा हुआ अज्ञ मनुष्य भी। यह शरीर ब्रह्मा के हाथ का खिलौना है, मनुष्य अपने मन से क्या-क्या समझते हैं, और विधि क्या-क्या कर डालता है ? बालक जैसे खिलौनों से खेलता है, ऐसे ही यह सब भगवान का खेल है। माता-पिता की भांति दयार्द्र हृदय से ब्रह्मा व्यवहार नहीं करता। उसके हाथ में सबके लिए कड़ा चाबुक है। मुझे तो उस ब्रह्मा पर तरस आता है, जिसने आपको आपत्ति और दुर्योधन को सम्पत्ति दी।"

युधिष्ठिर का धर्म-पालन का आग्रह

द्रौपदी के ये वचन सुनकर युधिष्ठिर ने अपनी ही बात पर आरूढ़ रहते

हुए कहा, "हे याज्ञसेनि, तुम्हारा कथन कितना सुन्दर है, किन्तु इसके मूल में नास्तिक्य भाव भरा है। हे राजपुत्रि, क्या मैं इसलिए धर्माचरण करता हूं कि मुझे उसका फल चाहिए? देना ठीक है, इसलिए मैं देता हूं; यजन करना चाहिए, इसलिए मैं यजन करता हूं। यह तो पुरुष का कर्त्तव्य है, फल यहां मिले या न मिले। शास्त्रों को देखकर और सद्वृत्त को समझकर मेरा मन धर्म में है। स्वभाव से ही मैंने उसे पकड़ा है। जो धर्म को दुहकर उसका फल चाहता है, या धर्म का आचरण करके फिर उसे शंका की दृष्टि से देखता है, उसे धर्म का फल नहीं मिलता, वह दुर्बलात्मा है। क्या तुमने नहीं देखा कि मार्कण्डेय, व्यास, वसिष्ठ, नारद, लोमश और शुक ये धर्म का पालन करने से ही गौरव को प्राप्त हुए? इन्हें तो वेद-शास्त्र प्रत्यक्ष थे, इन्होंने धर्म को ही सबसे आगे माना। इसलिए हे कल्याणी, ब्रह्मा और धर्म पर रजोगुण के कारण आक्षेप मत करो। जो धर्म पर कुतर्क करता है, वह किस अन्य वस्तु का प्रमाण मानेगा? इंद्रियों की प्रीति से संबद्ध जो यह प्रत्यक्ष लोक-व्यवहार है, बस इतने को ही ऐसा मूर्ख सच्चा समझता है। उसके लिए और सब झूठा है। हे द्रौपदी, जसे नाव व्यापारी को समुद्र के पार ले जाती है, वैसे ही स्वर्ग के लिए धर्म के अतिरिक्त दूसरी नाव नहीं है। यदि धर्म निष्फल हुआ करता तो यह सारा जगत अथाह अन्धकार में डूब जाता। इसलिए धर्म सफल है। हम विद्याभ्यास और तप का फल अपनी आंखों से देखते हैं। कर्मों का फल अवश्य है। धर्म शाश्वत है। इसलिए हे द्रौपदी, मन से नास्तिक्य भाव दूर करो और संशय के इस कुहरे से अपना उद्धार करो। ईश्वर और ब्रह्मा पर आक्षेप मत करो। उसे समझो और प्रणाम करो।"

द्रौपदी का वीरोचित कर्म के लिए आग्रह

द्रौपदी युधिष्ठिर के इस नश्तर से ठिठकी नहीं। उसने साहस करके फिर मुंह खोला, "हे पार्थ, मैं धर्म को बुरा-भला नहीं कहती। ईश्वर और ब्रह्मा का निरादर कैसे कर सकती हूं? मैं दुखिया हूं, इसीसे कुछ प्रलाप करती हूं। फिर भी कुछ कहूंगी। आप मन से मेरी बात सुन लें। मैं तो इतना जानती हूं—जिसने जन्म लेकर मातृ-स्तन का पान किया है, उसे कर्म करना चाहिए। ईंट-पत्थरों का काम बिना कर्म के भले ही चल जाय, चेतन

प्राणी का नहीं चल सकता। सब प्राणी कर्मों का प्रत्यक्ष फल पाते हैं, लोक इसका साक्षी है। समुत्थान सब जन्तुओं के लिए आवश्यक है। जल में खड़ा हुआ यह बगुला कितना ही शांत जान पड़े, वह भी उत्थान करता है। आपको भी स्वकर्म करना चाहिए। हिमालय को भी यदि खाते रहें और उसमें जोड़ें नहीं तो वह क्षीण हो जायेगा। प्रजाएं यदि कर्म नहीं करेंगी तो चौपट हो जायंगी। लोक में जो भाग्यवादी हैं, अथवा जो हठवादी बनकर अपनी मनमानी करता है, दोनों लोक के शत्रु हैं। कर्मबुद्धि मनुष्य ही सराहनीय है। जो भाग्य का भरोसा करके निश्चेष्ट बन सुख से सोता है, वह दुर्बुद्धि जल में कच्चे घड़े की भांति दुःख पाता है। ऐसे ही जो हठबुद्धि है, कर्म में शक्त होने पर भी कर्म नहीं करता, उसकी जीवन-यात्रा अधिक दिन नहीं चलती। हठ से, दैव से और स्वभाव से जो फल मनुष्य को मिल जाता है, उसमें उसकी अपनी कुछ वाहवाही नहीं। स्वयं अपने कर्म से जो फल मिले, वही सच्चा पौरुष है। उसे ही चक्षुदृष्ट प्रत्यक्ष कह सकते हैं :

यत्स्वयं कर्मणा किञ्चित्फलमाप्नोति पुरुषः।
प्रत्यक्षं चक्षुषा दृष्टं तत्पौरुषमिति स्मृतम्॥ (३३।१६)

"मन से कार्य का विनिश्चय करके धीर व्यक्ति कर्म से जो प्राप्त करता है, वही पुरुष का अपना लाभ है। कर्मों की गिनती नहीं की जा सकती। भवन और नगरों का निर्माण पुरुष के कर्म का प्रत्यक्ष फल है। तिलों में तेल, गौ में दुग्ध, और काष्ठ में अग्नि होते हुए भी उनकी सिद्धि के लिए उपाय करना ही पड़ता है। कुशल और अकुशल दो प्रकार के व्यक्ति काम करते हैं। उनके किये हुए कर्म को देखकर तुरन्त उनकी पहचान हो जाती है। कुशल व्यक्ति विनिश्चय के साथ ही ठीक काम करता है। यदि कर्मों के मूल में पुरुष को कारण न माना जाय तो न कोई शिष्य विद्याभ्यास से गुरु बन सके और न इष्टापूर्त कर्म ही पूरे हों। कर्म करना ही चाहिए, मनु ने यह सिद्धांत पहले ही निश्चय कर दिया था (कर्त्तव्यं त्वेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः आर० ३३।३६)। प्रायः जो कर्म करता है, वही फल पाता है, आलसी कभी कुछ नहीं पाता। कर्म करके ही मनुष्य अपने दायित्व से मुक्त होता है। जो आलस्य में पड़ा रहता है, उसे अलक्ष्मी घर दबाती है। कर्मरत धीर नर बिगड़े हुए काम को भी जब उठा लेते हैं, तब अपने मुक्त-

संशय मन और कर्म से उसे पार लगा देते हैं।

"इस समय हम लोगों का काम चारों ओर से बिगड़ा हुआ है। आप यदि कर्म में मन लगायेंगे, तो अवश्य ही इस अनर्थ को भी संशयरहित बना सकेंगे। आपकी और आपके भाइयों की महिमा ऐसी है कि उससे सिद्धि अवश्य मिलेगी। औरों का काम सफल होता है, हमारा भी क्यों न होगा? जो कर्म कर चुकता है, उसका पता देर से फल प्राप्त होने पर लगता है। किसान हल से धरती को उखाड़कर बीज बो देता है और चुप बैठा रहता है। फल वृष्टि के अधीन है। मेघ यदि कृपा न करे तो किसान का दोष नहीं, क्योंकि पुरुष को जो करना चाहिए, वह कर चुका। ऐसे ही हमारा कर्म भी अफल रहा, तो हमारा अपराध नहीं कहा जायगा। कर्म करने पर दो ही बातें हो सकती हैं, सिद्धि या असिद्धि; किन्तु कर्म में प्रवृत्ति ही न होना इन दोनों से अलग है। मनुष्य को उचित है कि वह कभी निर्वेद को न प्राप्त हो, और न हिम्मत हारकर स्वयं अपनी अवमानना करे। जिसकी आत्मा बुझ गई, उसका वैभव भी रुक गया। हे भारत, लोक-संस्थिति का हेतु यही है। पहले मेरे पिता ने किसी विद्वान् ब्राह्मण को अपने यहां आश्रय दिया था। तब उसने मेरे भाइयों को शिक्षा देते हुए बृहस्पति-प्रोक्त इस नीति की शिक्षा दी थी। मैंने भी अपने पिता की गोद में बैठे हुए उनका यह संवाद सुना था। वही आपसे कह रही हूं।"

चार प्रकार के मतवाद

इस प्रसंग में महाभारतकार ने कर्म के पक्ष में प्रबल युक्तियां देते हुए जीवन में समुत्थान का प्रतिपादन किया है। यह दार्शनिक मत नियतिवादी या भाग्यवादी लोगों के उत्तर में कहा हुआ सिद्धांत था। ऊपर से सरल जान पड़नेवाले इस प्रकरण के मूल में प्राचीन दार्शनिकों के विचारों की नोंक-झोंक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। दिष्टवाद, हठवाद, स्वभाववाद और कर्मवाद इन चार मतवादों का यहां उल्लेख किया गया है। इनमें दिष्टवाद या भाग्य या नियति के माननेवाले मक्खलि गोसाल थे। बौद्ध और जैन साहित्य में विस्तार से उनके मत का वर्णन आया है। महाभारत में भी अनेक स्थानों पर उनके मत का उल्लेख किया गया है। राजा ययाति दिष्ट-

वादी थे (आदि० ८४।६,७)। धृतराष्ट्र का झुकाव भी कुछ इसी मत की ओर था। शान्तिपर्व (१७१।२-३) में और भी विस्तार से नियतिवाद का विवेचन किया गया है। ऐसे लोग अनायास और निर्वेद के माननेवाले थे, जिनका उल्लेख द्रौपदी ने किया है। साथ ही सब प्राणियों में साम्य-भाव और सत्यवाक्य, यह भी मक्खलि गोसाल के दर्शन की विशेषता थी। स्वभाववाद अजितकेश कम्बली नामक दार्शनिक का मत था। हठवाद या यदृच्छावाद सम्भवतः पूरण कस्सप का मत रहा हो। ये तीनों ही और पकुध कच्चायन भी अक्रियावादी थे।

द्रौपदी ने बृहस्पति के नाम से जिस कर्मवाद का वर्णन किया, वह बृहस्पति कौन थे, इस जिज्ञासा का सम्भावित उत्तर यह ज्ञात होता है कि लोकायत या चार्वाक दर्शन के संस्थापक बृहस्पति ही कर्मवाद के उपदेशक थे। पीछे चलकर यह दर्शन बहुत बदनाम हुआ और 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्, के अत्यन्त विकृत रूप में चार्वाक दर्शन की स्मृति बची रह गई। वस्तुतः मूल में यह दर्शन अत्यन्त लोकप्रिय था और अक्रियावादी दार्शनिकों के मुकाबले में यही दर्शन ऐसा था, जो समुत्थान, प्रयत्न एवं पुरुषार्थ के द्वारा लोक-संस्थिति और कर्मवती सिद्धि का प्रतिपादन करता था। इसी कारण यह लोकायत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका प्रतिपादन जिस हृदय-ग्राही शैली से किया जाता था, उसके कारण इसके अनुयायी चार्वी या चार्वाक भी कहे जाते थे। अपने मूल रूप में लोकायत दर्शन और अन्य अक्रियावादी दर्शन भी उन तत्त्वों पर आश्रित थे, जो लोकहित के लिए आवश्यक थे। जैसे मक्खलि गोसाल के दर्शन में कर्म के निराकरण (निर्वेद और अनायास), की शिक्षा होने पर भी सर्वसाम्य और सत्यवाक्य, ये दो सशक्त लोकोपकारी तत्त्व थे, वैसे ही बृहस्पति के दर्शन में चक्षु से दृष्ट प्रत्यक्ष फल के साथ-साथ कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन था। आगे चलकर इसके बिगड़े हुए रूप में प्रत्यक्षवाद तो रह गया, कर्मवाद लुप्त हो गया।

महाभारत के इन संवादों में यथावसर प्राचीन दार्शनिकों के अभिमतों का सन्निवेश पाया जाता है। जिस प्रकार दीर्घनिकाय के ब्रह्मजालसुत एवं जैनों के उत्तराध्ययनसूत्र और सूत्रकृतांग आगमों में प्राचीन विचारकों के मतों या दिट्ठियों का संग्रह है, वैसे ही ब्राह्मण-साहित्य में महाभारत में

भी उस प्रकार के मतों का संग्रह है। युक्तिपूर्वक उनके दोहन से प्राचीन भारतीय दर्शन के उस युग पर बहुत प्रकाश पड़ सकेगा, जबकि उपनिषदों के उतरते हुए युग में सैकड़ों नए-नए दार्शनिक मतवादों का जन्म हुआ था और यूनान के आरम्भकालीन दर्शन की भांति भारतीय दर्शन भी नई कल्पनाओं के उन्मेष से समृद्ध बन रहा था। सौभाग्य से महाभारत के शत-साहस्र-विस्तार में ज्ञान की वे चमकती हुई मणियां यत्र-तत्र सुरक्षित रह गई हैं।

२३ :: अर्जुन की शस्त्रास्त्र-प्राप्ति

द्यूत-सभा में युधिष्ठिर ने जिस प्रकार मूढ़ बनकर विपत्ति को न्योता दिया, उससे शेष चारों भाइयों और द्रौपदी को क्षोभ होना स्वाभाविक था। द्रौपदी ने उस समय असाधारण धैर्य दिखलाया। उसको युधिष्ठिर की दुर्बुद्धि और दुर्योधन की कुटिलता का सबसे अधिक मूल्य चुकाना पड़ा था। उसके जीवन की सारी आस्था हिल गई। वह इस विषय में स्तम्भित हो गई कि पुरुष-समाज सदाचार-सम्बन्धी मर्यादाओं के विषय में कहां तक पतन की ओर जा सकता है। सम्भव है, यदि कृष्ण के धर्म-परायण व्यक्तित्व पर उसके मन में उस समय आस्था न रह गई होती तो उसके अपने व्यक्तित्व का सूत्र छिन्न-भिन्न होकर टूट गया होता। उसकी व्यथा, आक्रोश, करुणा और रोष का सचमुच वारापार नहीं था। उसके मन के अगाध शोक को प्रकट होने के लिए अवसर चाहिए था। वनवास के इस आरम्भिक काल में जब उसे अवसर मिला, तब उसके दुःख का बांध टूट-कर बह निकला। किन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि द्रौपदी के मन की सारी पीड़ा को शब्दों में व्यक्त करने की शक्ति ग्रन्थकार के पास न थी। द्रौपदी के अनकहे दुःख में और भी अगाध व्यथा भरी रह जाती है। द्रौपदी ने युधिष्ठिर से जो कहा, उसे भीमसेन ने भी सुना। भीमसेन की प्रकृति दूसरे प्रकार की थी। भरी सभा में ही वह युधिष्ठिर की भुजाओं को आग से जला देने की बात कह चुका था। तब अर्जुन ने किसी प्रकार उसे शान्त

किया था। द्रौपदी के कथन ने उसकी उस प्रसुप्त क्रोधाग्नि को फिर भड़का दिया। वह क्रोध से फुफकारता हुआ युधिष्ठिर से बोला :

धर्म-अर्थ का आपेक्षिक महत्व

"सत्पुरुष जिस तरह राज्य किया करते हैं, वैसे धर्मपूर्वक करो। धर्म, काम और अर्थ तीनों को गंवाकर यहां जगत् में पड़े रहने से क्या लाभ? दुर्योधन ने धर्म या बल से राज्य न लेकर पांसों से हमें छला है। सियार जैसे बली सिंहों का जूठा मांस खाता है, वैसे ही उसने हमारा राज्य लिया है। इन्द्र भी जिसे नहीं ले सकते थे, उस राज्य को हमारे देखते हुए तुम्हारी करतूतों ने खो दिया। तुम्हारे कारण हमारा सब ऐश्वर्य चला गया, जैसे लंगड़े ग्वाले के कारण जंगल में गायें खो जाती हैं। आपका जो अनोखा शास्त्र है, उसकी अड़चन से हम इन दुर्बुद्धि धार्त्तराष्ट्रों के टुकड़े-टुकड़े नहीं कर पाते। मृगों की भांति अपने इस वनवास पर विचार करो। कृष्ण, अभिमन्यु, अर्जुन और हममें से कोई भी इसे अच्छा नहीं समझता। आप सदा धर्म-धर्म रटकर दुबले हुए जाते हैं। उसीके कारण तो कहीं नपुंसकों की-सी इस जीविका को प्राप्त नहीं हो गए? आपका यह झूठा वैराग्य सर्वघाती है। आपके हृदय में चक्षुष्मत्ता है, बाहुओं में बल है, फिर भी क्यों इसे नहीं देखते? हम युद्ध में मारे जायं तो इसका दु:ख न होगा। किन्तु हम सहते चले जायं और ये धार्त्तराष्ट्र हमें असत् समझें, यह बड़ा दु:ख है। जो धर्म मित्रों के और अपने दु:ख का कारण हो, वह व्यसन है, धर्म नहीं; उसे कुधर्म कहा जायगा। धर्म में शक्ति होनी चाहिए। जिसका धर्म दुर्बल है और फिर भी सदा धर्म की रट लगाता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों छोड़ देते हैं, जैसे मृत व्यक्ति को सुख-दु:ख छोड़ देते हैं। कोरे धर्म के लिए धर्म को पकड़े रहना क्लेश का कारण है, बुद्धिमानी नहीं। ऐसा मूढ़ धर्म के अर्थ को नहीं जानता, जैसे अन्धा सूर्य के प्रकाश को। जो केवल धन के लिए धन को चाहता है, वह धन के मर्म को नहीं जानता। वह तो ऐसा है, जैसे नौकर दूसरे के खेत की रखवाली करता है। कोई व्यक्ति अन्धाधुंध अर्थ के पीछे पड़कर धर्म और काम को भुला दे तो उसे सब लोग निन्दित ब्रह्म-घाती के समान वध्य समझते हैं। ऐसे ही जो केवल काम के पीछे धर्म-अर्थ

को भुला देता है उसके मित्र भी छूट जाते हैं, धर्म और अर्थ तो रहते ही नहीं, जल के क्षीण होने पर मछली के समान उसका निधन निश्चित है।

पौरुष का आग्रह

"इसलिए बुद्धिमान को धर्म और अर्थ की ओर से प्रमाद न करना चाहिए। उनके होने से ही काम की पूर्ति होती है। मेघ और समुद्र जैसे एक-दूसरे के जनक हैं, ऐसे ही धर्म से अर्थ और अर्थ से धर्म होता है। जैसे बहेलिया पक्षियों को मारता है, वैसे ही अधर्म इन तीनों का नाश करता है। आपने तो धर्म को बहुत-कुछ जानाबूझा है। अर्थ से ही धर्म की सेवा हो सकती है, किन्तु अर्थ भिक्षा या नपुंसकता से प्राप्त नहीं हो सकता। आप तो स्वयं याञ्चा का निषेध किया करते थे। क्षत्रिय के लिए भिक्षा का विधान नहीं, तेज से ही अर्थ-सिद्धि के लिए आप यत्न करें। हे राजन्, उठिए, सोचिए-समझिए और सनातन काल से प्राप्त धर्मों का पालन कीजिए। प्रजा-पालन ही आपके लिए ब्रह्म का बनाया हुआ सनातन धर्म है। उससे विचलित होकर आपकी लोक में हँसी होगी। स्वधर्म से चलित होना मनुष्य के लिए श्लाघनीय नहीं। किस क्रूर कर्म के चक्कर में आप पड़ गए हैं?

"मेरा मन बड़ा दुखी है। क्षत्रिय के बलवान हृदय की उपासना करो। इस ढीले मन का परित्याग करो। पौरुष का आश्रम लेकर वृषभ के समान धुरे का उद्वहन करो। जो कोरा धर्मवादी है, वह कभी पृथिवी, सम्पत्ति या राज्यश्री को नहीं पा सकता। शत्रु के विनाश के लिए कपट का आश्रय भी लेना पड़ता तो भी कर्त्तव्य है। कहा जाता है कि देवताओं ने असुरों को युद्ध में छल-छन्द से ही पछाड़ा था। युद्ध में अर्जुन के समान योद्धा कौन है? और मेरे समान गदाधारी कौन है? हे राजन्, युद्ध के लिए सत्त्व चाहिए, बहुत साज-समान नहीं। अधिक ऊंचे अर्थ के लिए पहले उपार्जित अर्थ का त्याग करना उचित है। क्या खेती के लिए बीज को भूमि में नहीं डालते? जिससे उदय का लाभ न हो, वह अर्थ अनर्थ के समान है। बड़े धर्म की प्राप्ति के लिए छोटे धर्म का त्यागना बुद्धिमानी है। हे राजन्, विधिपूर्वक पृथिवी का पालन पुराणतप है, ऐसा मैंने सुना है। लोग कह सकते हैं कि यदि धर्म-राज युधिष्ठिर पर भी ऐसी बिपत पड़ सकती है, तो प्रभा सूर्य को और

कान्ति चन्द्रमा को भी छोड़ जा सकती है। भूमिपालन में राजा को पाप भी करना पड़े, तो वह उस रक्षा के पुण्य से मिट जाता है।

"यह सब सोचकर मेरा तो यही विचार है कि आप शीघ्र ही सब सामग्री के साथ रथ सजाकर हस्तिनापुरपर चढ़ाई कर दें, और अपने तेज से शत्रुओं का मर्दन करके राज्यलक्ष्मी प्राप्त करलें। कौन है जो गाण्डीव से छूटे हुए फुंकारते बाणों के सामने ठहर सकेगा? युद्ध में लपलपाती हुई मेरी गदा के सामने रुकनेवाला योद्धा, हाथी या घोड़ा अभी तक नहीं जन्मा।"

युधिष्ठिर की धर्म पर अडिग आस्था

भीम के ऐसे तीखे वचन सुनकर युधिष्ठिर विचलित न हुए। वस्तुतः महाभारत के इस प्रकरण में वेदव्यास ने अर्थ, धर्म और काम इस त्रिवर्ग के आपेक्षिक महत्व का मूल्यांकन किया है। उसमें उस दृष्टिकोण का प्रतिपादन है, जिसके अनुसार अर्थशास्त्रों के प्राचीन आचार्य अर्थ को ही त्रिवर्ग का सार मानते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रारंभ में भी यही दृष्टिकोण पाया जाता है। अर्वाचीन अर्थशास्त्रियों की विचारधारा भी अर्थ की महत्ता के विषय में इसी दृष्टिकोण के समानान्तर चलती है।

युधिष्ठिर ने कहा, "हे भीम, तुम्हारा कहना सच है। तुमने अपने वाग्बाणों से जो मुझे बींधा है, उसका मैं कुछ बुरा नहीं मानता। मेरी ही अनीति से यह व्यसन तुम लोगों पर पड़ा है। मैंने सोचा था, पांसों के बल से धृतराष्ट्र के पुत्रों का राष्ट्र और राज्य हर लूंगा। उलटे मुझे ही शकुनि ने मात दे दी। उसने माया का आश्रय लिया और मैं अमायिक बना रहा। हे भीमसेन, ऐसी भवितव्यता थी। हम लोग जिस गड्ढे में गिर गए थे, उससे द्रौपदी ने हमारी रक्षा की। तुम्हें ज्ञात है कि उसके बाद भी दुर्योधन ने एक दांव खेलने के लिए मुझे फिर ललकारा। उसके फलस्वरूप हमें बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना है।

हम सब उस शर्त से बंधे हैं। राज्य के लिए उसका त्याग उचित नहीं, अतएव सुखोदय के लिए काल की प्रतीक्षा करो, जैसे बीज बोनेवाला फसल पकने की बाट देखता है। मेरी प्रतिज्ञा को तुम अविचल और सत्य जानो। अमृत और जीवन से भी बढ़कर मैं धर्म को मानता हूं। राज्य, पुत्र, यश

और धन सत्य के एक अंश के बराबर भी नहीं हैं।"

भीमसेन का पुनः आग्रह

युधिष्ठिर की यह बात सुनकर भीमसेन का क्या समाधान होना था! उसने कहा, "जिसके पास अनन्त आयु हो, अथवा जो यह जानता हो कि कितने दिन जीना है, ऐसा कोई प्रत्यक्षदर्शी महात्मा ही समय की बाट देख सकता है। प्रतीक्षा करते-करते हमें तो ये तेरह वर्ष मार ही डालेंगे। इस जीवन से नरक में जाना भी मुझे रुचेगा। मुझे न रात को नींद है, न दिन को। यह अर्जुन, यह नकुल, यह सहदेव और हमारी बूढ़ी मां, सब जड़-मूक बने बैठे हैं। हे दयालु ब्राह्मण-रूपी बन्धु, तुमने क्षत्रिय-कुल में जन्म क्यों लिया? तुमने तो मन द्वारा राजाओं के लिए निर्दिष्ट धर्मों को सुना है, फिर क्यों गड़-गड्डे में बैठे अपाहिज की भांति कर्महीन बने बैठे हो? हम सबको वर्ष भर छिपाकर रखने की तुम्हारी इच्छा ऐसे ही निष्फल है, जैसे कोई मुट्ठी भर फूस से हिमालय को ढकना चाहे। जैसे नदी के कछार में ऊंचा शाल-वृक्ष नहीं छिपता, और जैसे वन में श्वेत हाथी नहीं छिपता, वैसे ही तुम अज्ञात कैसे रह सकोगे? बचपन से ही लोग हमको पहचानते हैं। तुम्हारी अज्ञातचर्या मेरु को छिपाने के समान हैं। हम लोग तेरह महीने वन में रह चुके हैं। जैसे विद्वान पूतीक घास को सोम का प्रतिनिधि मानते हैं, वैसे ही महीना भी संवत्सर का प्रतिनिधि है। इसलिए तेरह वर्ष का वनवास पूरा हुआ समझो; और यदि तेरह वर्ष की मर्यादा तोड़ने का यह पाप लग भी गया तो किसी एक साधु सडे को छककर खिलाने के पुण्य से उसे धो डालना। इसलिए आज ही शत्रु-वध का निश्चय कर डालो।"

भीमसेन के वचन सुनकर युधिष्ठिर गहरी सांस छोड़ने लगे। कुछ सोचकर उन्होंने उसे समझाने का एक पैंतरा और बदला। वह कौरव-पक्ष के मुखियों के नाम गिनाकर उनके बल का बखान करने लगे और कहने लगे कि दुर्योधन का जीतना मुझ असहाय के लिए अशक्य है। उसे सुनकर भीमसेन ने क्रोध से जलते हुए अपना माथा ठोक लिया और चुप हो रहे।

व्यासजी का परामर्श

उसी समय महायोगी व्यास वहां आ गए और बोले, "हे युधिष्ठिर, मैंने तुम्हारे मन की बात जान ली, और तुम्हें समझाने के लिए शीघ्र यहां आ गया। भीष्म, द्रोण, कृप और कर्ण के कारण उत्पन्न तुम्हारा भय मैं दूर करूंगा।" इतना कह व्यासजी ने युधिष्ठिर को एकान्त में ले जाकर 'प्रति-स्मृति' नाम की विद्या दी और कहा, "इसे लेकर अर्जुन इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर और यम के पास जाकर अस्त्र प्राप्त करे। अर्जुन ऋषि है। वह विष्णु का सनातन अंश है। नारायण की सहायता से वह सब कार्य सिद्ध करेगा और तुम भी अब यहां से दूसरे वन में चले जाओ।"

व्यास की बात सुनकर युधिष्ठिर द्वैतवन से सरस्वती नदी के किनारे काम्यक वन के दूसरे भाग में चले गए। वहां उन्होंने अर्जुन से एकान्त में कहा, "हे तात, कृष्ण द्वैपायन से मुझे यह मंत्र मिला है, तुम इसे लेकर उन-उन देवताओं के पास जाओ और अस्त्रों को प्राप्त करो। पहले इन्द्र के पास जाना, वह तुम्हें अस्त्र प्रदान करेगा।"

अर्जुन को इन्द्र के दर्शन

बड़े भाई की बात मानकर अर्जुन ने उसी समय दीक्षा ली और सब भाइयों और धौम्य की प्रदक्षिणा कर वह इन्द्र के पास चले। वह पहले हिमालय पर पहुंचे और उसके एक देश गन्धमादन पर्वत (बदरीनाथ के पास हिमालय की एक चोटी जो, अभी तक इसी नाम से प्रख्यात है) से आगे बढ़कर इन्द्रकील चोटी पर पहुंचे। वहां उन्होंने वृक्ष के नीचे खड़े हुए एक तपस्वी को देखा। उसने पूछा, "तुम कौन हो ? यहां क्यों आये हो ? यहां शस्त्र का क्या काम ? यह धनुष फेंक दो। यह शान्त आश्रम है।"

ब्राह्मण ने बार-बार ऐसा कहा, किन्तु अर्जुन अपने दृढ़ निश्चय से न डिगा। तब उस ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर कहा, "मैं ही इन्द्र हूं। तुमसे प्रसन्न हुआ। मुझसे वर मांगो।"

अर्जुन ने कहा, "भगवन्, यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे अस्त्र-विद्या का ज्ञान कराइए।"

इन्द्र ने अर्जुन को उस व्रत से हटाना चाहा, किन्तु उसका निश्चय

देखकर कहा, "तुम पहले त्रिशूलधारी भूतेश भगवान् शिव का दर्शन करो, तब तुम्हें दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति होगी।" यह कहकर इन्द्र चले गए और अर्जुन वहीं योग-साधना करते हुए रहने लगे।

किरातवेषधारी शिव

इसके बाद महाभारत में कैरातपर्व संज्ञक प्रकरण है। जनमेजय ने विस्तार से अर्जुन की अस्त्र-प्राप्ति की कथा जाननी चाही। उसी के फल-स्वरूप यह बड़ा प्रकरण मूल ठाट के बाद किसी समय जोड़ा गया।

वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा, "यह महत कथा मैं तुम्हें सुनाता हूं।"

युधिष्ठिर की आज्ञा से जब अर्जुन हिमालय पर पहुंचे और वहां पर तप करने लगे तब उनके घोर तप से प्रभावित होकर ऋषियों ने शंकर को सूचना दी, "हे देव, यह पार्थ क्यों उग्र तप कर रहा है ? हम उसके तप से जलने लगे हैं। उसे कृपया निवृत्त कीजिए।"

शिवजी ने उत्तर दिया, "तुम जाओ, मैं उसके मन का पता लगाता हूं। जो उसकी इच्छा होगी, पूरी करूंगा।" यह कह शिवजी किरात के वेश में अर्जुन के समीप आये। उन्होंने देखा कि एक दितिपुत्र मूक वराह रूप में अर्जुन की ओर ताक रहा है और उसे मारना चाहता है। अर्जुन ने उसे देखकर कहा, "रे दुष्ट, तू मुझ निष्पाप को मारना चाहता है, मैं तुम्हें ही यमलोक भेजता हूं।"

अर्जुन को प्रहार करते देख किरात ने उसे रोका, पर अर्जुन ने उसकी बात अनसुनी करके निशाने पर अपना बाण चला दिया। इधर किरात ने भी अपने बाण से उस बराह को बींध डाला। अर्जुन ने डपटकर किरात से कहा, "एक ही निशाने पर दूसरे का बाण चलाना शिकार का नियम नहीं। मैं तुझे अभी यमलोक भेजता हूं।"

किरात ने मृदुता से उत्तर दिया, "यह तो मेरा ही लक्ष्य था और मेरे ही प्रहार से मरा है। यदि तुझमें इतना दर्प है, तो तू भी बाण चला।"

इस प्रकार बात बढ़ गई और वे दोनों एक-दूसरे से गुंथ गए। अन्त में अर्जुन की शक्ति से प्रसन्न होकर शिव ने वर मांगने के लिए कहा। अर्जुन ने कहा, "भगवन्, यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे दिव्य पाशुपत-अस्त्र दीजिए,

जो अत्यन्त घोर है और जिसे ब्रह्मशिर कहते हैं।"

शिव वह पाशुपत-अस्त्र एवं उसके धारण, मोक्ष और संहार का सब रहस्य अर्जुन को सिखाकर चले गए।

अर्जुन का स्वर्ग-गमन

अर्जुन अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए कि मैंने साक्षात् महादेव का दर्शन पा लिया। तदनन्तर उन्होंने और भी लोकपालों को प्रसन्न किया। फलस्वरूप यम से उन्हें दण्ड, वरुण से पाश तथा कुबेर से अन्तर्धान और प्रस्वापन करानेवाला दिव्य अस्त्र प्राप्त हुआ। इन्द्र ने भी मातलि के साथ अपना रथ भेजकर अनेक प्रकार के दिव्य प्रभाववाले वज्र, चक्र, प्रास, हुड़के और वायु से फटनेवाले गोले प्रदान किये (गुड़: वायुस्फोट:)।

मातलि ने अर्जुन से निवेदन किया, "आप कृपया इस रथ पर बैठकर स्वर्ग चलें। इन्द्र ने आपको अमरावती में बुलाया है।"

अर्जुन गए और उन्होंने दिव्य इन्द्रपुरी का दर्शन किया। इंद्र ने पुत्र-वात्सल्य से अर्जुन का मस्तक सूंघा और हाथ पकड़कर अपने पास बैठाया। अर्जुन ने अपने पिता के भवन में रहते हुए अनेक दिव्य महास्त्रों को उनके संहार-मंत्रों के साथ सीखा। वह वहां पांच वर्ष सुख से रहे। तब इन्द्र के कहने से अर्जुन ने चित्रसेन गन्धर्व से नृत्य-गीत-वादित्र की भी शिक्षा ली।

इसी समय लोमश ऋषि वहां आ पहुंचे। उन्होंने अर्जुन को इन्द्र के साथ ही अर्धासन पर बैठे देखकर शंका की, "हे शक्र, क्षत्रिय अर्जुन को इन्द्रासन कैसे मिला? इसका ऐसा क्या पुण्य है?"

इन्द्र ने कहा, "हे ब्रह्मर्षि, यह केवल क्षत्रिय नहीं, मेरा पुत्र है। नर-नारायण नाम के जो दो पुराण-ऋषि हैं उनमें से यह एक है। बदरी नामक पुण्य आश्रम में विष्णु और जिष्णु नाम के ऋषि रहते हैं। वे ही इस समय भूमि का भार उतारने के लिए उत्पन्न हुए हैं। आप मेरे कहने से काम्यक वन में जाकर युधिष्ठिर को सूचित कर दें, वे अर्जुन के लिए उत्कण्ठित न हों। वह अस्त्र-विद्या सीखकर शीघ्र ही उनसे मिलेगा। उस बीच वे भी तीर्थाटन करके अपने चित्त को सुखी करें। हे द्विजवर, मेरी इच्छा है कि आप इस तीर्थयात्रा में उनके साथ रहें।" तपस्वी लोमश ऋषि इन्द्र की

बात मानकर काम्यक वन में चले आये।

स्पष्ट ही अर्जुन के विषय में यह कथानक पंचरात्र भागवतों के प्रभाव से निर्मित हुआ है। इसी आरण्यक पर्व के ४६वें अध्याय में पच्चीस श्लोकों का अति संक्षिप्त एक कथानक है, जिसमें कहा गया है कि काम्यक वन में पाण्डव कृष्ण के साथ रहते थे। कभी एकान्त में भीम ने युधिष्ठिर से पूछा कि अर्जुन कहां गए हैं और द्रौपदी के दुःख की ओर ध्यान दिलाते हुए क्षात्र धर्म की आवश्यकता पर जोर दिया गया और लड़कर दुर्योधन को मारने का वही प्रस्ताव किया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, और युधिष्ठिर ने भी केवल तीन श्लोकों में वही ठंडा उत्तर दिया कि तेरह वर्ष बाद समय आने पर हम अवश्य दुर्योधन को मारेंगे। इसी के बाद वहां बृहदश्व ऋषि आ गए।

ज्ञात होता है कि मूल कथा का सूत्र इतना ही था। उसीका साहित्यिक विस्तार ऊपर किया गया। किस प्रकार बृहदश्व ऋषि ने युधिष्ठिर से नलोपाख्यान का वर्णन किया।

२४ : : नलोपाख्यान

बृहदश्व ऋषि का स्वागत-सत्कार करके युधिष्ठिर ने उनसे अपना सब दुखड़ा सुनाया, "भगवन्, अक्षद्यूत में मेरा राज्य और धन चला गया। बेईमान जुआरियों ने मुझे बुलाकर ठग लिया। मेरी प्यारी भार्या को वे सभा में खींच लाये। मेरे-जैसा भाग का पोच और कोई राजा आपने देखा या सुना है ? मैं तो समझता हूं कि मुझसे बढ़कर दुखियारा और कोई नहीं है।"

यह सुनकर बृहदश्व ऋषि ने कहा, "महाराज, आपसे भी अधिक दुखिया एक राजा था। निषध देश में वीरसेन राजा के नल नाम का पुत्र था। वह बड़ा धर्मात्मा था, किन्तु सुना है कि उसको भी पुष्कर ने छल से ठग लिया था। वह भी अपनी पत्नी के साथ दुःख सहता हुआ बन में रहा। हाथी, घोड़े, भाई-बन्धु, कोई भी उसके साथ नहीं रहा। आपके पास तो

आपके देवकल्प वीर भाई हैं और अनेक ब्रह्मकल्प ब्राह्मण हैं। अतएव आप का शोक करना उचित नहीं।"

संक्षेप में नल की कथा इतनी ही थी, किन्तु महाभारत के शतसाहस्री संहितावाले अन्तिम संस्करण में कथा का वह मूल बीज नलोपाख्यान नामक सुन्दर काव्य के रूप में विकसित हुआ। भाषा और कथा-प्रवाह दोनों की दृष्टि से नलोपाख्यान महाभारत का अत्यन्त उत्कृष्ट अंश है। यूरोप की अनेक भाषाओं में पृथक् रूप से इसके अनुवाद हो चुके हैं। मानवीय दुःख-सुख के मार्मिक स्थलों से भरे हुए कितने ही स्थल इस कथा में आते हैं। ज्ञात होता है, प्राचीन नियतिवादी दार्शनिक के तरकश का एक अचूक बाण यह नलोपाख्यान था, जिसमें बड़े-बड़ों को चक्कर में डाल देनेवाले भाग्य की करतूत का प्रभावशाली दृष्टांत पाया जाता है।

युधिष्ठिर ने कहा, "भगवन् ! मैं महात्मा नल के चरित्र को विस्तार से सुनना चाहता हूं। कृपा कर कहिए।" बृहदश्व ऋषि बोले :

वीरसेन राजा का पुत्र नल अत्यन्त बलवान, रूपवान, गुणवान और अश्वविद्या में चतुर था। वह निषध देश का राजा था। उसे पासों से खेलने का शौक था। उसी प्रकार विदर्भ जनपद में भीम नाम का राजा था। उसके दमयन्ती नाम की कन्या तथा दम, दान्त और दमन नाम के तीन पुत्र थे। दमयन्ती रूप, तेज, श्री और सौभाग्य के कारण लोक में यशस्विनी हुई। देव, यक्ष और मनुष्यों में ऐसी सुन्दरी कोई न थी। नल भी रूप में अद्वितीय था। वह साक्षात् कामदेव के समान था। लोगों ने कुतूहलवश दमयन्ती के समीप नल के रूप की प्रशंसा की और नल के समीप दमयन्ती की।

पारस्परिक आकर्षण

उन दोनों ने एक-दूसरे को कभी देखा न था, फिर भी बार-बार गुण सुनने से परस्पर प्रेम उत्पन्न होगया। एक बार नल उसी प्रेम से व्याकुल होकर अपने अन्तःपुर के उद्यान में अकेला बैठा था। उसने सुनहले पंखोंवाले कुछ हंसों को वन में विचरते देखा और उनमें से एक पक्षी को पकड़ लिया। उस पक्षी ने नल से कहा, 'मुझे मत मारिये, मैं तुम्हारा हित करूंगा। दमयन्ती के समीप जाकर मैं तुम्हारा ऐसा गुणगान करूंगा कि वह किसी दूसरे को

न चाहेगी।'

यह सुनकर नल ने हंस को छोड़ दिया। वे हंस उड़कर विदर्भ नगरी में पहुंचे और दमयन्ती के पास जाकर उतरे। उसने भी अद्भुत सुनहले हंसों को देखकर उन्हें पकड़ने की इच्छा की और सखियों के साथ उनका पीछा किया। हंस प्रमदवन में फैल गए। तब दमयन्ती ने जिस हंस का पीछा किया था, उसने मनुष्य की वाणी में कहा, 'हे दमयन्ती, निषध देश में नल नाम का राजा रूप में अश्विनीकुमार जैसा है। यदि तू उसकी पत्नी हो जाय तो तेरा यह जन्म और रूप सफल हो। तू स्त्रियों में रत्न है और वह पुरुषों में। योग्य का योग्य से संगम ही गुणवान् होता है।'

यह सुनकर दमयन्ती ने हंस से कहा, "अच्छा, तू जा और नल से भी यही कह।" हंस ने निषध देश में आकर नल से यह समाचार कहा।

नल का दौत्य कर्म

उस दिन से दमयन्ती नल के लिए अस्वस्थ रहने लगी। सखियों ने भीम से सब हाल बताया। राजा ने आकर देखा और समझ लिया कि इसका स्वयंवर करना चाहिए। उन्होंने सब राजाओं को स्वयंवर का समाचार भेज दिया। उसे सुनकर अनेक राजा स्वयंवर के लिए आये। उसी समय नारद और पर्वत नाम के ऋषि घूमते हुए स्वर्गलोक में आये। नारद ने इन्द्र को दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार कहा। उसी समय अग्नि, यम और वरुण ये लोकपाल भी वहां आगए। नारद के वचन सुनकर सबने कहा, "हम भी उस स्वयंवर में चलेंगे।" यह कह वे सब विदर्भ की ओर चले।

इधर नल भी स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए चला। देवता मार्ग में नल को साक्षात् कामदेव के समान देखकर ठक रह गए। उन्होंने आकर कहा, 'हे नैषध, तुम बड़े सत्यव्रती हो। हमारी सहायता करो और हमारी ओर से दूत बनकर जाओ।'

नल ने कहा, 'अच्छा करूंगा', और पूछा, 'आप कौन हैं, और वह कौन है, जिसके पास मुझे दूत बनकर जाना है और मुझे वहां क्या काम करना है?'

यह सुनकर इन्द्र ने कहा, 'हम देवता हैं, दमयन्ती के लिए आये हैं। मैं

इन्द्र हूं, यह अग्नि हैं, यह वरुण हैं और यह यम हैं। तुम दमयन्ती के पास जाकर कहो कि वह हममें से किसी एक को अपना पति चुन ले।"

यह सुनते ही नल सन्नाटे में आ गया और बोला, "मैं भी उसी काम से आया हूं। मुझे वहां न भेजिए।"

देवताओं ने घुड़ककर कहा, "तुम्हारा काम करूंगा, यह तुम कह चुके हो। फिर कैसे न करोगे? जल्दी जाओ, देर मत करो।"

लाचार नल ने फिर कहा, "उसके महलों में बड़ा पहरा है। मैं कैसे वहां जा पाऊंगा?"

इन्द्र ने भरोसा दिया कि तुम जा सकोगे।

'अच्छा जाता हूं' कहकर नल दमयन्ती के महल में पहुंचा और वहां सखियों के बीच में अत्यन्त रूपवती दमयन्ती को देखते ही उसके हृदय में कामाग्नि जल उठी। पर वह सच्चा था। उसने अपने काम-भाव को रोक लिया। नल को देखकर उन स्त्रियों में खलबली मच गई। सब उसके रूप से मोहित हो गईं। दमयन्ती ने हँसते हुए उससे पूछा, 'तुम कौन हो और यहां तक कैसे चले आये?'

नल ने कहा, "हे कल्याणी, मैं नल हूं। देवों का दूत होकर यहां आया हूं। देवता तुम्हें चाहते हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम इनमें से किसी एक को अपना पति चुनो। उन्हीं के प्रभाव से मैं यहां तक आगया, किसी ने देखा नहीं।"

यह सुनकर दमयन्ती ने देवताओं को तो प्रणाम किया और नल से बोली, "हे राजन्! मेरे ऊपर अनुग्रह करो। मैं, और जो मेरा धन है, सब तुम्हारा है। हंसों ने जो बात मुझसे कही थी, उसीसे मैं संतप्त हूं। तुम्हारे लिए ही मैंने राजाओं को एकत्र किया है। यदि मुझे स्वीकार न करोगे तो विष, अग्नि, जल या रस्सी से प्राण-त्याग कर दूंगी।"

नल ने उत्तर दिया, "लोकपालों के होते हुए मनुष्यों को तुम क्यों चाहती हो? मैं तो उनके पैरों की धूलि भी नहीं हूं। देवताओं के विपरीत व्यवहार करने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। तुम मेरी रक्षा करो और देवताओं को वरो।"

दमयन्ती ने नल की यह गद्गद वाणी। और बोली, "मैं उपाय

बताती हूं, जिससे तुम्हें कुछ हानि या दोष न होगा। तुम और चारों लोकपाल स्वयंवर में आओ। वहां देवताओं के सामने ही मैं तुम्हें वर लूंगी।"

यह सुनकर नल देवों के पास लौट आया और सब हाल बताकर बोला, "मैंने आप सबका वर्णन उससे किया, किन्तु उसने कहा कि मैं तुम्हें ही चाहती हूं। देवता और तुम स्वयंवर में आओ। वहीं लोकपालों के सामने तुम्हें वरूंगी। तब तुम्हें दोष न होगा। यही सच्ची घटना है। आगे आप जैसा चाहें करें।"

दमयन्ती का नल-वरण

शुभ तिथि-मुहूर्त में राजा भीम ने स्वयंवर रचाया। सुनहले खम्भों पर बने हुए तोरणों से युक्त उस महारंग में बिछे हुए आसनों पर राजा बैठ गए। दमयन्ती भी रंगभूमि में आई। जब राजाओं के नामों का कीर्तन होने लगा तब दमयन्ती ने एक-सी आकृतिवाले पांच पुरुषों को बैठे देखा। वह न समझ सकी कि नल कौन है। उसने सोचा, बड़े-बूढ़ों से देवताओं के जो चिह्न सुने हैं, वे तो इनमें से एक में भी नहीं हैं। ये सभी पृथिवी पर बैठे हैं। वह जब निश्चय न कर सकी तो उसने मन-ही-मन देवों को प्रणाम कर कहा, "हंसों का वचन सुनकर यदि नल को मैं अपना पति मान चुकी होऊं तो उस सत्य के बल से देवता ही मुझे बतायें कि नल कौन-सा है। वे लोकपाल अपना रूप प्रकट करें, जिससे मैं नल को पहचान लूं।"

उसके मन की विशुद्धि, बुद्धिमत्ता, भक्ति और प्रेम देखकर देवों ने अपने चिह्न प्रकट कर दिये। दमयन्ती ने देवों को देखा। उनके शरीर पर स्वेद न था। उनके नेत्र एकटक थे। उनकी मालाओं के फूल खिले हुए थे और वे पृथिवी से कुछ अंगुल ऊपर बैठे थे। वह तुरन्त नल को पहचान गई। उसके शरीर की छाया पड़ती थी। उसकी माला के फूल कुछ कुम्हला गए थे। उसके शरीर पर धूल और पसीना था। वह पलक झपका रहा था और धरती को छूकर बैठा था। उसने लजाते हुए नल का पल्ला पकड़ लिया और उसके गले में जयमाला डाल दी। राजा 'हा-हा', करने लगे, किन्तु देवता और महर्षियों ने 'साधु-साधु' कहा। लोकपालों ने प्रसन्न होकर नल को आठ वर दिये।

इन्द्र ने कहा, 'तुम्हारे यज्ञ में मैं प्रत्यक्ष दर्शन दूंगा और तुम्हें शुभ गति मिलेगी।' अग्नि ने कहा, 'तुम जहां चाहोगे मुझे उत्पन्न कर सकोगे और तुम मेरे ज्योतिष्मान लोकों को प्राप्त करोगे।' यम ने कहा, 'धर्म में तुम्हारी स्थिति होगी और तुम्हारे अपने हाथ से बनाये हुए अन्न में रसायन का स्वाद प्राप्त होगा।' वरुण ने कहा, 'तुम जहां चाहोगे जल उत्पन्न कर लोगे। मैं यह उत्तम गंधवती फूलमाला तुम्हें देता हूं।' आठों ने मिलकर उसे सन्तान का वर दिया। इस प्रकार नल ने दमयन्ती को प्राप्त किया और उसके साथ सुख-भोग करने लगा।

जब स्वयंवर से लोकपाल लौट रहे थे, तब उन्हें मार्ग में द्वापर और कलि मिले। इन्द्र के यह पूछने पर कि वे कहां जा रहे हैं, कलि ने कहा कि दमयन्ती के स्वयंवर में जाकर उसे वरूंगा। इस पर इन्द्र ने बताया कि स्वयंवर तो हो गया और हमारे रहते दमयन्ती ने नल को पति चुन लिया। इतना सुनना था कि कलि ने भभककर कहा, "देवों के बीच में मनुष्य को उसने अपना पति चुना! इसका दण्ड मैं उसे दूंगा।" देवताओं ने समझाया कि हमारी सहमति से दमयन्ती ने ऐसा किया है। उस धर्मात्मा को यदि तुम दुःख दोगे तो तुम्हीं दोष के भागी बनोगे।"

अक्षद्यूत में नल का सर्वस्व हारना

देवता तो स्वर्ग लौट गए और कलि ने द्वापर से कहा, "हे द्वापर, मेरा क्रोध तभी ठंडा होगा जब मैं इस नल को राज्य से उखाड़ दूंगा, जिससे दमयन्ती के साथ वह सुखी न हो सके। तुम्हें पासों में घुसकर मेरी सहायता करनी होगी।"

यह संकल्प करके वह निषध देश में आया और बारह वर्ष तक नल के महल का चक्कर काटता रहा, पर उसे नल की कोई चूक दिखाई न पड़ी। तब एक बार पैर धोये बिना नल सन्ध्योपासन के लिए बैठ गया। तुरन्त कलि उसमें प्रविष्ट हो गया और पुष्कर से जाकर बोला, "तू नल के साथ अक्षद्यूत कर और उसे जीतकर निषध का राजा बन। मैं तेरी सहायता करूंगा।" यह सुनकर पुष्कर ने नल को द्यूत के लिए ललकारा। नल उस चुनौती को न सह सका और दमयन्ती के सामने ही जुआ खेलने लगा। वह

अपने सब रत्न, सुवर्ण और धन, यान, वाहन और वस्त्र हार गया। अक्ष-मद में मत्त हुए उसे कोई न रोक सका।

तब पौर-जनों ने मंत्रियों के साथ आकर सूत द्वारा निवेदन किया कि हम नल के दर्शन करना चाहते हैं। दमयन्ती ने आंखों में आंसू भरकर नल को सूचित किया, किन्तु वह कुछ न बोला। मंत्री और पुरवासी निराश हो अपने-अपने घरों को लौट गए एवं नल और पुष्कर का वह द्यूत उसी भांति चलता रहा।

विपत्ति आई जानकर दमयन्ती ने मंत्रियों को पुन: बुलवाया और नल को उनके आने की सूचना दी, किन्तु नल ने फिर भी न सुना। हताश हो दम-यंती ने कहा, "राजा की बुद्धि पर मोह का ऐसा परदा पड़ा है कि मेरा भी वचन नहीं सुनता।" वह अपने सारथी से बोली, "मेरा मन कहता है कि अब कुछ शेष न बचेगा। तुम इन मेरे पुत्र-पुत्री को रथ पर बैठा कर कुण्डिनपुर जाओ और इन्हें वहां छोड़कर या तो तुम वहीं ठहरना या अन्यत्र चले जाना।"

वह सारथी इन्द्रसेना और इन्द्रसेन को विदर्भ में भीम के पास पहुंचा कर स्वयं घूमता हुआ अयोध्या में ऋतुपर्ण राजा के यहां जाकर रहा।

धीरे-धीरे पुष्कर ने नल का राज्य और धन सब हर लिया और हँसते हुए कहा, "आओ, फिर द्यूत खेलें। कुछ दांव पर रखने के लिए है? अब तो मैं सब ले चुका, एक दमयन्ती बची है। यदि चाहो तो उसे भी दांव पर रख दो।"

पुष्कर की यह बात सुनकर क्रोध से नल का हृदय विदीर्ण हो गया। उसने कुछ कहा नहीं, किन्तु क्रोध से अपने सब आभूषण उतारकर फेंक दिये और केवल एक धोती पहन कर वहां से निकल पड़ा। यह कुशल ही हुई कि युधिष्ठिर की तरह नल ने दमयन्ती को दांव पर नहीं रख दिया।

पतिव्रता दमयन्ती एक साड़ी पहने नल के पीछे हो ली। नल उसके साथ तीन दिन तक नगर के बाहर ठहरा। पुष्कर ने घोषणा करा दी कि जो कोई किसी प्रकार नल का सत्कार करेगा, मैं उसे प्राण-दण्ड दूंगा। भय से किसीने भी नल की आवभगत न की। तीन दिन तक वह केवल जल पीकर रहा। चौथे दिन उसने कुछ सुनहले पक्षियों को देखकर सोचा कि मैं इनसे ही अपनी भूख बुझाऊं। यह सोचकर उसने उन्हें पकड़ने के लिए अपनी

धोती फेंकी। वे उसे लेकर उड़ चले और कहते गए, "हे मूर्ख, हम वे ही पासे हैं। तुम वस्त्र पहनकर यहां से जाओ, यह हम नहीं सह सकते।"

यातायात के तीन मार्ग

दीन बने हुए नल ने दमयन्ती से कहा, "हे यशस्विनी, मैं अत्यन्त विपरीत दशा को प्राप्त होगया हूं। मेरेलिए भोजन का भी ठिकाना नहीं। तुम मेरी बात सुनो। यह देखो, सामने बहुत-से मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में जा रहे हैं। यह विदर्भ का मार्ग है जो अवन्तिपुरी, विन्ध्याचल और पयोष्णी (ताप्ती) नदी को पार करता हुआ विदर्भ में जाता है। वह देखो, दक्षिण कोशल को जाने का मार्ग है। इन दोनों से उस पार सुदूर दक्षिण में दक्षिणापथ देश को तीसरा मार्ग गया है।"

यहां नल ने जो तीन मार्ग बतलाए हैं, वे ही तीनों मार्ग आज भी भारतीय रेल-पथ ने लिये हैं। काली-सिन्ध और सिन्ध के बीच में प्राचीन निषध जनपद था, जिसकी राजधानी नलपुर आज का नरवर है। इसी प्रदेश में खड़े होकर नल ने तीनों मार्गों का निर्देश किया है। इस स्थान से रतलाम को जाते हुए रेल-पथ के लगभग साथ-उतरते हुए पहला मार्ग उज्जैन, वहां से विन्ध्या पार करके नर्मदा उतरते हुए खंडवा और वहां से ठीक नीचे उतरते हुए वर्तमान रेलमार्ग के साथ ताप्ती पार करते हुए विदर्भ अर्थात् अमरावती (बरार) की ओर जाता है। इसी प्रकार नरवर से पूर्व की ओर चलते हुए बेतवा नदी और उसके आसपास का घना जंगल, जिसका पुराना नाम विन्ध्याटवी था, पार करके बीना, सागर, दमोह, कटनी, सुहागपुर, बिलासपुर का मार्ग दक्षिण कोशल कोजाता था। यही महाभारतकार के अनुसार पश्चिम और पूरब के दो मुख्य यातायात के मार्ग थे। जो विदर्भ मार्ग और कोशल-मार्ग कहलाते थे, इन दोनों के बीच में तीसरा दक्षिणापथ मार्ग था जो विन्ध्य की खड़ी हुई पट्टी के पूर्व ग्वालियर के धुर दक्षिण झांसी-बीना और वहां से सागर-कटनी होकर जबलपुर की ओर मुड़ता हुआ पुनः उस मार्ग में जा मिलता था, जो आज भी नागपुर से दक्षिण की ओर जानेवाली यातायात की बड़ी धमनी है।

दमयन्ती का परित्याग

मार्ग का वर्णन सुनकर दमयन्ती का मन शंकित हुआ। उसने रुंधी हुई वाणी से कहा, "मेरा हृदय कांपता है। आपके मन में क्या है? धन, वस्त्र, राज्य से विहीन, क्षुधा और श्रम से व्यथित आपको अकेले वन में छोड़कर मैं कहां जाऊंगी? इस घोर वन में मैं आपकी कुछ सेवा कर सकूं, यही मेरे लिए सबकुछ है। स्त्री के समान दूसरी कौन-सी दुःख की महौषधि है? आप मुझे मार्ग क्यों बता रहे हैं?"

नल ने कहा, "दमयन्ती, ठीक कहती हो। भार्या के समान दुःखी मनुष्य का और कोई मित्र नहीं। वह आर्त की परम औषध है। मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता। हे भीरु, क्यों शंका करती हो? मैं चाहे अपने को छोड़ दूं, पर तुम्हें न छोड़ूंगा।"

दमयन्ती ने कहा, "यदि आप मुझे छोड़ना नहीं चाहते, तो विदर्भ का मार्ग क्यों बता रहे हैं? मनुष्य का दुःखी मन उससे सब करा लेता है। यदि आप उचित समझें तो हम दोनों साथ ही उधर क्यों न चलें?"

नल ने कहा, "तुम ठीक कहती हो। जैसा तुम्हारे पिता का राज्य है वैसा ही मेरा, किन्तु विपत्ति में मैं वहां न जाऊंगा। इससे तुम्हारा शोक बढ़ेगा।" यह कहकर नल दमयन्ती को साथ लिये आगे बढ़ते हुए किसी गांव की 'सभा' (संस्थागार या खाली पड़े हुए पंचायतीघर) में पहुंचा और थक-कर पृथिवी पर सो गया। नल चिन्ता में डूबा था, उसे नींद कहां? सोचने लगा, यह मेरे लिए बहुत दुःख उठायगी। यदि मैं इसे छोड़ दूं तो सम्भव है, यह अपने पिता के यहां चली जाय। उलट-पलटकर सोचते हुए उसके मन ने दमयन्ती को छोड़ना ही उचित समझा। वहीं सभा के एक कोने में नंगी तलवार टंगी थी। चुपचाप उसकी साड़ी का आधा भाग काटकर और उससे अपने आप को ढक कर वह किसी प्रकार जी कड़ा कर वहां से चल पड़ा। झूले पर सवार हुए की तरह वह कभी बाहर जाता और कभी फिर सभा में दमयन्ती के पास लौट आता। अन्त में कलि के प्रभाव से वह दम-यन्ती को सोती छोड़कर शून्य वन में निकल पड़ा।

विन्ध्याटवी

जागने पर दमयन्ती अपने को अकेला पाकर अनेक प्रकार से विलाप करने लगी। वह उस निर्जन स्थान में किसी प्रकार आगे बढ़ी। वह घोर विन्ध्याटवी का प्रदेश था। बेतवा के दोनों किनारों पर दूर तक फैला हुआ यह प्रदेश भारतीय इतिहास में आटविक राज्य नाम से विख्यात रहा है। यह महाघोर अटवी झांसी के दक्षिण से शुरू होकर बीना-सागर तक फैला हुआ विन्ध्याचल का जंगल होना चाहिए। इसे महाभारतकार ने महारण्य, महाघोर वन या दारुण वन भी कहा है। यहीं पर एक बड़ा पर्वत (गिरिराज महाशैल) था, जो विन्ध्याचल होना चाहिए। इसी प्रसंग में नल को नरवरोत्तम भी कहा गया है। इसीसे निषध जनपद की राजधानी नरवरगढ़ कहलाई।

दमयन्ती ने विलाप करते हुए वनदेवता, गिरि-देवता और नदी-देवता का स्मरण किया और सहायता के लिए अनेक प्रकार से उन्हें पुकारा। अंत में उसे एक महासार्थ दिखाई पड़ा, जो बेंतों से भरी एक विस्तीर्ण नदी पार कर रहा था। यह वेत्रवती नदी होनी चाहिए। इस नदी को पार करके वह सार्थ चेदि जनपद की ओर जा रहा था। सार्थ का यह वर्णन संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। पांच-पांच सौ छकड़ों पर व्यापार का सामान लाद कर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करने वाले सार्थवाह यहां की समृद्धि और संस्कृति के मूल स्तम्भ थे। इस महासार्थ का नेता अनेक सार्थवाह वणिजों का स्वामी था। उसके सार्थ में वेदपारग ब्राह्मण, वणिक, युवा, स्थविर, बाल और अनेक पदाति जन थे। उसमें बैल, गधे, ऊंट, घोड़े, हाथी बहुत अधिक संख्या में चल रहे थे। वह सार्थ-मंडल मनुष्यों का समुद्र (जनार्णव) सा जान पड़ता था। वह सार्थ यक्षराज मणिभद्र का भक्त था। मणिभद्र पद्मावती (ग्वालियर राज्यमें पवाया) का प्रधान देवता था, जहां उसकी महाकाय पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है। अनुमान होता है कि सार्थ पद्मावती से चलकर बेतवा पार करके चेदि देश अर्थात् सागर-जबलपुर की ओर जा रहा था।

दमयन्ती भी उसी सार्थ के संग चलने लगी। रात में सार्थ ने नदी के कछार में पड़ाव डाला। संयोग से जंगली हाथियों का झुंड पानी पीने के

लिए उधर आ निकला और उसने मार्ग में पड़े हुए सार्थ को रोंद डाला। दमयन्ती ने अपने-आपको ही इस दुर्भाग्य का कारण समझकर बहुत विलाप किया। अगले दिन बचे हुए लोग पुनः यात्रा करने लगे और सायंकाल के समय दमयन्ती भी चेदिराज की राजधानी में पहुंच गई। वहां राजमाता ने प्रासादतल से उसे देखकर समीप बुलवाया और अपने पास रख लिया। दमयन्ती राजकुमारी सुनन्दा के साथ रहने लगी। उसने सैरन्ध्री का कर्म करना स्वीकार किया।

उधर नल घोर जंगल में प्रविष्ट हुआ। उसने कर्कोटक नाग को देखा। नाग ने अपने विष के प्रभाव से उसका वर्ण काला कर उसका आकार छिपा दिया। उसके कहने से नल अयोध्यानगरी में जाकर राजा ऋतुपर्ण के यहां अश्वाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हो गया।

यहां महाभारतकार ने अश्वाध्यक्ष का वेतन सौ शतमान (शतं शता:) प्रति मास अर्थात् पौने चार हजार कार्षापण कहा है, जो कौटिल्य में कहे हुए अश्वाध्यक्ष के वेतन अर्थात् चार हजार कार्षापण वार्षिक से लगभग मिल जाता है।

उधर दमयन्ती के पिता भीम ने नल और दमयन्ती को ढूंढने के लिए ब्राह्मणों को चारों ओर भेजा। सुदेव नामक ब्राह्मण ने चेदिपुरी में पहुंचकर दमयन्ती को उसके भ्रूमध्य में कमल के समान सुशोभित सुनहली झलकवाले लहसुन के निशान (पिप्लु) से पहचाना और राजमाता की आज्ञा से उसे विदर्भ नगर में ले आया।

पुनर्मिलन

दूसरी ओर पर्णाक नाम के ब्राह्मण ने अयोध्या नगरी में पहुंचकर दमयंती के बताये कुछ श्लोक पढ़े, जिनका उत्तर बाहुक नामधारी नल ने दिया। उस सूत्र को लेकर वह दमयन्ती के पास लौट आया। दमयन्ती तत्त्व को समझ गई। उसने अपनी माता से परामर्श किया और सुदेव नामक ब्राह्मण को संदेश लेकर अयोध्या भेजा, "हे सुदेव! तुम जाकर ऋतुपर्ण से कहो कि दमयन्ती दूसरा पति करना चाहती है। उसके लिए स्वयंवर हो रहा है। तुम कल तक वहां पहुंचो। पता नहीं, उसका पति नल अभी जीता

है या मर गया।" सुदेव के वचन सुनकर ऋतुपर्ण ने विदर्भ जाना निश्चित किया और नल से कहा, "मुझे तुम एक दिन में अपनी अश्वविद्या की चातुरी से विदर्भ पहुंचाओ।"

सब स्थिति समझकर पहले तो नल को बड़ी चोट लगी, फिर उसने राजा की आज्ञा से अपने स्वार्थ के लिए वहां जाना ही ठीक समझा। उसने राजा की अश्वशाला से लक्षणवान, तेज-बल समायुक्त, कुलशीलसम्पन्न घोड़ों को चुनकर रथ सजाया और अपने कौशल से सायंकाल तक विदर्भ पहुंच गया। मार्ग में राजा ऋतुपर्ण ने उसे अक्षविद्या सिखाई।

ऋतुपर्ण को देखकर भीम चकित हुए, क्योंकि उन्हें अपनी स्त्री और पुत्री के उस गुह्य मंत्र का कुछ पता न था। फिर भी उन्होंने ऋतुपर्ण की आवभगत की। ऋतुपर्ण ने वहां स्वयंवर की कोई धूमधाम न देखकर मन में समझ लिया और भीम से कहा कि मैं केवल आपका अभिवादन करने के लिए चला आया था।

इधर दमयन्ती ने रथशाला में ठहरे हुए नल के पास अपनी दासी केशिनी को भेजा और फिर अपने पुत्र-पुत्री को भेजा। नल ने देखते ही उन्हें गोद में उठा लिया। जब कई युक्तियों से दमयन्ती को निश्चय हो गया कि नल आगए हैं, तब उसने अपने माता-पिता को सूचित कर दिया और उनकी आज्ञा लेकर पुत्र-पुत्री के साथ नल से मिली। मिलकर दोनों शोक और हर्ष से विह्वल हो गए। इस प्रकार चौथे वर्ष में अपने पति से मिलकर दमयन्ती ऐसे हर्षित हुई, जैसे आधी उगी हुई, कृषि से युक्त भूमि वर्षा के आने से प्रफुल्लित होती है।

अगले दिन नल और दमयन्ती ने भीम की वन्दना की। वहां सब लोग प्रसन्न हुए। राजा ऋतुपर्ण ने भी नल से अज्ञातवास के समय अनजान में किये हुए किसी भी असत्कार के लिए क्षमा मांगी। नल ने अत्यन्त हार्दिक भाव से ऋतुपर्ण के प्रति अपना आभार प्रकट किया और कहा कि मैं तो स्वगृह की तरह ही आपके गृह में ठहरा। तब उसने अपनी अश्वविद्या ऋतुपर्ण को प्रदान की।

राज्यप्राप्ति

एक मास विदर्भपुरी में रहकर नल निषध लौट आया और वहां उसने पुष्कर को द्यूत के लिए पुनः ललकारा। पुष्कर ने ऊपरी आवभगत करते हुए कहा, "ठीक है। अब की दमयन्ती को दांव पर लगाइए। मैं उसीको पाकर अपने को कृतकृत्य समझूंगा। मैं नित्य उसका ध्यान करता रहा हूं।" यह सुनकर नल को इतना क्रोध आया कि खड्ग से उसका सिर काट ले, किन्तु उसने ऊपर से हँसकर कहा, "आओ, पहले खेलो, पीछे शेखी बघारना।" पहले ही दांव में नल ने उसे हरा दिया, फिर डपटते हुए कहा, "अरे नीच, तू दमयन्ती की ओर देख भी नहीं सकता। अब परिवार-सहित उसकी दासता करेगा। रे मूढ़, मेरा पूर्व कष्ट कलि के कारण हुआ था। अब मैं तेरे प्राणों की रक्षा करता हूं। जा, तू मेरे भाई की तरह सौ वर्ष जीवित रह।" यह कहकर उसे उसके पट्टनगर भेज दिया।

पुष्कर ने आभार मानते हुए हाथ जोड़कर कहा, "तुमने मुझे प्राण-दान और राज्य दिया, तुम्हारी कीर्ति अक्षय हो, तुम सहस्रों वर्ष सुख से जिओ।" यह कहकर वह अपने राज्य में चला गया। नल ने भी कुछ दिन बाद विदर्भ से दमयन्ती को बुला लिया।

इतनी कथा सुनाकर बृहदश्व ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा, "हे राजन् ! नल ने जुए के कारण अकेले रह इतना घोर दुःख उठाया, पर अन्त में अभ्युदय प्राप्त किया। तुम तो अपने भाइयों के साथ और द्रौपदी के साथ वन में रह रहे हो। अनेक महाभाग ब्राह्मण तुम्हारे साथ हैं। शोक क्यों करते हो ? तुम भी इसी प्रकार सुख से युक्त होगे।

"नल का यह इतिहास कलि-नाशन है। जो इस महान् चरित को कहता और सुनता है, वह अलक्ष्मी का भाजन नहीं होता। हे राजन् ! इस पुराने इतिहास को सुनकर तुम भी पुत्र-पौत्रों से युक्त होगे।"

नलोपाख्यान के अन्त की यह फल-श्रुति सहेतुक है। महाभारत और पुराणों में जहां-जहां फलश्रुति प्राप्त हो, उस उपाख्यान को बाद में जोड़ा हुआ समझना चाहिए। प्राचीन ग्रंथ निर्माण-शैली की यह मान्य पद्धति थी।

कथा सुनाकर बृहदश्व मुनि ने युधिष्ठिर को भी अक्ष-विद्या सिखाई और स्वयं अपने आश्रम को चले गए।

२५ : : तीर्थ-यात्रा—१

नलोपाख्यान के अनन्तर महाभारत का एक विशिष्ट प्रकरण तीर्थ-यात्रा-पर्व है। पूना के संशोधित संस्करण में अध्याय ८० से अध्याय १५३ तक कुल ७४ अध्याय इस उपपर्व में हैं, जिनके ये तीन विभाग हैं: (१) पुलस्त्य-तीर्थयात्रा (अ. ८०-८३), (२) धौम्य-तीर्थ यात्रा (अ. ८५-८८), और लोमश तीर्थ-यात्रा (अ. ८९-१५३)।

प्राचीन काल में तीर्थ भू-सन्निवेश के विशिष्ट केन्द्र थे। नदियों के निर्जन तटों पर और घने जंगलों में जब मनुष्य-समुदाय पहुंचता और बस्तियों की कल्पना की जाती तब तीर्थों का जन्म होता था। तीर्थ-स्थान जन-निवास, धर्म, विद्या, व्यापार और संस्कृति के आदि-केन्द्र बन जाते थे। पुराणों के समस्त तीर्थ-यात्रा-प्रसंगों को टटोला जाय तो उसका निश्चित फल भारत-भूमि का विशद परिचय है। तीर्थ-यात्रा द्वारा अपनी भूमि का साक्षात् दर्शन किया जाता था। तीर्थ-परिक्रमा के जो प्रसिद्ध स्थल हैं, उन्हें तीर्थ-यात्री क्रमानुसार देखता हुआ चलता था। इस प्रकार चारों दिशाओं की यात्रा या परिक्रमा का दूसरा नाम प्रदक्षिणा है। इसमें यात्री घड़ी की सूई की तरह सदा अपने दाहिने हाथ की ओर घूमता है। महाभारत के इस प्रकरण में तीर्थ-यात्राओं के तीन प्राचीन वर्णन सुरक्षित रह गए हैं।

कथा का प्रसंग इस प्रकार है: युधिष्ठिर भाइयों के साथ काम्यक वन में ठहरे हुए हैं। अर्जुन दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए तप करने चले जाते हैं। उनके विरह में सब भाई और द्रौपदी दुःखी हैं। ऐसे समय नारद युधिष्ठिर के पास आते हैं और उनके मन की ग्लानि दूर करने के लिए पुलस्त्य और भीष्म के संवाद-रूप में भारतवर्ष के तीर्थों का वर्णन करते हैं (अ. ८०-८३)। नारद के चले जाने के बाद युधिष्ठिर ने सौम्य से पूछा कि अपना जी बहलाने के लिए हम लोग वन से अन्यत्र कहां जाकर रहें। उन्हें दुःखी देखकर उन्हें सान्त्वना देने के लिए धौम्य भी एक तीर्थ-परिक्रमा का वर्णन करते हैं (अ० ८५—८८)।

इस प्रकार ये दो तीर्थ-वर्णन हमारे सामने हैं। पुलस्त्य के तीर्थ-वर्णन में ५९८ श्लोक और धौम्य के तीर्थ-यात्रा-पर्व के चार अध्यायों में केवल

१०२ श्लोक हैं। वस्तुत: धौम्य की तीर्थ-यात्रा ही महाभारत का मूल अंश था। वह अधिक प्राचीन, संक्षिप्त और क्रमबद्ध है।

धौम्य की तीर्थ-यात्रा काम्यक वन से चलकर पूर्व में गया और महेन्द्र एवं पश्चिम में पुष्कर और द्वारका तक जाती है। दक्षिण की ओर उसका विस्तार कन्याकुमारी तक है। पुलस्त्य की तीर्थ-यात्रा का क्षेत्र पूरब में कामरूप और पश्चिम में सिन्धु-सागर-संगम तक है। दक्षिण में यह भी कन्याकुमारी तक जाती है। पुलस्त्य की तीर्थ-यात्रा के साथ वक्ता-रूप में नारद का नाम जुड़ा हुआ है। विदित होता है कि यह प्रसंग गुप्त-काल के लगभग जोड़ा गया। उसके बाद में जोड़े जाने का एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि धौम्य-तीर्थ-यात्रा के अन्त में फलश्रुति का एक श्लोक भी नहीं है, किन्तु नारद-पुलस्त्य तीर्थ-यात्रा के अन्त में नियमानुसार फलश्रुति दी हुई है (अ० ८३।८४-८७)।

उन दोनों तीर्थ-यात्राओं को सुनने के बाद युधिष्ठिर लोमश ऋषि का अपने आश्रम में स्वागत करते हैं और पथ-प्रदर्शन के लिए उन्हें साथ लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकलते हैं। इसका वर्णन अनेक अवान्तर कथाओं के साथ ६५ अध्यायों (अ. ८९-१५३) में पाया जाता है। देश की चारों दिशाओं का यथा-सम्भव दर्शन इन तीर्थों के ही अन्तर्गत आ जाता है। उन्हें पढ़ने से मन पर यह छाप पड़ती है कि बदरी-केदार एवं कैलास-मानसरोवर से लेकर दक्षिण दिशा में कन्याकुमारी तक की भूमि एक अखण्ड भौतिक एवं धार्मिक संस्थान के अन्तर्गत मानी जाती थी।

धौम्य-तीर्थयात्रा

काम्यक वन से उठकर पूरब की दिशा में पहले नैमिषारण्य है, जहां पवित्र गोमती नदी है। इसी दिशा में गंगा नदी, पंचाल, गया, भलगु नदी और कौशिकी नदी हैं। इसी ओर कान्यकुब्ज और प्रयाग में गंगा-यमुना का संगम है। इसी ओर पूरब दिशा में महेन्द्र पर्वत है। कालंजर पर्वत पर शिव का परम स्थान है। ज्ञात होता है कि कालंजर से उड़ीसा के महेन्द्र पर्वत तक का मार्ग इस यात्रा के समय तक खुल गया था। आजकल का रेल-मार्ग जो मैहर, कटनी, रतनपुर, बिलासपुर और रायपुर होता हुआ

गंजाम से मिलता है, लगभग वही है। दक्षिण कोसल का यह प्रदेश उस समय आर्य उपनिवेश के अन्तर्गत आ चुका था।

दक्षिण दिशा के तीर्थों में ये नाम हैं—गोदावरी, वेणा (वर्तमान वेन गंगा), भीमरथी, पयोष्णी, प्रवेणी (वर्तमान पेन गंगा), शूर्पारक। ये नाम पुराने पथों की ओर संकेत करते हैं। एक ओर दक्षिण कोसल से गोदावरी तक का मार्ग जो वेन गंगा के पूरब में था और दूसरा गोदावरी से पश्चिम की ओर विदर्भ में होता हुआ कोंकण में शूर्पारक तक का मार्ग।

इसके बाद धुर दक्षिण के तीर्थों में पांड्य देश में अगस्त्य तीर्थ का उल्लेख है, जो समुद्रतट का अगस्त्येश्वर ज्ञात होता है। उसी के समीप कुमारी और ताम्रपर्णी नदी थी। कन्याकुमारी से उत्तर घूमकर पश्चिमी समुद्र के किनारे उत्तरी कनाड़ा प्रदेश में गंगवती नदी और समुद्र के संगम पर गोकर्ण तीर्थ है। यहां अगस्त्य के शिष्य तृणसोमाग्नि का आश्रम था। इसके बाद इसी दिशा के सिलसिले में सुराष्ट्र के तीर्थों का उल्लेख है, जिनमें प्रभास, पिंडारक, उज्ज्यन्त पर्वत और द्वारावती मुख्य हैं। ज्ञात होता है कि पश्चिम और दक्षिण के लम्बे समुद्र तट का मार्ग उस प्राचीन समय से ही काम में आने लगा था, जबकि भीतर के जंगलों में आर्यों का प्रवेश नहीं हुआ था। द्वारका, प्रभास, शूर्पारक, कोंकण और कन्याकुमारी ये पांच समुद्र-तटवर्ती स्थान जलीय यातायात के लम्बे मार्ग की सूचना देते हैं।

पश्चिम दिशा में अवन्ति जनपद, पश्चिम वाहिनी नर्मदा, पारा नदी और पुष्कर ये नाम निश्चित रूप से पहचाने जा सकते हैं। पुष्कर इस दिशा की अन्तिम हद था। इस यात्रा के उत्तर की ओर सरस्वती और यमुना के उद्‌गम का प्रवेश, प्लक्षावतरण तीर्थ, गंगा द्वार, कनखल, भृगुतुंग और विशाला बदरी ये मुख्य तीर्थ थे।

यात्रा के अन्त में आध्यात्मिक धरातल से कहा गया है, "वहीं सच्चा तीर्थ है और वहीं सब धाम हैं, जहां नारायण सनातन देव विद्यमान हैं। वहीं तपोधन देवर्षि और सिद्धों के पवित्र तीर्थ हैं, जहां महान् योगीश्वर आदिदेव मधुसूदन का निवास है।"

पुलस्त्य-तीर्थ-यात्रा

इस प्रकरण के आरम्भ में ही तीर्थ के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की व्याख्या की गई है। जिसके हाथ, पैर और मन सुसंयत हैं, जिसमें विद्या, तप और कीर्ति है, वह तीर्थ का फल पा लेता है। जो दान नहीं लेता, आत्म-सन्तोषी, पवित्र, नियमों का पालन करनेवाला और अहंकार से रहित है, वह तीर्थ का फल पाता है। जो दम्भरहित, त्यागी, जितेन्द्रिय, स्वल्पाहारी और सब दोषों से मुक्त है, वह तीर्थ का फल पाता है। क्रोधरहित, सत्य-शील, व्रतों में दृढ़ और सब प्राणियों को समान जाननेवाला मनुष्य तीर्थ का फल पाता है (आरण्यक ८०।३०-३३)

पुलस्त्य-तीर्थ-यात्रा-पर्व के अन्तर्गत भूगोल का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। कितने ही नए तीर्थों के नाम उसमें आते हैं। वे स्थान जिनकी पहचान निश्चित है, ये हैं—पुष्कर, पुष्करारण्य (पुष्करणा), जम्बू (अर्बुद-पर्वत पर), महाकाल, नर्मदा, दक्षिण सिन्धु, चर्मवती, अर्बुद, प्रभास, सरस्वती सागर-संगम, द्वारवती (द्वारका), पिंडारक एवं सिन्धु और समुद्र का संगम। इसके बाद उत्तर दिशा में इन स्थानों के नाम हैं—पंचनद, देविका (पंजाब की देग नदी), विनशन (मरुपृष्ठ पर सरस्वती के अदर्शन का स्थान), कुरुक्षेत्र, पुंडरीक (वर्तमान पुंडरी), सर्पदमन (सफीदों), आपगा नदी (स्यालकोट की अयक नदी), कपिष्ठल (कैथल), दृषद्वती (घग्घर), व्यासस्थली, विष्णुपद, सप्त-सारस्वत-तीर्थ, पृथूदक (पिहोवा) और सन्निहिती (कुरुक्षेत्र का सन्निहित ताल)।

इसके अनन्तर हिमालय के कुछ पुराने तीर्थों के नाम हैं, जैसे गंगाद्वार, कनखल, गंगा (धौली गंगा) और सरस्वती (विष्णु गंगा) का संगम (वर्तमान विष्णु प्रयाग), रुद्रावर्त (रुद्र प्रयाग), भद्रकर्णेश्वर (कर्ण प्रयाग), यमुनापर्वत (बन्दर पूंछ), सिन्धु का उद्गम, ऋषिकुल्या (ऋषिगंगा) और भृगुतुंग (तुंगनाथ)।

पूर्व दिशा के तीर्थों में कई नाम ऐतिहासिक महत्व के हैं—गोमती-गंगा-संगम (काशी के समीप मार्कण्डेय स्थान), योनिद्वार (गया का ब्रह्म-योनि तीर्थ), गया, फल्गु, राजगृह, तपोद (राजगृह में गरम पानी के चश्मे), मणिनाग (राजगृह में मणियार नाग का मठ), जनकपुर, गंडकी, विशाला

नदी (सम्भवतः वैशाली), नारायण तीर्थ (गंडकी नदी के किनारे जहां से शालिग्राम की बटिया आती हैं), कौशिकी (कोसी), चम्पारण्य (चम्पारन), गौरी शिखर (गौरीशंकर चोटी), ताम्रा और अरुणानदी का संगम, कोशिकी (सुन कोशी और अरुणा का संगम), कोकामुख-तीर्थ (ताम्रा, अरुणा और कौशिकी इन तीनों के संगम के समीप), चम्पा (भागलपुर), संवेद्या तीर्थ (सदयिा), लोहित्य (आसाम की लोहित नदी), करतोया (बोगरा की प्रसिद्ध नदी, जो गंगा की धारा पद्मा में मिलती है), और अन्त में गंगा और सागर का संगम, जिसे आज भी गंगा-सागर कहते हैं।

इन स्थानों के सिलसिले में दो भौगोलिक मार्ग मुख्यतः दृष्टि में आते हैं। एक मार्ग गंगा के उत्तर कोसल देश से लोहित्य तक चला गया था। यह पुराना रास्ता था। कालिदास ने रघु-दिग्विजय में इसी मार्ग का वर्णन किया है। अतएव रघु को दक्षिण की ओर जाने के लिए गंगा के स्रोतों को पार करने की आवश्यकता पड़ी थी। दूसरा मार्ग गगा के दक्षिण जाता हुआ मगध को पूरब में गंगा-सागर-संगम के साथ, पश्चिम में मध्यदेश के साथ और दक्षिण-पश्चिम में दक्षिण कोसल के साथ मिलाता था।

इस तीसरे मार्ग का अनुसरण करते हुए यात्रा में निम्नलिखित स्थानों का उल्लेख है :

मगध से दक्षिण-पूर्व की ओर वैतरणी नदी और पश्चिम-दक्षिण की ओर शोण और नर्मदा का उद्गम-स्थान है। गया से पश्चिम यह मार्ग शोण के किनारे-किनारे चलता था। फिर जहां शोण और उसकी शाखा नदी जोहिला (प्राचीन ज्योतिरथा) मिलती है, वहां दक्षिण घूमकर नर्मदा के दक्षिण चेदि जनपद को पार करके एक मार्ग पश्चिम में विदर्भ तक जाता था, जिसकी राजधानी वंशगुल्म (आधुनिक बासिम) का इस प्रकरण में उल्लेख हुआ है। दूसरा रास्ता शोण के उद्गम के पास से बिलासपुर होता हुआ दक्षिण कोसल में घूमता था। कोसल का एक बड़ा केन्द्र उस काल में ऋषभ तीर्थ कहा गया है (ऋषभतीर्थमासाद्य कोसलायां, नराधिप, आर० १८३।१०)। ऋषभ तीर्थ बिलासपुर और रायगढ़ के बीच वर्तमान शक्ति रियासत के गुंजीगांव का उसभतीर्थ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तीर्थ-यात्रा के मार्ग, भू-सन्निवेश के

मार्ग और व्यापारिक यातायात के मार्ग बहुत करके एक ही थे। तीर्थों के क्रमबद्ध अध्ययन और पहचान की कुंजियां भौगोलिक मार्गों में छिपी हैं। ज्ञात होता है कि महाभारत के इस प्रकरण का लेखक एक स्थान में खड़े होकर मार्गों के चौमुखी फटाव को देख रहा है, उसके वर्णन के सब सूत्र चारों दिशाओं से आकर एक केन्द्र-स्थान पर मिल रहे हैं। मगध से कलिंग और मगध से मेकल होकर विदर्भ-कोसल के दोमुंही रास्तों का ऐसा स्पष्ट उल्लेख जैसा यहां है, अन्यत्र नहीं पाया जाता।

इस यात्रा-प्रकरण के कुछ तार अभी बच जाते हैं—जैसे (१) दक्षिणी अंचल के तीर्थ, (२) दक्खिन के पठार के तीर्थ और (३) मध्यदेश के अंतर्गत तीर्थ। संक्षेप में ये तीनों इस प्रकार थे : उड़ीसा की वैतरणी नदी से दक्षिण घूमकर एक रास्ता समुद्र के किनारे महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा का आधुनिक महेन्द्रगिरि) और श्री पर्वत (कृष्णा नदी के समीप श्री शैल, वर्तमान नागार्जुनी कनाड़ा) के पास होता हुआ पांड्य देश तक चला गया था। वहां कावेरी और कन्याकुमारी को मिलाता हुआ यह सामुद्रिक मार्ग उत्तरी कनाडा के उसी गोकर्ण तीर्थ में जा मिलता था, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। दक्षिणी पठार के अन्तर्गत तीर्थों में हम पुनः उसी प्राचीन भूगोल को देखते हैं, जिसमें गोदावरी से पश्चिम की ओर जानेवाला मार्ग वरदा और वेणा (वेनगंगा) के कांठों में होकर विदर्भ से सोपारा जा निकलता था। तीर्थों का तीसरा गुच्छा मध्यदेश के दक्षिणी अंचल में कालिंजर-चित्रकूट-मन्दाकिनी से शुरू होकर शृंगवेरपुर होता हुआ प्रयाग और प्रतिष्ठान (झूसी) को मिलाता था और पुनः वही प्रयाग से काशी की ओर दशाश्वमेध तक चला जाता था। यही संक्षेप में पुलस्त्य का कहा हुआ तीर्थ-यात्रा-प्रकरण है। इसमें वंशगुल्म, ऋषभ तीर्थ, श्रीपर्वत और दशाश्वमेध नामों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह प्रकरण गुप्त काल के आसपास की भौगोलिक संज्ञाओं को लेकर रचा गया हो और इस प्रसंग में रख दिया गया हो, जबकि पुराना प्रकरण भी धौम्य यात्रा के रूप में अपनी जगह पड़ा रह गया।

धौम्य इस प्रकार पृथिवी के तीर्थ और पुण्य आयतनों का वर्णन कर ही रहे थे कि उसी समय लोमश ऋषि वहां आ पहुंचे। उन्होंने कहा, "मैं इन्द्र-लोक से आ रहा हूं। वहां मैंने अर्जुन को इन्द्र के साथ अर्द्धासन पर बैठे

देखा । इन्द्र के कहने से मैं यहां आया हूं ।" अर्जुन ने शिव से ब्रह्मशिर नाम का रौद्र अस्त्र प्रयोग और संहार के मंत्रों-सहित प्राप्त कर लिया है। यम, कुबेर, वरुण तथा इन्द्र से और भी दिव्य अस्त्र उसने प्राप्त किये हैं एवं नृत्य, गीत और वादित्र की शिक्षा भी विश्वावसु गन्धर्व के पुत्र चित्रसेन से प्राप्त कर ली हैं। वह एक महान् देवकार्य सम्पन्न करके शीघ्र लौटेगा। तबतक तुम भाइयों के साथ तप के कार्य में लगो। तीर्थयात्रा करने में जो तपोयुक्त फल मिलता है, उसका वर्णन लोमश तुमसे करेंगे। उनकी बात पर श्रद्धा करना।"

यों इन्द्र का संदेश सुनाकर लोमश ने इतना और कहा, "अर्जुन ने भी मुझसे कह दिया है कि आप मेरे भाइयों को तीर्थयात्रा पर ले जायं और बराबर साथ रहकर उनकी रक्षा करते रहें। अतः मैं इन्द्र और अर्जुन के कहने से तुम्हारे साथ तीर्थयात्रा पर चलूंगा।

इन्द्र और अर्जुन की सिफारिश लेकर लोमश का पहुंचना और अपने साथ पाण्डवों को तीर्थ-यात्रा पर ले जाना, कथाप्रवाह में यह पैबन्द कुछ विचित्र-सा लगता है।

२६ :: तीर्थ-यात्रा—२

तीर्थयात्रा के लिए लोमश के सुझाव का युधिष्ठिर ने उत्साह से स्वागत किया और वह प्रसन्न मन से चल पड़े। चलने से पहले लोमश ने युधिष्ठिर को सलाह दी कि यात्रा पर बोझ के बिना हलके होकर चलना चाहिए। जो हलका है, वह अपनी इच्छानुसार यात्रा कर सकता है :

गमने कृतबुद्धिं तं पांडवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥

(आरण्यक, ९०।१८)

लोमश ने कहा, "मैं स्वयं दो बार तीर्थों को देख चुका हूं। आपके साथ तीसरी बार फिर देखूंगा। पुण्यात्मा मनु आदि राजर्षि भी इस तीर्थ-यात्रा पर जा चुके हैं :

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा।।

तीर्थयात्रा मनुष्य के मन का डर हटा देती है। सच है, यात्रा का यही बड़ा फल है। अपरिचित स्थानों और वहां के निवासियों के प्रति मन में जो शंका रहती है वह देश-दर्शन से मिट जाती है और अज्ञात भय के स्थान में प्रीति का संचार हो जाता है। तीर्थयात्रा की परम्परा को मनु आदि राजर्षियों तक ले जाना इस संस्था के महत्त्व और इसके प्रति सबकी पूज्य बुद्धि को सूचित करता है।

युधिष्ठिर अपने भाई, द्रौपदी, पुरोहित धौम्य, लोमश और कुछ वन-वासी ब्राह्मणों के साथ तीर्थयात्रा पर निकले। पहले तीन दिन तक वे काम्यक वन में ही मन और शरीर की शुद्धि के लिए नियमों का पालन करते हुए ठहरे। उस समय व्यास, नारद और पार्वती भी उनसे मिलने आये। व्यास ने समझाया, "मन में पवित्रता का संकल्प लेकर शुद्ध भाव से तीर्थों में जाना चाहिए। शरीर द्वारा नियम-पालन और शुद्धि मानुषी व्रत हैं, किन्तु मन द्वारा बुद्धि को शुद्ध रखना दैवी व्रत है। जो क्षत्रिय स्वभाव के शूर होते हैं, उनका मन पर्याप्त मात्रा में शुद्ध कहा जा सकता है। अत-एव मेरा यही कहना है कि तुम अपने मन में सबके प्रति मैत्री का भाव भरकर तीर्थों में जाओ। शारीरिक नियम और मानसी शुद्धि का निर्वाह करने से तुम्हें तीर्थयात्रा का पूरा फल मिलेगा।"

इस प्रकार मार्गशीर्ष की पूर्णमासी बीतने पर अगले दिन पुष्य नक्षत्र में वल्कल-चीर, मृगचर्म और जटा धारण करके उन्होंने प्रस्थान किया। साथ में इन्द्रसेन-प्रमुख उनके निजी भृत्य, कुछ रसोइये और परिचारक तथा चौदह रथ भी चले।

पूर्व की ओर चलते हुए वे क्रमशः नैमिषारण्य में पहुंचे, जहां गोमती नदी के पुण्य तीर्थ हैं। वहां से कन्यातीर्थ (सम्भवतः कान्यकुब्ज), अश्व-तीर्थ (कन्नौज के समीप गंगा-कालिन्दी-संगम), गोतीर्थ, बालकोटि और वृषप्रस्थ गिरि होते हुए उन्होंने बाहुदा नदी में स्नान किया। बाहुदा की पहचान के विषय में मतभेद है, पर सम्भवतः यह रामगंगा थी। वहां से आगे देवयजन-भूमि गंगा-यमुना के संगम प्रयाग में पहुंचे। यहीं प्रजापति

की यज्ञ-वेदी थी। इसके अनन्तर प्रयाग से दक्षिण की ओर के स्थान मही-धर का उल्लेख है, जो वर्तमान मैहर का पुराना नाम था। पूरब की ओर राजर्षि गय के तीर्थ गयशीर्ष का उल्लेख है। वहां भी एक अक्षयवट था। यहां पांडवों ने एक चातुर्मास्य बिताया।

इसी प्रसंग में महाभारत की दृष्टि पुन: दक्षिण की ओर जाती है और वह अगस्त्य-आश्रम का वर्णन करते हैं। यह स्थान कालिंजर के बीच में कहीं था। महाभारत में अगस्त्य-आश्रम को दुर्जयापुरी कहा गया है। प्रयाग से लेकर नासिक तक एवं उससे भी आगे दक्षिणी समुद्र तक अगस्त्य के आश्रमों की परम्परा कई स्थानों में बताई जाती है। यहां अगस्त्य-आश्रम के समीप ही भागीरथी का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि प्रयाग के दक्षिण की ओर गंगा के कछार में कहीं एक अगस्त्य-आश्रम था। मणिमती-पुरी में रहनेवाले इल्वल और उसके भाई वातापि के उपद्रव को अगस्त्य ने शांत किया था। विदर्भराज की पुत्री लोपामुद्रा ने अगस्त्य को अपना पति चुना। तब दोनों ने गंगा-द्वार में जाकर तप किया और उनसे दृढ़स्यु इध्म-वाह नामक पुत्र हुआ। अगस्त्य की कथा संक्षेप में सुनकर युधिष्ठिर ने फिर विस्तार से उसी कथा को जानना चाहा।

अगस्त्य और गंगा के उपाख्यान

महाभारत के विस्तृत प्रवाह में कई बार हमें इसी प्रकार कथाओं का संक्षिप्त रूप और फिर बृहत रूप मिलता है। अवश्य ही बृहत रूप (अ० ९९-१०८) बाद में जोड़ा हुआ है। ग्रंथकर्ताओं ने सचाई से कथा के दोनों रूपों को एक साथ रहने दिया है। अगस्त्य-उपाख्यान का यह बृहत संस्करण पंचरात्रों के प्रभाव का फल है, जैसाकि नारायण और उनके वाराह, नरसिंह, वामन आदि अवतारों के उल्लेख (१००।१७-२१) से सूचित होता है।

कृतयुग में कालेय नामक दानव थे, जिनका नेता वृत्र था। देवता जब उनसे त्रस्त हुए तब ब्रह्मा ने उपाय बताया कि दधीचि की अस्थिओं का वज्र बनाकर वृत्र का वध करो। नारायण को आगे करके देवता सरस्वती तट पर दधीचि के आश्रम में पहुंचे और वरदान में उनकी अस्थियां प्राप्त कीं।

सनातन विष्णु के स्वतेज से पुष्ट होकर इन्द्र ने उस वज्र से वृत्र का नाश किया। फिर कालेय असुर समुद्र की ओर चले गए और वहां से वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज आदि के आश्रमों में छुटपुट हमलों से ऋषियों का नाश करने लगे। देवता पुनः नारायण की शरण में आये। विष्णु ने कहा, "समुद्र के आश्रय से सुरक्षित असुरों के नाश का एक ही उपाय है कि अगस्त्य समुद्र को सुखा डालें।" देवताओं की प्रार्थना से अगस्त्य ने इसे स्वीकार किया। मार्ग में उन्होंने विंध्य-पर्वत का गर्व-दलन किया। विंध्य पर्वत ने एक बार सूर्य को ललकारा कि जैसे तुम मेरु की प्रदक्षिणा करते हो वैसे, ही मेरी भी करो। सूर्य ने कहा कि मैं कुछ नहीं करता, यह तो ब्रह्मा का विधान है।

विंध्य ने क्रोध से ऊंचे उठकर सूर्य और चन्द्र का मार्ग रोकना चाहा। लोपामुद्रा के साथ अगस्त्य आये और बोले, "हमें दक्षिण की ओर जाने का मार्ग दो और हमारे आनेतक प्रतीक्षा करना।" अगस्त्य दक्षिण से आज-तक नहीं लौटे और विंध्याचल का बढ़ना भी रुक गया। समुद्र के पास पहुंचकर अगस्त्य ने असुर-विनाश के लिए समुद्र को सोख लिया। असुरों का नाश तो होगया, किन्तु जलहीन समुद्र को पुनः भरने की चिन्ता देवताओं को हुई। विष्णु के साथ वह ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने कहा, "दीर्घकाल के बाद समुद्र फिर अपनी प्रकृति को प्राप्त करेगा। महाराज भगीरथ इसमें योग देंगे।"

युधिष्ठिर के पूछने पर लोमश ने सगर और भगीरथ की कथा सुनाई। सगर के यज्ञ का अश्व समुद्र के किनारे कहीं अदृश्य हो गया। उसे ढूंढ़ते हुए उसके साठ हजार पुत्रों ने समुद्र को खोद डाला और अन्त में महात्मा कपिल के आश्रम में वह अश्व दिखाई दिया। उन्होंने कालवश कपिल का अनादर किया और वे कपिल के नेत्रों की अग्नि से भस्म हो गए। सगर का दूसरा पुत्र असमंजस अत्याचारी था। पुरवासियों के कहने से राजा ने उसे निकाल दिया। तब सगर का पौत्र अंशुमान कपिल के आश्रम में गया। उसने ऋषि को प्रसन्न करके अश्वमेध का घोड़ा प्राप्त किया, जिससे सगर का यज्ञ पूरा हुआ। अंशुमान के पुत्र दिलीप और दिलीप के भगीरथ हुए। भगीरथ ने गंगा को भूतल पर लाने के लिए सुदीर्घ तप किया। तब हैमवती गंगा प्रत्यक्ष हुई। भगीरथ ने अपने पूर्वजों के उद्धार के लिए देवनदी गंगा

से पृथिवी पर आने की प्रार्थना की। गंगा के भार को सम्हालने के लिए भगीरथ ने कैलास पर्वत पर शंकर को प्रसन्न किया। इस प्रकार गंगा आकाश से भूतल पर आईं। उन्होंने भगीरथ से कहा, "महाराज, आपके लिए मैं पृथिवी पर आई हूं। मुझे मार्ग दिखाइए।" यह सुन भगीरथ मार्ग दिखाते हुए गंगा को समुद्र तक ले गए और गंगा ने पांच सौ नदियों की सहायता से समुद्र को भर दिया।

भगीरथ की तपश्चर्या से प्रसन्न गंगा वरदान के रूप में आकाश से पृथिवी पर आईं—यह कथा भारतीय उपाख्यान-निर्माताओं की विलक्षण प्रतिभा का फल थी। भारतीय भूमि, जन और संस्कृति की धात्री गंगा के लिए जो भी कहा जाय, कम है। हमारी भाषा गंगा की प्रशंसा में अपने शब्दों का पुष्पोहार अर्पित करके पूरी तरह उऋण नहीं हो सकती। दिलीप और भगीरथ-जैसे राजर्षियों ने तप द्वारा गंगा के अवतरण में भाग लिया, इससे अधिक गंगा की महिमा में और क्या कहा जा सकता है।

गंगा का भूगोल

वस्तुतः हिमालय में गंगा के भूगोल का विशद परिचय प्राचीन भूगोल-वेत्ताओं को था। आगे चलकर कनखल और उसके समीप गंगा का पुनः विस्तृत उल्लेख (१३५-५) किया गया है। वहीं विशालबदरी और यक्षेन्द्र माणिभद्र की पुरी एवं यक्षराट कुबेर की पुरी का उल्लेख (१४०।४) है। इस स्थान का प्राचीन नाम मन्दरगिरि या मन्दराचल था। कुबेर की अलकापुरी और माणिभद्र या माणिचर यक्ष की राजधानी माणा आजतक बदरी-केदार के भूगोल की जानी-पहचानी संज्ञाएं हैं। हिमालय के इस प्रदेश में गंगा को सप्तविधा कहा है (१४०।२)। हिमालय की अधित्यका में गंगा की जो कई शाखा-नदियां हैं, उन्हींको लक्ष्य करके प्राचीन भारतीय भूगोल का 'सप्तगंगम्' प्रयोग प्रसिद्ध हुआ। गंगा नाम देवप्रयाग से आरम्भ होता है, जो कि हिमालय में पांचवां प्रयाग है। यामुन पर्वत (वर्तमान बन्दर-पूंछ) से लेकर नन्दादेवी तक गंगा का प्रस्रवण-क्षेत्र फैला है। उसके पूर्व और प्रश्चिम दो भाग हैं। पूर्व के क्षेत्र में बदरीनाथ की ओर से विष्णुगंगा आती है, जिसे सरस्वती भी कहते हैं, और द्रोणगिरि के समीप पश्चिम से

धौलीगंगा की धारा आई है, जो जोशीमठ के पास विष्णुगंगा में मिलती है। उस संगम का नाम विष्णु-प्रयाग है। इससे कुछ ही पहले नन्दादेवी पर्वत से आनेवाली ऋषिगंगा धौलीगंगा में मिली है। विष्णुप्रयाग के बाद संयुक्त धार अलकनन्दा कहलाती है। कुछ दूर आगे चलकर नन्दाकना पर्वत से आई हुई नन्दाकिनी अलकनन्दा में मिली है। इस दूसरे प्रयाग का नाम नन्दप्रयाग है।

तीर्थयात्रा पर्व में गंगा के प्रस्रवण-क्षेत्र का वर्णन करते हुए नन्दा और अपरनन्दा इन दो नदियों का उल्लेख आया है। नन्दा के स्रोत का नाम ऋषभकूट महागिरि था, जिसका दर्शन अशक्य और अधिरोहण अत्यन्त दुर्गम कहा गया है। इस ऋषभकूट की पहचान नन्दादेवी से होनी चाहिए, जिसकी ऊंचाई २५,६५० फुट है और जो हिमालय की ऊंची चोटियों में अत्यन्त ठाड़ी और दुर्दान्त है। इस प्रकार ऋषभकूट पर्वत या नन्दादेवी से निकलने वाली ऋषिगंगा नदी नन्दा होनी चाहिए और नन्दाकना से आनेवाली नदी अपरनन्दा। ऋषिगंगा नाम का कारण भी महाभारत की कथा के अनुसार यह था कि ऋषभकूट पर्वत पर ऋषभ नाम के एक ऋषि ने अपना आश्रम बनाया। उन्हें एकान्तवास और मौन प्रिय था। उन्होंने यह नियम बनाया कि कोई यहां आकर शब्द न करे। वायु तक को उन्होंने आदेश दिया कि किसी भी प्रकार का शब्द न हो। यदि कोई पुरुष वहां कुछ शब्द करना चाहे तो मेघ उसे रोक देते थे। कहा जाता है कि एक बार देवता नन्दा नदी के समीप पहुंच गए। उनके पीछे देव-दर्शन के इच्छुक कुछ मनुष्य भी वहां जा पहुंचे। देवों को यह अच्छा न लगा। तबसे उन्होंने नन्दादेवी के इस प्रदेश को मनुष्यों के लिए अगम्य बना दिया। नन्दादेवी की जो ऊबड़-खाबड़ स्थली है, उसके साथ इस अनुश्रुति का मेल ठीक बैठता है। आज भी पर्वतारोहियों के लिए यह महागिरि अत्यन्त दुर्गम माना जाता है।

नन्दप्रयाग के बाद नन्दाकोट और त्रिशूलशिखरों के जलों को लेकर पिण्डरगंगा कर्णप्रयाग के संगम पर अलकनन्दा से मिलती है। इससे आगे चौथा प्रयाग रुद्रप्रयाग है, जहां केदारनाथ पर्वत की ओर से आनेवाली मन्दाकिनी अलकनन्दा में मिली है। उसके आगे टिहरी-गढ़वाल में गंगोत्री की

ओर से आई हुई भागीरथी देवप्रयाग में अलकनन्दा से मिलती है और उनकी संयुक्त धारा गंगा नाम लेकर ऋषिकेश होती हुई कनखल में हिमालय से भूतल पर उतरी है। इसीको गंगाद्वार भी कहते हैं।

जिस समय पांडव तीर्थयात्रा करते हुए गंगाद्वार में पहुंचे, उस समय युधिष्ठिर ने भी भीम से कहा, "यहां से आगे हिमालय का जो प्रदेश है, वह अत्यन्त दुर्गम और जोखिम से भरा हुआ है। अच्छा हो, तुम द्रौपदी को लेकर यहीं गंगाद्वार में ठहरो और हम इस हिमालय के भीतरी प्रदेश के दर्शन करके लौट आयं।" (१११७)

द्रौपदी ने इसे स्वीकार न किया। किन्तु अभी पिछली शताब्दी तक जब यातायात के साधन और हिमालय के पथ इतने सुलभ न हुए थे तबतक बदरी-केदारखंड की यात्रा बड़े साहस का काम समझी जाती थी और उसमें जोखिम भी पूरा था। फिर भी द्रौपदी की तरह अनेक स्त्री-पुरुष अपने संकल्प-बल से वहां जाते ही थे।

लोमश-तीर्थयात्रा के इस प्रकरण का भौगोलिक वर्णन ऊपर से उलझा हुआ जान पड़ता है। इसका केन्द्र हिमालय पर गंगा का प्रस्रवण-क्षेत्र है, जहां से भूगोल का सूत्र बार-बार छिटककर फिर उसी बिन्दु पर आ मिलता है। ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न दिशाओं में यात्रा की कई पट्टियां उपाख्यानों के इस जमघट में आगे-पीछे जमा दी गई हैं। यही कारण है जो गंगा, कैलास और विशाल-बदरी का भूगोल इस एक ही प्रकरण में कई बार यहां आगया है, मानो कथा-प्रसंग के निर्माण में कई कारीगरों का हाथ रहा हो, जो सब अपनी बात कहना और पारस्परिक असंगति को न देखते हुए ग्रंथ में रखना भी चाहते थे। महाभारत के कलेवर का जो उपबृंहण हुआ, उसमें रचना-शैली की यह विशेषता प्राय: मिलती है।

यात्रा की पहली पट्टी नन्दा-अपरनन्दा से हटकर पूरब में कौशिकी नदी (वर्तमान कोसी) और वहां से गंगा-सागर-संगम (११४।१-२) चली जाती है। कौशिकी या कोसी उत्तरी विहार और पूर्वी नेपाल की बड़ी विशेषता है। कौशिकी के तट पर विश्वामित्र का आश्रम कहा जाता है। (११०।१)। आजकल विश्वामित्र का मुख्य आश्रम बक्सर के समीप चरित-वन में माना जाता है।

ऋष्यशृंग उपाख्यान

यहीं अंग की राजधानी चम्पा से तीन योजन दूर ऋष्यशृंग का आश्रम था। वर्तमान भागलपुर से २८ मील पश्चिम ऋषिकुंड नामक स्थान में यह आश्रम बताया जाता है, जहां प्रति तीसरे वर्ष ऋष्यशृंग के नाम से मेला लगता है। ऋष्यशृंग की कथा बौद्ध जातकों में भी रोचनात्मक ढंग से कही गई है। काश्यप-गोत्रीय विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग का जन्म वन में घूमती हुई उर्वशी अप्सरा से हुआ। कथा है कि उर्वशी को देखकर ऋषि स्खलित हुए और उनका तेज सरोवर में पानी पीती हुई मृगी के गर्भ में पहुंचकर पुत्र-रूप में उत्पन्न हो गया। स्पष्ट शब्दों में कहें तो यह कहानी घड़ने का हथकण्डा मात्र है। वस्तुतः जो ऋषि जंगल में आश्रम बनाकर एकान्त-वास करते और उस अवस्था में किसी सुन्दरी के साथ अपने संयम से हाथ धो बैठते थे, उनके लिए किसी अप्सरा की या उसीसे मिलती-जुलती कल्पना प्राचीन कहानी-कला की मान्य पद्धति हो गई थी। घर-गृहस्थी के बरतन-भांडों से बिलकुल अलग रहनेवाले विभाण्डक मुनि ने भी इसी प्रकार किसी वनचारिणी स्त्री को हरा किया, जिसके फलस्वरूप ऋष्यशृंग का जन्म हुआ। वन में पोषित ऋषिपुत्र ने कभी स्त्री का दर्शन नहीं किया था। स्त्री क्या है, इससे वह अनभिज्ञ रहे। उधर अंगदेश के राजा लोमपाद के राज्य में वृष्टि नहीं हुई। मंत्र-कोविद सचिवों ने कहा कि यदि मुनिपुत्र ऋष्यशृंग आपके राज्य में आ जायं तो वृष्टि होगी। यह सुनकर राजा ने वारवनिताओं को बुलकर यह काम सौंपा। वे बजरे पर तैरता हुआ सुन्दर आश्रम बनाकर काश्यपाश्रम के समीप पहुंचीं। उनमें से एक सुन्दरी युवती ने काश्यप की अनुपस्थिति में पहुंचकर ऋष्यशृंग से कहा, "हे मुनि, आपके यहां तपस्वी तो कुशल से हैं? फल-मूल पर्याप्त होते हैं? आपका मन आश्रम में लगता है? तापसों का तप भली प्रकार होता है? आपके पिता आपसे प्रसन्न हैं? आपका स्वाध्याय तो सकुशल है?" ऋष्य-शृंग रूप से कौंधती हुई उस विद्युत को देखकर कुछ न समझ सके कि यह क्या है। उन्होंने कहा, 'हे ब्रह्मचारिन्! आपके मुख की कैसी अपूर्व ज्योति है! आपका, आश्रम कहां है? आपका मैं अभिवादन करता हूं और आपके लिए पाद्य एवं कुशासन अर्पित करता हूं।" उस युवती ने कहा,

"मेरा आश्रम इस पर्वत के उस ओर तीन योजन पर है। हम किसीका अभिवादन नहीं लेतीं, यह हमारा स्वधर्म है और न किसी से पाद्य ग्रहण करती हैं।" यह कहकर उसने ऋष्यश्रृंग के दिए हुए फलों को वहीं छोड़कर अनेक स्वादिष्ट महारस-पदार्थ, सुगंधित मालाएं और सुन्दर वस्त्र उसे दिये और वह ऋष्यश्रृंग के चारों ओर कंदुक-क्रीड़ा से फुदकती हुई अपने शरीर से उसके शरीर को संस्पृष्ट करने लगीं। बार-बार के आलिंगन और गात्र-सम्पीड़न से ऋष्यश्रृंग के शरीर में विकार आ गया। यह देखकर उस वारांगना ने कहा, "अब मुझे अग्निहोत्र के लिए जाना है" और यह कहकर चली गई। उसके चले जाने पर तरुण ऋष्यश्रृंग मदनमत्त होकर सुध-बुध भूल गया। काश्यप ने लौटकर अपने पुत्र को गहरी उसांसें छोड़ते हुए रोगी की-सी दशा में देखा और पूछा, "आज समिधा क्यों नहीं लाये? क्या अग्निहोत्र कर चुके? क्या स्रुक और स्रुवा मांज-धो लिये? क्या होम-धेनु दुहकर बछड़ा चुखा दिया? हे पुत्र, तुम्हें क्या हो गया है? मैं जानना चाहता हूं कि आज यहां कौन आया था।"

ऋष्यश्रृंग ने सीधे स्वभाव से कहा, "आज एक जटाधारी ब्रह्मचारी यहां ऐसा आया कि जिसकी आंखें कमल-सी खिली हुईं और रंग सोने-सा तपता था। मुझे तो ऐसे लगा जैसे कोई देवपुत्र उतर आया हो। उसकी नीली साफ-सुथरी महमहाती जटाओं में सुनहले डोरे गुंथे हुए थे। उसके गले की हंसली, आकाश की बिजली-सी चमकती थी। कंठ से नीचे उसकी छाती पर दो मनोहर पिण्ड थे। उसका नाभिदेश कृश और कटि चौड़ी थी। झीने वस्त्र के भीतर से सोने की मेखला झांक रही थी, जैसी यह मेरी मेखला है। उसके दोनों पैरों में कुछ झुनझुन बज रहा था। मेरी अक्षमाला की भांति उसके हाथों में भी कुछ बजनेवाले कलावे थे। उसके वस्त्रों से सुन्दर ये मेरे वस्त्र नहीं हैं। कोयल-सी उसकी वाणी मेरी अन्तरात्मा को व्यथित कर गई। उसका अद्भुत मुख चित्त को अब भी गुदगुदा रहा है। उसके कानों में विचित्र चक्रवाल-जैसे कुछ थे। जटाएं ललाट पर सुबद्ध और दोनों ओर बराबर विभक्त थीं। उसके पास अनोखा गोल फल था, जिसे दाहिने हाथ से मारती तो भूमि से आकाश की ओर उछलता था। उसे देखकर मेरे मन में ऐसी प्रीति और रति उत्पन्न हुई, जैसी पहले कभी

नहीं हुई थी। उसने मेरी जटाएं हाथ में ले अपने शरीर का मेरे शरीर से मर्दन किया। उसने मुझे रसीले फल दिये, जिनके-जैसा छिलका और गूदा हमारे फलों में नहीं। उसने मुझे पीने के लिए जो स्वादिष्ट जल दिया, उसे पीकर मेरा मन खिल गया और मुझे ऐसा लगा, जैसे पृथिवी घूम रही हो। हे तात ! वह मुझे अचेत करके न जाने कहां चला गया। मैं उसीके पास जाना चाहता हूं और उसके जैसा ही तप करना चाहता हूं।"

मृग-शावक की तरह अनजान भाव से वन में यौवन को प्राप्त हुए अपने पुत्र में यह परिवर्तन देखकर वृद्ध विभाण्डक ऋषि कुछ गंभीर हुए। जिन वाक्यों का अर्थ उनका युवक पुत्र नहीं समझ पाया था, उनके अर्थ को काश्यप मुनि ने समझ लिया। उनके श्रमण-भाव पर भी किसी वनविहारिणी उर्वशी ने कभी अपना सम्मोहन डाला था, किन्तु उस अनुभव से विभाण्डक ने पुत्र की समस्या के समाधान के लिए कुछ लाभ न उठाया। उन्होंने कहा, "हे पुत्र ! वन में इस प्रक़ार के छलावे मुनियों के तप पर घात लगाए घूमा करते हैं। तुम उनके फेर में न फंसना। उनके दिये हुए माल्य, मधु और भोजन मुनियों के तप को हर लेते हैं।" पुत्र के उस विभ्राट पर यों लीपापोती का समाधान करके वृद्ध पिता उस छलना को ढूंढ़ने के लिए वन में चले गए और तीन दिन तक घूमने पर भी उसका पता न पा सके। इसी बीच आश्रम को सूना देख वह फिर आई। उसे देखते ही ऋष्यश्रृंग की पीड़ा भभक उठी। युवक ने कहा, "जबतक मेरे पिता नहीं आ जाते, तबतक चलो, तुम्हारे आश्रम को चलें।" वह तो यही चाहती ही थी। तुरन्त बजरे पर बैठकर उस युवक को अंगराज के यहां लेगई। जैसे ही ऋष्यश्रृंग लोमपाद के अन्तःपुर में पहुंचे, उसके राज्य में वृष्टि हुई और राजा ने अपनी पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यश्रृंग के साथ कर दिया। इस प्रकार ऋष्यश्रृंग की यह पुरानी कहानी लोक से खिचकर जातक (जातक संख्या ५२६, भाग पांच), रामायण, महाभारत और पुराणों में कुछ अवान्तर भेदों से व्याप्त हो गई।

तीर्थयात्रा के अन्य स्थल

ऋष्यश्रृंग का उपाख्यान सुनाकर लोमश ने यात्रा के क्रम का जो

अगला सूत्र दिया है, उसमें तीर्थयात्रा पूर्व-दक्षिण-पश्चिम की प्रदक्षिणा करती हुई देवयजन कुरुक्षेत्र में लौट आती है। जहां गंगा का सागर से संगम होता है और जहां पांच सौ नदियों का जल लेकर गंगा समुद्र को भरती है, उस पवित्र स्थान में युधिष्ठिर ने स्नान किया और फिर समुद्र-तटवर्ती मार्ग से कलिंग की ओर चले। दक्षिण जाने का यही प्राचीन मार्ग था, जो आजतक चलता है। मार्ग में उन्होंने वैतरणी नदी पार की। वैतरणी के तट पर रुद्र से संबंधित यज्ञ-स्थान था, जहां पहले रुद्र ने यज्ञ में पशु को अपना भाग कहकर उसका साक्षात् ग्रहण किया था, किन्तु पीछे देवताओं की विनती से पशु को त्यागकर देवयान मार्ग से अहिंसक यज्ञ स्वीकार किया। यह स्थान वैतरणी के किनारे का जाजपुर ज्ञात होता है, जिसका प्राचीन नाम यज्ञपुर था। यहीं पहले देवी का विरजा क्षेत्र था, जहां पशु-बलि होती थी, किन्तु आगे चलकर यह स्थान विष्णु का गदा-क्षेत्र बन गया। यही वैखानस का स्वयंभू नामक आश्रम था, जहां पृथिवी यज्ञ-वेदी के रूप में पूजित हुई।

पूर्व से पश्चिम तक सजी हुई तीर्थों की इस वन्दन-माला में गंगा-सागर-संगम, वैतरणी, महेन्द्र, गोदावरी, द्रविड़ देश में अगस्त्य तीर्थ, शूर्पारक और प्रभास, ये जाने-पहचाने स्थान हैं। कलिंग में गंजाम के समीप की पर्वतमाला अभी तक 'महेन्द्र मलै' कहलाती है। वैसे पूर्वी घाट की सारी पर्वत-शृंखला का नाम महेन्द्रगिरि था। ऐसा विश्वास था कि परशुराम ने जब पृथिवी का दान कश्यप ऋषि को कर दिया, तब वह महेन्द्र पर्वत पर आकर रहने लगे। इसी प्रसंग में अनूप या चेदि देश के राजा द्वारा जमदग्नि के आश्रम का नाश एवं परशुराम द्वारा इक्कीस बार पृथिवी के निःक्षत्र किये जाने की कथा भी दी गई है।

द्रविड़ देश से चलकर सागर-तटवर्ती अनेक तीर्थों के दर्शन करते हुए पाण्डव अन्त में शूर्पारक पहुंचे। शूर्पारक (वर्तमान सोपारा, बम्बई से ३७ मील उत्तर, थाना जिले में बसई से ४ मील उत्तर-पश्चिम में) अति प्राचीन काल से प्रख्यात समुद्रपत्तन था। प्रभास से गोकर्ण के अनुसमुद्र-मार्ग पर शूर्पारक और भरुकच्छ मुख्य पड़ाव थे। शूर्पारक के आसपास देवताओं के अनेक पुराने आयतनों का उल्लेख किया गया है। शूर्पारक से तीर्थयात्रा की पट्टी पयोष्णी और नर्मदा पार करती हुई पश्चिम में प्रभास-द्वारका की ओर

चली जाती थी और वहांसे लौटकर फिर उत्तर की ओर पुष्कर होती हुई कुरुक्षेत्र से जा मिलती थी।

इस प्रसंग में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। पयोष्णी की ठीक-ठीक पहचान संदिग्ध है। उसे यहां विदर्भ से संबंधित कहा गया है और उसके बाद दूसरी बड़ी नदी नर्मदा का उल्लेख है। इससे अनुमान होता है कि पयोष्णी ताप्ती की शाखा नदी थी। पयोष्णी और नर्मदा के बीच में स्थित वैदूर्य पर्वत सतपुड़ा ही ज्ञात होता है। नर्मदा के समीप के देश को शर्याति और भार्गव च्यवन से संबंधित कहा गया है। यहीं नर्मदा के पास कहीं कन्यासर नामक तीर्थ होना चाहिए, जिसमें रूपार्थी वृद्ध च्यवन ऋषि ने स्नान करके रूप और यौवन प्राप्त किया एवं सुकन्या से विवाह किया। यहीं सुकन्योपाख्यान का वर्णन है। इसके अनन्तर सैन्धवारण्य, पुष्कर और आर्चीक पर्वत के तीर्थों का उल्लेख है। इनमें से सैन्धवारण्य कालीसिंध और सिंध नदियों के बीच का घना जंगल होना चाहिए। यहां की अनेक छोटी नदियों को कुल्या कहा गया है : जो पहाड़ी गधेरों की भांति कभी उफन कर चलती और कभी सूख जाती थीं। आर्चीक पर्वत की ठीक पहचान अभी नहीं हुई। संभव है, यह पुष्कर के पास का पहाड़ी प्रदेश हो। तीर्थयात्रा का अगला क्रम फिर कुरुक्षेत्र से आरम्भ होता है, जैसा हम आगे देखेंगे।

२७ : : कुरुक्षेत्र का प्रदेश

यमुना के पश्चिमी तट से कुरुक्षेत्र तक का प्रदेश प्राचीन काल से ही बहुत पवित्र माना जाता था। यमुना, सरस्वती, कुरुक्षेत्र इन प्रदेशों के साथ आर्य जाति का पुराना संबंध था। इस विषय में पुराणों की अनुश्रुति बहुत प्रकाश डालती है। अतएव तीर्थयात्रा-पर्व की तीर्थ-परिक्रमाओं मे यात्रा के सूत्र बाहर की ओर फैलकर बार-बार फिर कुरुक्षेत्र की ओर सिमिटता हुआ दिखाई पड़ता है।

मान्धाता के यज्ञ

यमुना के तट पर मान्धाता ने अनेक यज्ञ किये थे। युवनाश्व के पुत्र मान्धाता इक्ष्वाकु-वंश के प्रतापी सम्राट् थे। उन्होंने कृतयुग में एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ किये। इन यज्ञों की विशेषता यज्ञों में दी हुई भूरि दक्षिणाएं थीं। 'भूरि दक्षिणा' शब्द यज्ञ की परिभाषा में विशेष अर्थ रखता था। ऋत्विजों के अतिरिक्त यज्ञ के अवसर पर और जितने भी ब्राह्मण एवं पात्र एकत्र होते थे, उन सबको उन्मुक्त भाव से बांटी जानेवाली दक्षिणाएं 'भूरि दक्षिणा' कहलाती थीं। आज भी विवाह के समय अग्नि-साक्षिक कर्म करानेवालों के अतिरिक्त अन्य उपस्थित बहुसंख्यक ब्राह्मणों और अन्य लोगों को जो दक्षिणा बांटी जाती है, उसे 'भूर' या 'बूर' कहते हैं। वस्तुतः समस्त जनपद की समृद्धि और प्राज्यकाम जनता की तुष्टि के लिए यज्ञ प्राचीन काल की एक प्रभावशाली युक्ति था। जनपद के भीतर दूर-दूर तक फैले हुए जन-समूह के मानस को नए उत्साह, नई प्रेरणा, नए संगठन और नए उत्थान के विधान में लाने का साधन यज्ञ था। वसन्त और शरद् की सस्य-सम्पत्ति से भरे हुए कोष्ठागार प्रति वर्ष नए-नए यज्ञों के लिए मानो जनता का आवाहन करते थे। इस प्रकार जनपदीय भू-सन्निवेश के युगों में यज्ञ जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन थे। यज्ञ-वेदियों को 'धिष्ण्य' कहा गया है। ये वेदियां प्रायः नदियों के तटों के साथ-साथ आर्य भू-सन्निवेश का विस्तार करती हुई बढ़ती जाती थीं :

एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः।

(आरण्यक पर्व २१२।२४)

नदियां यज्ञ-वेदियों की माता या धात्री थीं। 'ब्राह्मण-ग्रंथों' के अनुसार दौःषन्ति भरत ने यमुना के किनारे ७८ और गंगा के तटों पर ५५ अश्वमेध यज्ञ किये थे (ऐतरेय ८।२३; शतपथ १३।५।४।११)। शतपथ के इसी प्रकरण में भरत द्वारा सर्व-पृथिवी-विजय के प्रसंग में एक सहस्र से अधिक अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख है। लगभग उसी स्वर में मान्धाता के यज्ञों की संख्या भी एक सहस्र कही गई है (१२६।४)। मान्धाता ने अपने दक्षिणावान ऋतुओं में प्रज्वलित अग्नि से चतुरन्त पृथिवी को छा लिया। इसके फलस्वरूप उन्हें इन्द्र का अर्धासन प्राप्त हुआ।

अर्धासन की प्रथा

पहले कहा जा चुका है कि अर्जुन को इन्द्र का अर्धासन प्राप्त हुआ था। अर्धासन का उल्लेख कालिदास ने भी किया है (रघुवंश ६।७३)। यह राजदरबारों की पारिभाषिक संज्ञा थी, जिसका प्रचलन गुप्त काल में विदित होता है। प्रथा यह थी कि सम्राट् जिस आसन पर बैठते थे, कोई अन्य व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान हो, सम्राट् के साथ उसी आसन पर नहीं बैठ सकता था। प्रधान मंत्री एवं अन्य प्रतापानुगत तथा अनुराग से आकृष्ट राजाओं के लिए बैठने की दूरी नियत थी और सावधानी से उन नियमों का पालन किया जाता था। प्रणाम के लिए भी सम्राट् के चरणों के पास पहुंचना उनकी विशेष कृपा पर निर्भर था, जिसे 'प्रसाद' कहते थे। किन्तु किसी व्यक्ति पर उसके विक्रम, विद्या या तप से प्रसन्न होकर सम्राट् उसे अपना सखा मानते एवं अर्धासन प्रदान करते थे।

गुप्त-काल से आई हुई यह प्रथा मध्ययुग में भी जारी रही। सुलतानी दरबारों में सम्राट् के आसन को 'जामेखाना' कहा जाता था और विशिष्ट व्यक्ति ही सुलतान की विशेष कृपा से उनके साथ जामेखाने पर बैठ सकते थे।

यज्ञों की समृद्ध परम्परा

इसी प्रसंग में मान्धाता के जन्म की कथा भी कही गई है। कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि के बीच यत्र-तत्र मान्धाता के स्थान थे। कुरुक्षेत्र में ही प्रजापति ने सहस्र वर्ष का सत्र किया था। सहस्र वर्ष तक होनेवाले यज्ञों का उल्लेख प्रायः प्रजापति के लिए आता है। ये यज्ञ व्यक्ति विशेष से संबंधित न होकर यज्ञों की सदा विद्यमान सामाजिक परम्परा के ही सूचक थे। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि लोक में इस प्रकार के सहस्र सांवत्सरिक यज्ञ दिखाई नहीं पड़ते, केवल शास्त्रों में उनका विधान है। यमुना के किनारे महाभाग अम्बरीष ने भी अनेक यज्ञ किये थे। सार्वभौम ययाति का यज्ञ-वास्तु भी कुरुक्षेत्र में था। यमुना की ऊर्ध्व-जल-धारा के समीप ही प्लक्षप्रस्रवण-तीर्थ सरस्वती नदी का उद्गम माना जाता था। अनेक राजर्षि, देवर्षि और ब्रह्मर्षियों ने सरस्वती के तट पर सारस्वत यज्ञों का विधान किया था। यहीं

पर कुरु नामक यज्ञशील राजा के क्षेत्र में प्रजापति की वेदी थी। उसकी परिधि पांच योजन थी, जिस कारण उसका नाम समन्तपंचक भी था। यहीं रामह्रद नामक सरोवर था, जहां नारायण आश्रम का स्थान माना जाता है। वर्तमान थानेश्वर के उत्तर की ओर आज भी रामह्रद नाम का सरोवर है, जो 'द्वैपायन ह्रद' भी कहलाता है। यह लगभग २,४०० हाथ लम्बा, और १,२०० हाथ चौड़ा है। कुरुक्षेत्र के तीर्थों में यह सरोवर अत्यधिक पवित्र है। यहीं कुरु ने तपस्या की थी, जिसके कारण आसपास की भूमि कुरुक्षेत्र कहलाई। इसी का वैदिक नाम शर्यणावन्त था। इसे ब्राह्मसर भी कहते थे, क्योंकि ब्रह्मा के आदि-यज्ञ की वेदी इसीके तट पर निर्मित हुई थी। पीछे इसकी संज्ञा रामह्रद प्रसिद्ध हुई, क्योंकि परशुराम ने क्षत्रियों को जीतकर इसी सरोवर के जल से अपने पितरों का तर्पण किया।

कुरुक्षेत्र की महिमा और हीनता

प्राचीन भौगोलिक मान्यता के अनुसार कुरुक्षेत्र के चार द्वारपाल थे : अरन्तुक, तरन्तुक, मचक्रुक और रामह्रद :

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां मचक्रुकस्य च।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपंचकं
पितामहस्योत्तर वेदिरुच्यते ॥ (आरण्यक ८१।१७८)

इनमें से तरन्तुक, अरन्तुक और मचक्रुक इन तीनों को महाभारत में ही पुलस्त्य-तीर्थयात्रा पर्व में यक्षेन्द्र कहा गया है। चौथे रामह्रद के समीप एक अति प्रसिद्ध यक्षी का स्थान था (तत्रैव च महाराज यक्षी लोकविश्रुता ८१।१९)। यहां उस यक्षी को पिशाची कहा गया है, जो सूचित करता है कि यह कोई आदिम जाति की मांस-भक्षिका देवी थी। यहां इसे उलूखल के आभरणों से अलंकृत भी कहा गया है। बौद्ध-ग्रन्थ 'महामायूरी' की बृहत यक्ष-सूची में इस देवी का 'उलूखलमेखला' नाम है।

एक ओर तो कुरुक्षेत्र की इतनी महिमा थी कि उसे प्रजापति की उत्तर वेदी और सरस्वती एवं दृषद्वती नामक नदियों को देवनदी कहा जाता था तथा इनके बीच के प्रदेश के देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त कहलाते थे और इस

देश के आचार को सदाचार समझा जाता था (मनु २।१७।१८), दूसरी ओर कुरुक्षेत्र का यह उच्चपद गिर गया। कुरुक्षेत्र उस वाहीक देश का एक भाग था, जहां मद्र और शाकल के केंद्र में बाल्हीक के यवन शासक छा गए थे और आर्यदृष्टि से जो पारम्पर्य क्रमागत सदाचार था, वह सब अस्तव्यस्त हो गया था। यूनानियों के कारण वाहीक की जो अटपट हालत हुई उसीका मानो आंखों-देखा वर्णन कर्ण-पर्व में कर्ण और शल्य की 'तू-तू, मैं-मैं' के प्रसंग में देखा जाता है। अत्यधिक मधु-पान से सुध-बुध खोकर यवन आक्रान्ता गोष्ठियों में अनाचार करते थे, उसीका नग्न चित्र कर्ण-पर्व के वर्णन की पृष्ठभूमि में है। गान्धार-कला में तक्षशिला आदि स्थानों से सलेट या सेलखड़ी की बनी सैकड़ों गोल तश्तरियां ऐसी मिली हैं, जिनपर मुखामेल मधु-पान के दृश्य अंकित हैं। चरित्र के आर्य-मानदण्ड के अनुसार यह वर्णाश्रम का एकान्त लोप था। अतएव द्वितीय शती ई. पू. में पतंजलि ने आर्यावर्त की भौगोलिक परिभाषा का उल्लेख करते हुए शक-यवनों को आर्यावर्त के बाहर कहा, वाहीक देश अर्थात पंजाब में यवनों का यह उत्पात मिलिन्द या मीनाण्डर के समय में सीमा पर पहुंच गया था।

इसका प्रभाव यह हुआ कि जो कुरुक्षेत्र अति पवित्र था, वह आर्यों के लिए वर्जित समझा जाने लगा। केवल तीर्थयात्रा के निमित्त मुंह छूने भर के लिए लोग अब भी कुरुक्षेत्र में जाते थे, किन्तु मन में विश्वास यह था :

आरट्टा नाम बाह्लीका न तेष्वार्यो द्व्यहं वसेत् (कर्णपर्व ३०।४३)।

अर्थात् आरट्ट देश में बाल्हीक के यवन भरे हैं, आर्य को वहां एक से दो दिन रहना ठीक नहीं। यही बात वर्तमान तीर्थयात्रा-पर्व में कुरुक्षेत्र की उलूखलमेखला यक्षी के मुंह से तीर्थयात्रियों के लिए कहलाई गई है, "कुरुक्षेत्र में एक दिन रहकर दूसरी रात मत बसो। यदि रहोगे तो दिन में जो देखा है, रात्रि में टीक इससे उलटा आचार पाओगे (एतद्वै ते दिवा वृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा। आरण्यक, १२९।१०)।"

यहां स्पष्ट रूप में उन रात्रिकालीन मधु गोष्ठियों (ग्रीक ड्रिंकिंग रेवेलरी) की ओर संकेत किया गया है, जो उस युग के यूनानी जीवन की विशेषता थीं और जिनमें कुछ रहस्य-पूजाओं और नृत्यों के साथ मधु-पान करते हुए लोग पशुवत् व्यवहार करने लगते थे। दिन में भलेमानसों-जैसा

जो प्रकट आचार था वह रात में बिलकुल बदल जाता था।

इस पृष्ठभूमि में युधिष्ठिर ने भी यही निश्चय किया कि केवल एक दिन वहां रहें। कुरुक्षेत्र पूर्वप्राप्त गौरवशाली महिमा का स्मरणमात्र द्वितीय शती ई. पू. के तीर्थयात्रा-प्रकरणों में बच गया था। यहीं पर कभी नहुष के पुत्र शर्याति ने रत्नमयी दक्षिणाओं के साथ अनेक ऋतुओं से यजन किया था। यहीं यमुना के तट पर प्लक्षावतरण तीर्थ था। इसी प्रसंग में लोमश ने सरस्वती, ओघवती, विनशन, चमसोद्भेद, विष्णुपद और विपाशा इन भौगोलिक संज्ञाओं का उल्लेख किया है। चमसोद्भेद और विनशन के प्रसंग में जहां सरस्वती उत्तरीय राजस्थान की मरुभूमि में खो जाती है, लोमश की दृष्टि समुद्र के साथ सिन्धु के संगम तक और सौराष्ट्र के प्रभास-पट्टन तक चली जाती है। स्पष्ट ही ये पश्चिमी दिशा में तीर्थयात्रा के अंतिम दो बिन्दु थे। सरस्वती के मरुभूमि में लोप हो जाने के बाद फिर तीर्थों का सिलसिला समाप्त हो जाता था, केवल सिंधु-सागर-संगम और प्रभास ही पश्चिमी सीमान्त में दिखाई पड़ते थे। यह भी कहा गया है कि सिन्धु के महातीर्थ में लोपामुद्रा ने अगस्त्य को अपना पति वरा था। वस्तुतः अगस्त्य के नाम से संयुक्त अनेक तीर्थों की शृंखला में यह भी एक कड़ी थी।

कुरुक्षेत्र के ही उत्तर-पूर्व में विष्णुपद तीर्थ था, जिसका उल्लेख रामायण में भी इसी प्रदेश में पाया जाता है। वहीं विपाशा या व्यास का वह हिस्सा होना चाहिए, जो कांगड़ा प्रदेश में आता है। विपाशा से आगे ठीक ही कश्मीर मण्डल का उल्लेख हुआ है, जो इस ओर भारत का प्रसिद्ध अन्तिम जनपद था।

यमुना से पूर्व का विकास

यहां से आगे भौगोलिक सूत्र यमुना के पर्व की ओर मुड़ता है। इनमें एक तो मानसरोवर को जाने वाले उस द्वार का उल्लेख है, जिसे परशुराम ने पहाड़ के मध्य में कल्पित किया था। 'मेघदूत' में इसे ही 'क्रौंचरन्ध्र' कहा गया है। यह काली-कर्णाली के रास्ते अल्मोड़ा होकर लीपूलेख दर्रे से कैलास की ओर जानेवाला मार्ग होना चाहिए। हिमालय की तराई से नीचे उतरकर एक पुराना मार्ग सरयू के उत्तर प्राचीन श्रावस्ती होता हुआ

उत्तरी विदेह में जा निकलता था। उसका यहां स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए उसे वातिकषंड कहा गया है। हमारी समझ में विदेह (वर्तमान मुजफ्फरपुर) के उत्तर में बेतिया-चम्पारन का घना जंगल ही वातिकषंड होना चाहिए। इसी प्रसंग में यवक्रीत मुनि के उज्जानक तीर्थ, कुशवान् ह्रद, रुक्मिणी आश्रम और भृगुतुंग महागिरि का उल्लेख है, जिनकी ठीक-ठीक पहचान अविदित है। यमुना की दो शाखा नदीजला और उपजला देहरादून—अम्बाला जिलों में यमुना की उपरली धारा में मिलनेवाली छोटी नदियां होनी चाहिए। वहीं उशीनरी राजा का स्थान कहा गया है, जिसने शरणागत कपोत की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस काटकर तुला पर चढ़ा दिया था। यह श्येनकपोतीय आख्यान रोचनात्मक ढंग से यहां कहा गया है। यही कहानी शिवि जातक के रूप में प्रसिद्ध थी।

२८ :: अष्टावक्र की कथा

सरस्वती के समीप ही कहीं उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु का आश्रम था। श्वेतकेतु उपनिषद्-युग के ब्रह्मवेत्ता ऋषि थे। यहां कहा गया है कि उन्होंने सरस्वती का साक्षात् दर्शन किया था। श्वेतकेतु के मामा अष्टावक्र थे, जो उद्दालक के शिष्य कहोड के पुत्र थे। उद्दालक ने अपनी पुत्री सुजाता का विवाह कहोड से किया। कहा जाता है कि गर्भ में रहते हुए ही अष्टावक्र ने अपने पिता महर्षि कहोड को टोका कि आप रात्रि के समय इतना अधिक अध्ययन न किया कीजिए। इस उपालम्भ से कुपित पिता ने पुत्र को शाप दिया, जिससे शरीर के वक्र हो जाने के कारण पुत्र अष्टावक्र कहे गए।

कहानी के इस झीने आवरण के नीचे तथ्य यह जान पड़ता है कि ऋषि-पत्नी अपने पति की रागहीन वेदाभ्यास जड़ता से प्रसन्न न थी। कथा में स्पष्ट कहा गया है कि सुजाता धनार्थिनी थी। उसने पति से कहा, "बिना धन के मैं कैसे काम चलाऊंगी? मुझे दसवां महीना लग गया है। घर में पैसा-कौड़ी नहीं है। पुत्र जनने पर मैं कैसे इसआपत्ति से निस्तार पाऊंगी?"

पत्नी की यह बात सुनकर कहोड धन के लिए जनक के यहां गए। वहां

जनक के विद्वान् पुरोहित बन्दी का यह नियम था कि जो उससे शास्त्रार्थ में हारता, उसे वह जल में डुबाकर प्राण ले लेता था। कहोड के साथ भी ऐसा ही हुआ। माता ने पहले तो पुत्र से यह बात छिपाई, किन्तु बड़े होने पर अष्टावक्र को सब वृत्तान्त ज्ञात हो गया। तब वह अपने मामा श्वेतकेतु को साथ लेकर जनक के यज्ञ में पहुंचे। उनकी छोटी आयु देखकर द्वारपाल ने भीतर जाने से रोका। अष्टावक्र ने कहा, "बालक जानकर हमारा अपमान मत करो। बाल-अग्नि भी छूने से जला देती है। हम जितेन्द्रिय और ज्ञान-वृद्ध हैं। वेद के प्रभाव से हमें प्रवेश करने का अधिकार है।"

द्वारपाल ने उत्तर दिया, "क्या तुम वेद सम्मत बहुरूपा उस वाणी का उच्चारण कर सकते हो, जो विराट् अर्थों से युक्त होते हुए एक अक्षर ब्रह्म का वर्णन करती है? अरे, अपनी छोटी आयु को देखो। क्यों व्यर्थ दुर्लभ वाद-सिद्धि की बात सोचते हो?"

अष्टावक्र ने कहा, "शरीर के बड़ा होने से कोई बड़ा नहीं हो जाता। सेमल के पेड़ में निकला हुआ गांठ-गठीला बन्दा क्या उसे बड़ा बनाता है? जो अल्पकाय होने पर भी फल देता है, वही बड़ा है। जो अफल है, उसमें वृद्ध-भाव नहीं माना जा सकता।" इसपर अष्टावक्र ने उस पुराने नियम का ध्यान दिलाया, जो संस्कृति का मूल था, 'सिर के केश पक जाने से कोई बूढ़ा नहीं होता। जो बाल-अवस्था में भी ज्ञानी है, उसे ही स्थविर कहते हैं।' ऋषियों ने यह धर्म या नियम बनाया कि जो ज्ञानी है, वही हममें बड़ा है। हे द्वारपाल! जाओ, राजा को हमारे आने की सूचना दो। आज विद्वानों के वाद-विवाद में जब सब लोग चुप हो जायंगे तब तुम जानोगे कि कौन ऊंचा और कौन नीचा है।"

द्वारपाल ने समझ लिया कि आज यह तगड़ा विद्वान् आया है। उसने अष्टावक्र को भीतर जाने दिया। अष्टावक्र ने निःशंक प्रवेश करके राजा से कहा, "हे जनकों में वरिष्ठ राजन्, तुम आदर के योग्य हो। तुम सब प्रकार समृद्ध हो, किन्तु मैंने सुना है कि बन्दी नामक तुम्हारी सभा का कोई विद्वान् वाद में वेदवेत्ताओं का निग्रह करके तुम्हारे राजपुरुषों द्वारा उन्हें जल में निमज्जित करा देता है। ब्राह्मणों से यह बात सुनकर मैं आज उसके साथ ब्रह्मोद्य चर्चा करने आया हूं। कहां है वह बन्दी? मैं उसे ऐसा खपा दूंगा,

जैसे सूर्य नक्षत्रों को मिटा देता है।"

जनक ने कहा, "तुम बन्दी की वाक्शक्ति को जाने बिना उसे जीतना चाहते हो। बड़े-बड़े धाकड़ वादशील ब्राह्मण उससे पहले निपटकर देख चुके हैं। जिसमें कुछ सार हो, उसे ही तुम्हारे-जैसे वचन कहने चाहिए।"

अष्टावक्र ने तड़पकर उत्तर दिया, "मेरे-जैसों से उसका पाला नहीं पड़ा। इसीलिए वह औरों के लिए सिंह बना रहा। आज मुझसे जूझकर वह सदा के लिए सो जायगा, जैसे निर्बल धुरीवाला शकट मार्ग में ढेर हो जाता है।" इस प्रकार की डींग सुनकर जनक ने स्वयं ही पहले अष्टावक्र को ब्रह्मोद्य चर्चा में कसा।

ब्रह्मोद्य-चर्चा

ब्रह्मोद्य एक विशेष प्रकार के प्रश्न और उत्तर थे, जो यक्ष-पूजा के आवश्यक अंग थे। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर या बूझने को लोक में यक्ष-प्रश्न कहते थे। यजुर्वेद का ब्रह्मोद्य (२३।९।४५) और महाभारत की यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी (आरण्यक पर्व २९७।२६-६१) एक ही साहित्यिक शैली के अंग हैं। और दोनों में कई मंत्र और श्लोक समान हैं। यक्ष-पूजा के समय इस प्रकार तड़ातड़ पूछे जानेवाले प्रश्नों और उत्तरों की झड़ी लग जाती थी

जनक ने कहा, "छः नाभि, बारह अक्ष, चौबीस पोर, तीन सौ साठ अरे, इनका जो जाने अर्थ, वही कवि समर्थ।"

अष्टावक्र ने पट उत्तर दिया, "छः नाह, बारह पुट्ठी, तीन सौ साठ अरे, इनका सदा घूमता चक्का, करे तुम्हारी सब दिन रच्छा।"

जनक ने फिर प्रश्न किया, "देवों की दो घोड़ियां, मार झपट्टा टूटतीं। किसने उन्हें ग्याभिन किया? ग्याभिन होकर क्या जना?"

बुद्धि की चकरा देनेवाली इस बुझौअल का उत्तर अष्टावक्र ने भी कुछ वैसा ही चकमक दिया, "तेरे घर वे कभी न आयं शत्रु के घर सदा दिखायं। अग्नि से जो ग्याभिन हुईं, अग्नि ही वे ब्याती गईं।"

पहले प्रश्न में कालचक्र के विषय में बूझी गई बुझौअल का उत्तर अष्टावक्र ने यह कहकर दिया कि वह चक्र सदा तुम्हारी रक्षा करे। दूसरे प्रश्न में देवों की दो घोड़ियां प्राण और अपान की दो धाराएं हैं, जो बाज की

गति से झपटकर प्रत्येक प्राणी के शरीर में गर्भ के समय प्रवेश करती हैं। वायुरूपी प्राण जिसका सारथी है, ऐसा वातसारथी जीव प्राणापानरूपी शक्तियों को गर्भित करता है अर्थात् जीव के शरीर में आने पर ये शक्तियां भी आती हैं। ये आकर उसी जीव को मानो उत्पन्न करती हैं अर्थात् प्राणों का आना ही जीव के अस्तित्व का प्रमाण है।

ये गुह्य वैदिक अर्थ इन चटपटे प्रश्नोत्तरों से बूझे गए। वैदिक अर्थों के दो प्रश्न पूछकर जनक ने तीसरा प्रश्न लोक-साहित्य की पृष्ठभूमि में किया :

"कौन सोते हुए आंख नहीं झपता ? कौन उत्पन्न होकर भी नहीं हिलता-डुलता ? किसके हृदय नहीं है ? कौन एकदम से बढ़ जाता है ?"

इसके उत्तर में अष्टावक्र ने कहा, "मछली सोते हुए आंख नहीं झपती। अण्डा उत्पन्न होकर हिलता-डुलता नहीं। पत्थर में हृदय नहीं होता। नदी में एकदम बाढ़ आती है।"

उत्तर सुनकर जनक ने अष्टावक्र का लोहा मानते हुए कहा, "तुम मनुष्य नहीं, दैवी शक्ति से युक्त हो। तुम बाल नहीं, स्थविर हो। वाक्-प्रलाप में तुम्हारे-जैसा और नहीं है। मैं तुम्हें मार्ग देता हूं, यह बन्दी है।"

इतना सुनकर अष्टावक्र ने आगे बढ़कर बन्दी को ललकारा। बन्दी ने कहा, "अरे छोकरे, सोते हुए बाघ को मत जगा। जीभ लपलपाते नाग को मत छेड़। सांप के सिर पर पैर रखकर तू बिना डसे गए न बचेगा। जो घमंड में भरकर चट्टान में घूंसा मारता है, उसीका हाथ नख समेत चूर-चूर हो जाता है।" उस समिति में क्रोध से गरजते हुए अष्टावक्र ने बन्दी से कहा, "मेरे पूछने पर तू उत्तर दे। तेरे पूछने पर मैं उत्तर दूंगा।"

इस प्रकार के संख्याश्रित प्रश्नोत्तरों को प्राचीन परिभाषा में कुमार प्रश्न (पाली कुमार पञ्ह) कहते थे।

इसके बाद बन्दी और अष्टावक्र ने अपने-अपने बोल बोले। इनका मूल आधार एक, दो, तीन, चार, पांच, छः आदि संख्याएं थीं। उदाहरण के लिए बन्दी ने कहा, "एक ही अग्नि बहुधा समिद्ध हुई। एक सूर्य से सब चमकते हैं। एक देवराज ने सब असुरों को पछाड़ा। यमराज सब पितरों में राजा हैं।"

अष्टावक्र ने दो का अंक पकड़कर इसी प्रकार 'कहीं की ईंट कहीं का

रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' और श्लोक खड़ा किया, "इन्द्र और अग्नि दो मित्र साथ विचरते हैं। पर्वत और नारद दो देवर्षि हैं। दो ही रथ के पहिये हैं। विधाता को पति-पत्नी का दोहरा विधान करना पड़ा (क्योंकि अकेले से सृष्टि न हुई)।"

इस प्रकार एक से लेकर बारह तक की संख्याओं की चकर-मकर से श्लोकों का ताबड़-तोड़ क्रम चला। तेरहवें अंक पर पहुंचकर बन्दी ने कहा, "तेरहवीं तिथि डरावनी होती है। इस धरती पर तेरह द्वीप हैं।" इतना कहने के बाद उसकी बुद्धि और न फुरी।

तब अष्टावक्र ने आधा श्लोक यों पूरा किया, "केशी तेरह दिन तक चला। तेरह अक्षरों से अतिछन्द शुरू होते हैं।" इस प्रकार बन्दी को चुप और अष्टावक्र को बोलते हुए देखकर जनक की सभा में सब लोग प्रसन्न हुए। बन्दी ने भी उनके स्वर-में-स्वर मिला कर कहा, "पूजनीय अष्टावक्र की मैं भी पूजा करता हूं।" पर अष्टावक्र इतने से माननेवाले न थे। उन्होंने बन्दी के साथ वही किया, जो उसने कहोड के साथ किया था। अष्टावक्र अपने मामा श्वेतकेतु के साथ विजय के उल्लास से आश्रम को लौट आये।

२९ :: यवक्रीत की कथा

लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से संकेत किया, "हे राजन्, यह कनखल प्रदेश है। यहां महानदी गंगा शैलराज हिमवन्त से उतरकर समतल भूमि में आती है। यहीं भगवान् सनत्कुमार ने सिद्धि प्राप्त की थी। यहीं रैभ्य मुनि का वह सुन्दर आश्रम है, जहां भरद्वाज के पुत्र यवक्रीत ऋषि नाश को प्राप्त हुए।"

युधिष्ठिर ने प्रश्न किया, "ऋषि-पुत्र यवक्रीत के नाश का क्या कारण था?"

लोमश ने उत्तर दिया, "भरद्वाज और रैभ्य दो मित्र थे। भरद्वाज के पुत्र का नाम यवक्रीत था। रैभ्य के भी दो पुत्र थे, अर्वावसु और परावसु। रैभ्य विद्वान् थे और भरद्वाज तपस्वी। रैभ्य का सर्वत्र सत्कार होता

था। यह देखकर यवक्रीत को क्षोभ हुआ और उसने वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिक तप आरम्भ किया।

उसका कठोर तप देखकर इन्द्र ने प्रकट होकर तप का कारण पूछा। यवक्रीत ने कहा, "हे इन्द्र, गुरुमुख से वेदों को पढ़ने में बहुत समय लगता है। मैं चाहता हूं कि तप से मुझे सब वेदों का ज्ञान प्राप्त हो जाय।"

इन्द्र ने कहा, "यह मार्ग पर्याप्त नहीं है। इससे सफलता न होगी। जाओ, गुरुमुख से वेद पढ़ो।" इन्द्र यह कहकर चले गए, पर यवक्रीत ने अभीष्ट-सिद्धि के लिए और भी घोर तप आरम्भ किया। इन्द्र फिर आये और उसे टोककर बोले, "तुमने यह असंभव काम हठपूर्वक आरम्भ किया है, बुद्धिपूर्वक नहीं।"

यवक्रीत ने उत्तर दिया, "हे देवराज, यदि इस प्रकार मेरी इच्छा पूरी न हुई तो इससे भी घोर तप करूंगा। समझ लो, यदि तुमने मेरी मनोकामना पूरी नहीं की तो अपना एक-एक अंग काटकर अग्नि में हवन कर दूंगा।"

उसका यह कठोर निश्चय जानकर इन्द्र ने एक युक्ति सोची। उसने एक निर्बल बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाया और जहां यवक्रीत गंगा में स्नान करने जाता था, वहां बालू की एक-एक मुट्ठी डालकर बांध बांधने लगा। यवक्रीत ने उस बूढ़े ब्राह्मण को व्यर्थ परिश्रम करते देखा और कहा, "हे ब्राह्मण, तुम क्या चाहते हो? क्यों इस निरर्थक काम में लगे हो?"

इन्द्र ने कहा, "लोगों को गंगा के आर-पार जाने में कष्ट होता है। उनके लिए सुखकर सेतु बना रहा हूं।"

यवक्रीत ने कहा, "अरे, गंगा के इस महान् प्रवाह को क्या तुम बालू की मुट्ठियों से बांध सकते हो? इस असंभव काम से विरत हो और जो कर सको, उसमें मन लगाओ।"

इन्द्र ने कहा, "वेदों के अर्थ-ज्ञान के लिए जैसे तुम्हारा यह तप है; वैसे ही मैंने भी कार्य का यह भारी बोझ उठाया है।"

यवक्रीत ने संकेत समझ लिया और कहा, "हे इन्द्र, जैसा तुम्हारा यह व्यर्थ प्रयत्न है, यदि मेरा तप भी वैसा ही निरर्थक है, तो जो मेरेलिए शक्य हो, वह बताओ और मुझे वरदान दो कि मैं दूसरों से अधिक हो सकूं।"

इन्द्र ने कहा, "अच्छा, तुम्हें और तुम्हारे पिता को वेद प्रतिभासित

होंगे, और भी जो चहोगे, तुम्हारी कामना पूर्ण होगी।"

यहांतक यवक्रीत का उपाख्यान सीधे-सादे बुद्धिगम्य रूप में चलकर तीस श्लोकों में समाप्त हो गया है। इसकी पृष्ठभूमि इन्द्र और भरद्वाज़ का वह वैदिक उपाख्यान था, जो तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाया जाता है। वहां भरद्वाज ऋषि वैदिक ज्ञान के लिए तप करते हैं। इन्द्र ने उनसे पूछा, "हे भरद्वाज, यदि तुम्हें इसी प्रकार एक जन्म और मिले तो क्या करोगे ?" भरद्वाज ने कहा, "मैं वेदों के संपूर्ण ज्ञान के लिए इसी प्रकार तप करूंगा।"

इन्द्र ने फिर पूछा, "यदि एक जन्म और मिले तो क्या करोगे ?"

भरद्वाज ने कहा, "मैं इसी प्रकार वेदार्थ-ज्ञान के लिए तप करूंगा।" तब उनके सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उनमें से एक-एक मुट्ठी भरकर कहा, "हे भरद्वाज ! इन पर्वतों को देखते हो ? तुम जितना ज्ञान पाओगे, वह इन मुट्ठियों के बराबर है। वेद तो अनन्त हैं ("अनन्ता वै वेदा: ")।

यह प्राचीन वैदिक कहानी सार्थक है। वैदिक ज्ञान या सृष्टि का ज्ञान सचमुच अनन्त है। मनुष्य के मस्तिष्क में उसका जो अंश आ सकता है, वह अपेक्षाकृत इतना अल्प है, जितनी पर्वत की तुलना में एक मुट्ठी धूल। अर्वाचीन दार्शनिक मॉरिस मेटरलिंक ने अज्ञेय तत्व की दुर्धर्षता से स्तब्ध होकर इसीसे मिलता-जुलता उद्‌गार प्रकट किया है, "इस विश्व के एक परमाणु का भी संपूर्ण ज्ञान कभी किसीको हो सकेगा, इसमें संदेह है। मैं अपने शत्रु के लिए भी यह न चाहूंगा कि वह ऐसे जगत् में रहने के लिए बाध्य हो, जिसके एक परमाणु का भी पूरा ज्ञान किसीने जान लिया हो।"

यवक्रीत के इस वैदिक उपाख्यान के साथ एक अनमेल पुछल्ला भी महाभारत में जुड़ गया है। इसमें लगभग अस्सी श्लोक हैं। कहानी के इस तीन-चौथाई किन्तु भद्दे अंश में मदोद्धत यवक्रीत अपने पिता के सखा रैभ्य की पुत्र-वधू के साथ अनाचार में प्रवृत्त होने के कारण कृत्या द्वारा नाश को प्राप्त हो जाता है। पिता भरद्वाज पुत्र-शोक में चितारोहण करते हैं और रैभ्य को शाप देते हैं। उपाख्यान में आगे कहा गया है कि रैभ्य के पुत्र परावसु ने वन में विचरते हुए अपने पिता को ही भूल से मृग समझकर उनका वध कर डाला और तब छोटे पुत्र अर्वावसु ने अपने तप से ब्रह्महत्या

के उस पाप का प्रक्षालन किया, और उन सबको पुनर्जीवित कर दिया। पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार यवक्रीत के इस उपाख्यान के पढ़ने-पढ़ाने-वाले यावक्रीतिक कहलाते थे। इससे ज्ञात होता है कि शुंग काल तक महाभारत से अलग भी इस उपाख्यान का अस्तित्व था।

३० : : हिमालय के पुण्य प्रदेश में

कनखल में गंगा-द्वारा तक पहुंचे हुए पांडवों के सामने हिमालय का वह पुण्य प्रदेश विस्तृत था, जो बदरी-केदारखंड और कैलास-मानस-खंड के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रदेश के भूगोल का कुछ परिचय ऊपर आ चुका है, फिर भी तीर्थ-यात्रा प्रसंग में पुनः इसका वर्णन किया गया है। अलकनन्दा के मार्ग से गन्धमादन पर्वत के बदरी-केदार तक और कालीकर्णाली के मार्ग से कैलास-मानसरोवर तक के भूगोल का अच्छा परिचय प्राचीन काल के भारतीयों को हो गया था। इस प्रदेश में कुणिन्द विषय का उल्लेख भौगोलिक महत्त्व का है (१४१।२६)।

देहरादून जिले में यमुना की पर्वतीय द्रोणी कुणिन्दों का प्रदेश थी, जहां कुणिन्दगण के ऐतिहासिक सिक्के आजतक पाये जाते हैं। कुणिन्दों के उत्तर-पूरब में तंगण प्रदेश था, और पश्चिम में रामपुर-बुशहरतक फैला हुआ किरात देश था। अतएव इस प्रदेश के लिए 'किराततंगणाकीर्ण' एवं 'कुणिन्दशतसंकुल' (१४१।२५) ये दो विशेषण ठीक प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत ने इस लम्बे-चौड़े भूभाग को 'महद् विषय' कहा है। कुणिन्दाधिपति सुबाहु ने अपनी सीमा पर पांडवों की आवभगत की।

विशालाबदरी की ओर

उससे बिदा लेकर पांडवों ने गन्धमादन पर्वत के दर्शन की इच्छा से विशालाबदरी की ओर प्रस्थान किया। आज भी बदरीनाथ के पास का पर्वत इसी नाम से विख्यात है। गन्धमादन की चोटियों को किन्नराचरित कहा गया है और इसके पार्श्व-प्रदेशों में यक्षों और गंधर्वों की स्त्रियों का उल्लेख

किया गया है वस्तुतः किन्नर, यक्ष और गन्धर्व इस प्रदेश में रहनेवाली जातियों की संज्ञाएं थीं। इसी प्रदेश में मन्दर-गिरि और मैनाक इन दो पर्वत-चोटियों के भी नाम आये हैं। मन्दरगिरि पर माणिभद्र यक्ष और कुबेर का निवास था। अतएव यह पर्वत बदरीनाथ के पास ही वर्तमान अलकापुरी और माणा से सम्बद्ध होना चाहिए। अलकापुरी कुबेर की और माणा माणिभद्र की राजधानी थी। यहीं पर कुबेर के अखाड़े का और उसके समीप पद्म-सौगन्धिकों से भरी पुष्करिणी एवं विपुल नदी का उल्लेख है। अनेक सौगन्धिक कमलों और दिव्य पद्मों से भरी हुई कुबेर की पुष्करिणी की पहचान बदरीनाथ के पास की भउडार घाटी से जान पड़ती है, जहां की पुष्प-समृद्धि संसार में सबसे अधिक है। लंदन के राजकीय क्यू उद्यान के अध्यक्ष श्री स्मिथ ने इसे 'वैली आव फ्लावर्स' (फूलों की घाटी) कहा है और इसी नाम की पुस्तक में इसका वर्णन भी किया है। इसका प्राचीन सौगन्धिक वन चरितार्थ होता है (१५०।१८)।

इसी प्रदेश में कदली-वन का उल्लेख भारतीय भूगोल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कदली वन के मध्य में भीम ने हनुमान का एकान्त आश्रम देखा। हनुमान के इस आश्रम का नाम लोकभाषा में बन्दरपूंछ है। यमुना का उद्गम स्थान होने के कारण यही यामुनपर्वत कहलाता था। जमनोत्री और बन्दरपूंछ यमुना के उद्गम स्थान के पच्छिम और पूरब की दो चोटियां हैं। यह कदली वन पीछे के भारतीय साहित्य में कजलीवन नाम से प्रसिद्ध हो गया। जायसी ने कई बार कजलीवन का उल्लेख किया है और लिखा है कि गोपीचन्द्र वैरागी होकर योग साधने के लिए कजलीवन में चले गए थे (पद्मावत १२।५।७)। वनपर्व के अनुसार कदलीवन में सिद्ध लोग ही जा सकते थे (बिना सिद्ध गति वीर गतिरत्र न विद्यते) (१४६।७६)। वस्तुतः देहरादून से एक ओर यामुन पर्वत और दूसरी ओर बदरीनाथ के बीच का समस्त प्रदेश साधना में लीन सिद्धों के आश्रमों से भरा होने के कारण कदलीवन कहलाने लगा था।

हनुमान-भीम संवाद

कदलीवन के प्रसंग में हनुमान्, और भीम का रोचक संवाद पाया

जाता है। हनुमान ने यह कहकर कि आगे का देश अगम्य है, भीम को उस ओर बढ़ने से रोका। भीम ने बलपूर्वक जाना चाहा। हनुमान मार्ग रोककर लेट गए। भीम ने मार्ग छोड़कर उनसे उठने के लिए कहा। हनुमान ने कहा, "मैं व्याधि से पीड़ित हूं, उठने की शक्ति नहीं। यदि तुम्हें अवश्य जाना है तो मुझे लांघकर चले जाओ।" भीम ने समझदारी से उत्तर दिया, "तुम्हारे शरीर में निर्गुण परमात्मा का निवास है। मैं तुम्हें लांघकर उसका अपमान नहीं कर सकता। यदि मुझे आगमों से यह ज्ञान न हो गया होता कि पंचभूतों को जीवित रखनेवाला चैतन्य तत्त्व ही मनुष्य की देह में निवास कर रहा है, तो मैं तुम्हें और इस पर्वत को भी ऐसे लांघ जाता, जैसे कभी हनुमान समुद्र को लांघ गए थे।"

हनुमान ने पूछा, "अरे, समुद्र को लांघनेवाला यह हनुमान कौन था?" भीम ने तत्काल उत्तर दिया, "वह तो मेरा भाई, वानरों में श्रेष्ठ योद्धा था, जिसकी कथा रामायण में प्रसिद्ध है और जो राम की पत्नी सीता के लिए सौ योजन का समुद्र एक ही कुदान में पार कर गया था। मैं उसीका बलधारी भाई हूं। मार्ग से हट जाओ, नहीं तो मुझे तुम्हें यमलोक भेजना पड़ेगा।"

भीमसेन को यों बलोन्मत्त देखकर हनुमान मन में हँसे, और बोले, "इस बुड्ढे पर दया करो। मुझमें उठने की शक्ति नहीं। कृपा कर मेरी इस पूंछ को हटाकर चले जाओ।"

भीम ने बाएं हाथ से पूंछ को हटाना चाहा, किन्तु वह टस-से-मस न हुई। तब उसने उसे अपने दोनों हाथों से पकड़कर अपना पूरा बल लगाया। तो भी उसे न हटा सका और लजाकर बैठ गया। भीम ने हाथ जोड़कर कहा, "हे कपिश्रेष्ठ, क्षमा करो, बताओ तुम कौन हो, जो वानर के रूप में यहां रहते हो।"

हनुमान् ने कहा, "मैं वानरराज केसरी की पत्नी में वायु के अंश से उत्पन्न हनुमान हूं। राम से मैंने यह वरदान मांगा कि जबतक लोक में रामकथा का प्रचार रहे, तबतक मैं भी जीवित रहूं। राम ने 'तथास्तु' कहा :

यावत् रामकथा वीर, भवेल्लोकेषु शत्रुहन्।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत्॥

यहां के गन्धर्व और अप्सराएं रामचरित का गान करके मुझे प्रसन्न करते हैं।" यहां हनुमान के मुख से रामचरित्र की मुख्य कड़ियां केवल ११ श्लोकों में गिना दी गई हैं। हम देखेंगे कि आरण्यक पर्व में ही आगे चलकर युधिष्ठिर मार्कण्डेय ऋषि से प्रश्न करते हैं कि मुझसे अधिक अभागा राजा भी कोई हुआ है ? उसके उत्तर में मार्कण्डेय ने अठारह अध्यायों में लगभग ७०० श्लोकों में विस्तार से रामचरित का वर्णन किया है (वनपर्व अ० २५८। २७५)।

सौगंधिक वन में

इसके बाद कथा है कि हनुमान ने भीम को सौगन्धिक वन तक पहुंचने का मार्ग बताया और सहेज दिया, "उस वन की रखवाली राक्षस लोग करते हैं। तुम युक्ति से वहां अपना कार्य करना।"

बात यह थी कि जब पांडव बदरीनाथ के पास नर-नारायण आश्रम में ठहरे थे, तब पूर्व-उत्तर की वायु के साथ एक सौगन्धिक कमल द्रौपदी के सामने आकर गिरा। उसकी दिव्य गंध से मुदित होकर द्रौपदी ने भीमसेन से वैसे ही और सुगन्धित पुष्प लाने को कहा। उसीकी खोज में भीम कीयह यात्रा हुईथी। विशालाबदरी से और आगे बढ़ने पर भीमसेन इस सौगन्धिक वन में पहुंचे। बदरीनाथ के उत्तर-पूर्व की ओर से आनेवाली विष्णु-गंगा ही वह विपुल नदी होनी चाहिए, जिसके समीप यह सौगन्धिक वन था। वहींसे उत्तर-पूर्वी वायु के साथ उड़ता हुआ वह पुष्प आया था।

भीमसेन ने सौगन्धिक वन में पहुंचकर वहां की पुष्करिणी से कमल के पुष्प लेने चाहे। रक्षकों ने उन्हें रोका और कहा, "यह कुबेर का विहार-स्थल है। बिना उनकी आज्ञा से कोई यहां से कमल नहीं ले सकता।"

भीम ने कहा, "प्रथम तो कुबेर यहां पासमें दिखाई नहीं देते, जो उनसे आज्ञा ले ली जाय। दूसरे, यदि वह यहां हों भी, तो मैं उनसे याचना नहीं करूंगा, क्योंकि राजा किसी से नहीं मांगते, यह सनातन धर्म है। और फिर यह नलिनी पहाड़ी झरने से स्वयं बने हुए सरोवर में उत्पन्न हुई है, कुछ कुबेर के महल के भीतर नहीं। अतएव इस पर सबका समान अधिकारहै। इस तरह की सामान्य वस्तुएं भी क्या कोई किसी से मांगा करता है?"

इतना कह भीमसेन फूल लेने के लिए बढ़े। इस पर रक्षकों में और उनमें युद्ध होने लगा। भीम के गदाप्रहार से आहत यक्षों ने कुबेर को सूचित किया। उसे जानकर कुबेर ने हँसकर कहा, "अरे, भीम को इच्छानुसार पुष्प लेने दो। मैं जानता हूं कि वह द्रौपदी के लिए सौगन्धिक पुष्प लेने यहां आये हैं।" इससे रक्षकों का क्रोध शांत हो गया।

इधर उसी समय पहाड़ी ढोकों को अपने साथ खींच लानेवाली बड़ी प्रचंड वायु चलने लगी। आकाश से घोर ध्वनि के साथ गाज गिरी और अन्धेरा छा गया। युधिष्ठिर ने द्रौपदी से पूछा, "भीम कहां है?" द्रौपदी से यह जानकर कि भीम उत्तर-पूर्व की दिशा में कमल लेने गए हैं, युधिष्ठिर चिन्तित होकर द्रौपदी और भाइयों के साथ उसी दिशा में चले। पुष्करिणी के समीप पहुंचकर उन्होंने भीम को तीर पर बैठे हुए देखा और वह अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उस दिन वहीं ठहरकर सबके साथ नर-नारायण आश्रम लौट आये।

अवान्तर कथाएं

यहां कथाकार ने कई अवान्तर कथाओं का पैबन्द लगाकर इस प्रसंग को और अधिक अलंकृत किया है। जटासुर-वध पर्व, यक्ष-युद्ध पर्व और निवात-कवच युद्ध पर्व इन तीन उपकरणों से यह प्रकरण लम्बा खींचा गया है। जटासुर नाम के राक्षस ने भीम को अनुपस्थित जानकर पांडवों पर आक्रमण किया और उनके अस्त्रों के साथ वह उनको हर कर ले जाने लगा। सहदेव ने किसी तरह अपने आपको छुड़ाकर भीमसेन को पुकारा। भीमसेन ने तत्काल आकर उस असुर का वध कर दिया।

यक्ष-युद्ध पर्व की कथा संक्षेप में इस प्रकार है: नारायण-आश्रम में रहते हुए पांडवों को चार वर्ष बीत चुके थे। तब युधिष्ठिर ने कहा कि चलते समय अर्जुन ने मुझसे कहा था कि पांच वर्ष समाप्त होने पर मैं श्वेत पर्वत पर आऊंगा। अर्जुन से मिलने की आशा से सब लोग नारायण-आश्रम से आगे मैनाक, गन्धमादन और श्वेत पर्वत की ओर चले। वहां पहले वे वृषपर्वा के आश्रम में पहुंचे और फिर आर्ष्टिषेण ऋषि के आश्रम में रहे। पांचवां वर्ष उन्होंने वहीं व्यतीत किया।

कुबेर-युधिष्ठिर भेंट

यह आश्रम गन्धमादन के समीप था। वहीं पर्वत की चोटी पर कुबेर के अनेक यक्ष और राक्षसों से भीम का घमासान युद्ध हुआ, जिसमें कुबेर के अनेक अनुयायी काम आये और कुबेर का मित्र मणिमान् नामक राक्षस भी मारा गया। कुबेर ने समाचार जानकर पहले तो कुछ क्रोध किया, पर पीछे स्वयं युधिष्ठिर को शांत किया कि वह भीम के प्रति रुष्ट न हों; क्योंकि भीम ने दैव के वश होकर ही यह कर्म किया था और ऐसा करके अगस्त्य ऋषि के एक पुराने शाप से कुबेर को मुक्त किया था। युधिष्ठिर के पूछने पर कुबेर ने बताया कि मणिमान् नामक मेरे मित्र ने यमुना के किनारे तप करते हुए अगस्त्य ऋषि के ऊपर थूक दिया था, जिसके कारण उसे ऋषि के शाप का फल भोगना पड़ा।

इन बाल-सुलभ कहानियों के बीच में मुख्य बात कुबेर के साथ युधिष्ठिर की भेंट है। कुबेर की राजधानी के इतने समीप पहुंचकर यह सम्मिलन आवश्यक था। इस अवसर पर कुबेर ने युधिष्ठिर को राजनीति संबंधी कुछ मूल्यवान उपदेश दिया। लोक में अपने कार्य-साधन की पांच युक्तियां हैं। जो व्यक्ति धृत या धैर्य के साथ काम में लगा रहता है, जो दक्षता या समझदारी से काम करता है, जो देश और काल इन दोनों को पहचानकर अपने आपको तदनुसार ढालता है और जो कार्य-सिद्धि के लिए पराक्रम करता है, ऐसा व्यक्ति अपने उद्देश्य में सफल होता है।

कुबेर ने चलते हुए तीन बातें और कहीं। प्रथम यह कि अलका-निवासी समस्त मेरे अनुचर और पर्वतीय लोग तुम्हारी रक्षा करेंगे। दूसरे इस प्रदेश में भीमसेन को साहस के कामों से बचना चाहिए, कहीं ऐसा न हो कि वह पहाड़ में रहते हुए वहां लोगों से धोखा खा जाय। तीसरे, उसने यह भी कहा कि शीघ्र ही उनकी अर्जुन से भेंट होगी। सबने कुबेर को प्रणाम किया और वे अपने आश्रम को लौट आए।

अर्जुन का आगमन

जब से अर्जुन गए थे, पांडवों को मानसिक शांति न मिली थी। अर्जुन पांच वर्षतक इन्द्रलोक में रह चुके थे और अनेक दिव्य-अस्त्रों की प्राप्ति

भी कर चुके थे। उचित अवसर जानकर अर्जुन ने इन्द्र से विदा ली और गन्धमादन पर्वत पर आकर अपने भाइयों से मिले। उन्होंने धौम्य, युधिष्ठिर और भीम के चरणों की वन्दना की। नकुल और सहदेव ने उनका अभिवादन किया। अर्जुन ने द्रौपदी से मिलकर उसे सान्त्वना दी। सब लोग परम हर्षित हुए। अर्जुन ने विस्तार से अपनी कथा सुनाई कि किस प्रकार उन्होंने अपने शील और समाधि से शिव और इन्द्र को प्रसन्न करके दिव्य अस्त्र प्राप्त किये थे। उसी समय देवराज इन्द्र भी युधिष्ठिर से मिलने के लिए आये। युधिष्ठिर ने उनका उचित आदर किया। इन्द्र ने कहा, "हे राजन्, आप इस पृथिवी का शासन करें। निश्चय ही आपका कल्याण होगा। अब आप काम्यक आश्रम को लौट जायं।" यह कह इन्द्र भी अपने स्थान को चले गए।

इस प्रकरण के अन्त में फलश्रुति के दो श्लोक इस प्रकार हैं: कुबेर और इन्द्र के साथ पांडवों के समागम की इस कथा को जो वर्ष भर तक व्रतवान ब्रह्मचारी रहकर पढ़ेगा, वह सब दुःखों से छूटकर सौ वर्ष की आयु तक सुख से जियेगा (१६२।१५।१६)। इससे यह निश्चित माना जा सकता है कि कुबेर और इन्द्र से पांडवों का सम्मिलन बाद के किसी उत्साही लेखक की कल्पना है, जिसने यह उचित समझा कि देवलोक के इतने समीप पहुंचकर पांडवों को उन देवों से बिना मिले न रहना चाहिए। यहीं नन्दनवन के वर्णन में लगभग साठ वृक्षों की सूची में आम्र के साथ सहकार का भी उल्लेख है (१५५।६०)। आम्र बीजू आम के लिए और सहकार कलमी आम के लिए प्रयुक्त होता था। सहकार शब्द का पहली बार प्रयोग अश्वघोष के सौन्दरनन्द काव्य (७।३) में हुआ है। उसके बाद तो अमरकोष, कुमारसंभव, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र आदि गुप्तकालीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बहुतायत से मिलने लगता है। इससे संकेत मिलता है कि गन्धमादन प्रदेश की यात्रा का यह उलझा हुआ प्रकरण, जिसकी पुनरुक्तियों से जी ऊबने लगता है, गुप्तकाल में जोड़ा गया।

निवातकवचों की पराजय

अर्जुन ने अपने एकान्तवास की कथा के प्रसंग में बताया कि उसने

पन्द्रह दिव्य अस्त्र, उनके प्रयोग, उपसंहार, आवृत्ति (पुनः छोड़ना), प्रायश्चित्त (किसी निर्दोष व्यक्ति के अस्त्र द्वारा आहत होने पर उसे पुनः जीवित करना) और प्रतिघात (शत्रु के अस्त्रों से निष्फल हुए अपने अस्त्रों को पुनः प्रभावयुक्त करना) की विधि के साथ सीख लिये थे। इसी प्रसंग में उसने कहा कि इन्द्र ने गुरुदक्षिणा के रूप में उससे यह मांगा कि वह निवातकवच नामक असुरों का संहार करे। अर्जुन ने इसे स्वीकार किया और समुद्र के तट पर पहुंचकर माया से युद्ध करनेवाले निवातकवच नामक दानवों को उनके पुर में ही परास्त किया।

कहा गया है कि निवातकवचों की पुरी पहले देवराज इन्द्र के अधीन थी, वहां से असुरों ने देवों को पदच्युत कर दिया था। (१६६।२८)। इस उल्लेख के पीछे आर्य जाति और समुद्र के उस पार रहनेवाली असुर जाति के किसी प्रागैतिहासिक संघर्ष की अनुश्रुति छिपी है। असुरों की राजधानी निर्माण-कौशल और अद्‌भुत आकार में देवों के नगर से भी विशिष्ट थी।

निवातकवचों के युद्ध से वापस आते हुए मार्ग में अर्जुन को एक दूसरा अद्‌भुत नगर मिला, जिसका नाम हिरण्यपुर था। वहां कालकेय और पौलोम नामक महासुरों का साम्राज्य था। इनके साथ भी अर्जुन ने युद्ध करके हिरण्यपुर को जीता। वहां के निवासी दानवी माया से युद्ध करते थे। वे कभी पृथिवी पर आ जाते और कभी आकाश में उठ जाते थे। आसुरी माया का उल्लेख और भी प्राचीन वैदिक साहित्य में आता है। इसके पीछे निहित ऐतिहासिक तथ्य, इस समय धुंधला पड़ गया है। संभव है, हिरण्यपुर का आशय मोहंजोदड़ो के ध्वस्त नगर से हो, जिसकी विजय का संबंध महाकाव्य-युग में अर्जुन के साथ जोड़ दिया गया।

इन युद्धों में विजयी होकर अर्जुन मातलि के साथ इन्द्रलोक को लौट आया और वहां इन्द्र से अभेद्य कवच, हिरण्यमयी माला, देवदत्त शंख और दिव्य किरीट प्राप्त करके देवराज की अनुमति से अपने भाइयों के पास गन्धमादन पर्वत पर आ गया। इस प्रकार विशाल बदरी के पुण्य आश्रम में निवास करके युधिष्ठिर पुनः सरस्वती के किनारे स्थित द्वैतवन के अपने आश्रम को लौट आये।

३१ : : आजगर पर्व

हिमालय से बिदा लेते हुए पांडवों की कथा के पुछल्ले के रूप में आजगर पर्व की कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

अर्जुन के साथ चार वर्षतक पांडवों ने कुबेर के चैत्ररथवन में निवास किया। उससे पूर्व उनके वनवास-काल के छह वर्ष बीत चुके थे। (१७३।५)। ग्यारहवे वर्ष में भीम ने युधिष्ठिर को स्मरण दिलाया कि अब आप दुर्योधन से निपटने के लिए अपना यह अज्ञातवास छोड़ कर लौटिए। युधिष्ठिर ने अन्य भाइयोंका भी वैसा ही मत जान कर कुबेर के सुन्दरवन को और पर्वत की उन देव-भूमियों को प्रणाम किया, और यह मानता मानी कि हे शैलेन्द्र, जब मैं अपने शत्रुओं को जीतकर पुनः राज्य प्राप्त कर लूंगा, तब यहां तप करने के लिए आऊंगा। फिर जिस मार्ग से आये थे, सब उसी ओर से लौटने लगे।

इस अवसर पर लोमश ऋषि उनसे विदा होकर स्वर्ग चले गए। इन शब्दों के पीछे यह संभावना है कि लोमश ऋषि का हिमालय में ही देहावसान हो गया। मार्ग में एक रात वृषपर्वा के आश्रम में बिता कर कई देशों को पारकर वे कुणिन्द के राज्यों में यामुन पर्वत पर आकर एक वर्ष रहे। यहां इन्द्रसेन आदि परिचायक और उनके रसोइये, सवारियां आदि सब उनसे पुनः मिले।

अजगर की कुंडली में भीम

यामुन पर्वत पर कुवेर के चैत्ररथ के समान ही विशाखयूप नामक वन था। उसके समीप की पर्वत कन्दरा में भीमसेन को एक अजगर ने अपनी कुंडली में जकड़ लिया। युधिष्ठिर की बुद्धिमत्ता से भीम को छुटकारा मिला। यह अजगर पूर्व जन्म में राजा नहुष था जो शापवश यहां आकर रहा था। जनमेजय के प्रश्न करने पर वैशम्पायन ने नहुष के चरित का वर्णन किया।

आयु के पुत्र नहुष नाम के राजर्षि थे। उन्होंने ऋषियों का अपमान

किया, इस पर अगस्त्य के शाप से उन्हें सर्प की योनि में आना पड़ा। शाप की अवधि बताते हुए ऋषि ने इतना और कहा कि जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देगा, वही तुम्हें शाप से मुक्त करेगा। पूर्व जन्म की यह स्मृति लिये हुए वह सर्प वहां रहता था। भीम ने उसी के मुख से उसका यह हाल सुनकर कहा, "हे महासर्प ! मुझे तुम्हारे ऊपर क्रोध नहीं। मनुष्य सुख-दुःख दोनों के होने-अनहोने में अशक्त है। दैव ही प्रधान है, पुरुषार्थ निरर्थक है। दैव के कारण ही मैं अपना बल खोकर इस अवस्था को पहुंचा हूं। मुझे और कुछ नहीं, केवल अपने भाइयों का सोच है।"

इधर भीम के न आने से युधिष्ठिर चिन्तित हुए और उसे ढूंढ़ते हुए वह उसी गिरि-गह्वर में जा पहुंचे। भीम को देखकर उन्होंने सब हाल पूछा। वृत्तांत जानकर युधिष्ठिर ने सर्प से कहा, "हे अजगर, युधिष्ठिर तुमसे पूछता है, सत्य कहो। कौन-सा वह ज्ञान है, जिससे तुम प्रसन्न हो सकोगे? तुम्हारे लिए क्या आहार लाऊं, जो तुम मेरे भाई को छोड़ दोगे?"

सर्प के प्रश्न

सर्प ने उत्तर दिया,, "यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दो, तो मैं तुम्हारे भाई को छोड़ दूंगा।"

युधिष्ठिर ने कहा, "इच्छानुसार प्रश्न करो। यदि मैं जानता होऊंगा तो उत्तर दूंगा। इस लोक में ब्राह्मण को जो ज्ञात होना चाहिए, मालूम होता है, तुम उसको जानते हो।"

सर्प ने पूछा, "ब्राह्मण कौन है ? जानने योग्य क्या है ?"

युधिष्ठिर ने कहा, "सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, दम और अहिंसा जिस व्यक्ति में हो, वही ब्राह्मण है। जिसमें सुख नहीं और दुःख भी नहीं, ऐसा परब्रह्म ही जानने योग्य है।"

सर्प ने प्रश्न को और नुकीला बनाते हुए कहा, "लोक में तो चार वर्ण माने जाते हैं। तुमने जो सत्य, दान, क्षमा आदि ब्राह्मणों के लक्षण कहे, वे तो शूद्रों में भी होते हैं। तो फिर क्या शूद्र को भी ब्राह्मण कहोगे ? और सुख-दुःख से परे जिसे तुमने ज्ञेय कहा है, ऐसी तो कोई वस्तु मेरी समझ में नहीं आती।"

बुद्धि को झकझोर देनेवाला यह महाप्रश्न भारतीय समाज-व्यवस्था का शाश्वत प्रश्न रहा है। प्रश्नों के रंग-ढंग से ज्ञात होता है कि रूढ़िगत समाज-व्यवस्था के प्रतिकूल भगवान बुद्ध ने और उनके सदृश उदारता से सोचनेवाले अन्य बुद्धिवादी विचारकों ने जो तर्क रखे थे, उन्हीं का एक संदर्भ सर्प और धर्मराज की इस प्रश्नोत्तरी में सुरक्षित है। ब्राह्मण और शूद्र के विषय का प्रश्न जितना तीक्ष्ण था, युधिष्ठिर का उत्तर उससे कहीं अधिक साहसपूर्ण है। युधिष्ठिर ने कहा, "शूद्र में यदि सत्य, दान, अक्रोध आदि आचार के लक्षण हों तो वह शूद्र नहीं रह जाता। ब्राह्मण में यदि ये लक्षण न हों तो वह ब्राह्मण नहीं होता। हे नागराज, जिसमें चरित्र है, वही ब्राह्मण है; जिसमें चरित्र नहीं, वह शूद्र है। आपने जो यह कहा कि सुख और दुःख इन दोनों से अतीत कोई वेद्य वस्तु नहीं है, तो मेरा कहना है कि ऐसा भी एक पद है, जहां सुख और दुःख का परिचय नहीं, जैसे शीत और उष्ण इन दोनों के बीच में एक स्थिति ऐसी होती है, जिसे न शीत कह सकते हैं, न उष्ण।"

नागराज ने धर्मराज को पुनः तर्क में चांपते हुए कहा, "यदि तुम्हारे मत से चरित्र से ही ब्राह्मण है, तब बिना चरित्र या कर्म के जाति व्यर्थ ठहरती है।'

प्रश्न मामूली नहीं है। यह जाति-पांति के वृक्ष पर सदा-सदा उठने वाला बड़ा कुल्हाड़ा है, पर इस कटीले प्रश्न से भी युधिष्ठिर नहीं ठिठके। उन्होंने उसी धीरता और साहस से उत्तर दिया, "हे नागराज, यहां मनुष्यों में जाति है ही कहां? कौन-सी वह जाति है, जिसमें वर्ण का संकर न हुआ हो? वर्णों की आपसी मिलावट के कारण जाति की ठीक-ठीक पहचान की बात उठाना व्यर्थ है। सब लोग सब प्रकार की स्त्रियों में पुत्रोत्पत्ति कर रहे हैं, इसलिए जो तत्त्वदर्शी हैं, उनके मत में शील ही मुख्य है। जन्म के बाद वर्णों के जातकर्म आदि संस्कार किये भी जायं, पर अगर किसी में चरित्र नहीं है तो मैं उसे वर्णसंकर की हालत में ही पड़ा हुआ समझूंगा। हे नागराज, इसलिए मैंने पहले कहा कि जिस व्यक्ति में निखरा हुआ चरित्र (संस्कृत वृत्त) है, वही ब्राह्मण है।" (वनपर्व १७७।२६-३३)

भारतीय संस्कृति की विश्वात्मा को प्रकट करनेवाले ये उद्गार व्यास की अभिनव धर्म-व्याख्या के अन्तर्गत प्रकाशमान मणि-रत्न हैं।

युधिष्ठिर के प्रश्न

इसके बाद युधिष्ठिर ने ताड़ लिया कि यह नागराज साधारण जीव नहीं, वेद-वेदांग में पारंगत है। अब उन्होंने प्रश्न करना शुरू किया और पूछा, "बताओ, किस कर्म से उत्तम गति प्राप्त होती है।"

सर्प ने कहा, "पात्र को दान देने से, मीठे वचन बोलने से, सत्य कहने से और अहिंसा का पालन करने से मनुष्य स्वर्ग जाता है, ऐसा मेरा मत है।"

युधिष्ठिर ने पूछा, "दान और सत्य, इनमें कौन बड़ा है ? अहिंसा और प्रिय वाक्य इन दोनों में भी छोटा-बड़ा कौन है ?"

सर्प ने उत्तर दिया, "इन चारों की छुटाई-बड़ाई कार्य-कारण के अनुसार होती है। कभी दान से सत्य भारी और कभी सत्य से दान भारी होता है। इसी प्रकार अहिंसा प्रिय वचनों से बड़ी और कभी प्रिय वचन अहिंसा से उच्चतर होते हैं। कार्य के अनुसार इन चारों गुणों का गौरव-लाघव जाना जाता है।"

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने कई दार्शनिक प्रश्न किये, जिनके ब्याज से सर्प ने अध्यात्म विषयों की व्याख्या की और अन्त में कहा, "हे धर्मराज, कभी मैं भी दिव्य विमान में विचरण करता था। सहस्रों ब्रह्मर्षि मेरी पालकी उठाते थे। मैंने अगस्त्य ऋषि को पैर से छू दिया। बस, इसी शाप के कारण मेरा पतन हुआ। आज आपके इस साधु-संभाषण से मैं शाप-मुक्त हुआ। अहिंसा, सत्य, दम, दान, योग और तप, ये ही मनुष्य के सच्चे सखा हैं, जाति और कुल सहायक नहीं। आपके भाई भीम को मैंने सकुशल छोड़ा। आपका कल्याण हो।" यह कहकर वह नागराज स्वर्ग को चला गया और युधिष्ठिर भीम के साथ आश्रम को लौट आये।

नहुष-चरित पर भागवतों का प्रभाव

आगे चलकर शान्ति पर्व (अध्याय १७८) में भी एक नागराज के संवाद का उल्लेख है। वह जिस आजगर-व्रत का व्याख्यान करता है वह शंखपाल जातक के नागराज उपदेश से मिलता हुआ है। हमारा अनुमान है कि पंचरात्र भागवतों द्वारा नहुष-चरित्र का यह प्रकरण महाभारत में जोड़ा गया। प्रथम तो आरण्यक-पर्व में ही आगे चलकर कहा गया है कि

नहुष और उसका पुत्र ययाति दोनों ने ही वैष्णव-यज्ञ नामक महाक्रतु सम्पादित करके स्वर्ग प्राप्त किया था (२४१।३२, २४३।५)। दूसरे, सत्य, दान, दम, और अहिंसा, ये वैष्णव-भागवतों ने धार्मिक अभ्युत्थान के प्रमुख द्वार माने थे। बेसनगर के गरुड़ध्वजवाले लेख में भी सत्य, त्याग, दम इन तीन अमृत पदों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त आचार के आधार पर ब्राह्मणत्व की नई परिभाषा और आचारवान शूद्रों को भी ब्राह्मणों के समान प्रतिष्ठित मानने की प्रवृत्ति—यह भी भागवतों की विशेषता थी। इस नए दृष्टिकोण की पूर्णतम अभिव्यक्ति भागवत के उस श्लोक में पाई जाती है, जिसमें कहा गया है कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, खश, बर्बर, यवन एवं इनके अतिरिक्त अन्य नीच समझी जाने वाली जातियां विष्णु भगवान की शरण में आने से शुद्ध हो जाती हैं। शक-यवनों के यहां आने के बाद मथुरा से जिस भागवत धर्म का स्वर ऊंचा उठा, उसमें इस तथ्य की स्वीकृति तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन की विशेषता थी। शक-महाक्षत्रप शोडाश और कुषाण-सम्राट वासुदेव दोनों के समय में भागवत-आन्दोलन अत्यधिक उन्नति को प्राप्त हुआ।

कृष्ण का आगमन

जब हिमालय के प्रवास से पाण्डव काम्यक वन में वापस आ गए तब अनेक ब्राह्मण उनसे मिलने आये। उनमें से एक ने सूचना दी कि शीघ्र ही कृष्ण और बहु-संवत्सरजीवी महातपस्वी मार्कण्डेय आपसे मिलने के लिए आने वाले हैं। वह यह कह ही रहा था कि शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वों से युक्त रथ पर सत्यभामा के साथ देवकी-पुत्र कृष्ण वहां आ पहुंचे। उन्होंने रथ से उतरकर यथाविधि धर्मराज की वन्दना की और धौम्य का पूजन किया। अर्जुन का आलिंगन करके फिर द्रौपदी को सान्त्वना दी। सत्यभामा भी द्रौपदी से मिली। सब पाण्डव कृष्ण से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। कृष्ण ने द्रौपदी से कहा, "हे कृष्णा, तुम्हारे पांचों पुत्रों का मन अपने नाना या मामा के घरों में उतना नहीं लगता। उन्हें धनुर्वेद में रुचि है, और वे आनर्त देश के वृष्णिपुर में रहकर धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे हैं। तुम या आर्या कुन्ती उनके लिए जैसी वृत्ति की कामना करती हो,

सुभद्रा उनके लिए सदा उसी प्रकार का प्रबन्ध रखती है। अनिरुद्ध के लिए जो सब प्रबन्ध है, वही उनके लिए भी है। अभिमन्यु अपने उन भाइयों को गुरु की तरह स्वयं अस्त्र-शिक्षा देता है।"

यह कहकर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा, "अन्धक, कुकुर और दशार्हों के योद्धा आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए प्रतीक्षा में हैं। अश्व, रथ, हस्ती और पदाति से युक्त हमारी सेना आपके लिए सुसज्जित है। आप उससे हस्तिनापुर पर चढ़ाई करके दुर्योधन का नाश करें।"

महात्मा कृष्ण से यह मत सुनकर धर्मराज ने अंजलिपूर्वक कहा, "हे केशव, निस्संदेह पाण्डवों की गति आप ही हैं। समय आने पर अवश्य हम वैसा करेंगे। किन्तु प्रतिज्ञा के अनुसार अभी बारह वर्ष हमने बिताये हैं। अज्ञातवास का समय भी जब हम समाप्त कर लेंगे तब आपके वचनों का पालन करेंगे।"

३२ : : मार्कण्डेय-समास्या

जब कृष्ण और युधिष्ठिर इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे तब ऋषि मार्कण्डेय वहां आ उपस्थित हुए। सब लोगों ने उनकी पूजा की और आसन देकर विनय की, "हे महात्मन्, पूर्व काल के राजाओं, ऋषियों और स्त्री-पुरुषों की पवित्र कथाएं और सनातन सदाचार हमें सुनाइए।" उसी समय नारद भी पाण्डवों से मिलने के लिए वहां आये और उन्होंने भी मार्कण्डेय से वैसी ही प्रार्थना की।

इसके बाद युधिष्ठिर और मार्कण्डेय के संवाद रूप में ४१ अध्यायों और लगभग २,००० श्लोकों का एक लम्बा प्रकरण आरम्भ होता है, जिसका नाम मार्कण्डेय-समास्या-पर्व है। 'समास्या' का अर्थ है बैठक अर्थात् ज्ञान-चर्चा के लिए एकत्र आसन जमाकर बैठना।

काम्यक वन की शीतल छाया में पंच पाण्डव, द्रौपदी, अनेक ब्राह्मण, धौम्य, कृष्ण, सत्यभामा, नारद और मार्कण्डेय का एकत्र जमघट मानो कथाओं के लिए प्रलोभन-भरा आमंत्रण था। कथाओं के इस समूह में पांच

उपाख्यान मुख्य हैं । पहला मार्कण्डेय उपाख्यान, दूसरा धुन्धुमार की कथा, तीसरा पतिव्रता उपाख्यान और कौशिक ब्राह्मण के साथ मिथिला के धर्म-व्याध का संवाद, चौथा आंगिरस उपाख्यान और पांचवां स्कन्द-जन्म की विस्तृत कथा । इन कथा-सूत्रों का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जायगा ।

यह स्पष्ट है कि पंचरात्र भागवतों ने ही इस महा प्रकरण को यहां सजाया है । देवर्षि नारद की श्रोता-रूप में उपस्थिति इसका पहला संकेत है। मार्कण्डेय चरित्र में भी नारायण-महिमा ही विशेष रूप से कही गई है। धुंधुमार की कथा को अन्त में स्वयं ग्रंथकार ने विष्णु का समनुकीर्तन कहा है(१९५।३८)। कौशिक ब्राह्मण और धर्म व्याध का संवाद भागवत धर्म के नीतिमय दृष्टिकोण का परिचायक है । अन्त में स्कन्द जन्म की कथा मथुरा के आसपास विकसित होनेवाले धार्मिक इतिहास का महत्वपूर्ण प्रकरण है, जिसमें कितने ही स्थानीय छुटभैयों, देवताओं और अनेक मातृकाओं की पूजा एवं शिव और अग्नि की पूजा को एक ही धार्मिक कटाह में चढ़ाकर स्कन्द-पूजा का चरु तैयार किया गया है। यह समन्वयात्मक प्रक्रिया भी मथुरा के भागवत-धर्म के प्रभाव से सम्पन्न हुई। वस्तुत: मार्कण्डेय समास्या-पर्व उत्तरी भारत में प्रतिपन्न होनेवाली धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के नाना सूत्रों को जोड़ कर विरचित हुआ है। यवन-शक-कुषाण-कालीन मथुरा के इतिहास की विचित्र पृष्ठभूमि में भागवत धर्म का उदय भारतीयता की विजय थी। इसके द्वारा पुनः स्वदेशी समाज-व्यवस्था और संस्कृति की स्थापना हुई।

मार्कण्डेय-युधिष्ठिर प्रसंग में आगे स्पष्ट कहा गया है कि शक-यवनों के बार-बार आक्रमण से समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी(१८६।२९-३०), उसे पुन: स्थापित करना आवश्यक था। इतिहास से विदित है कि पुष्यमित्र शुंग के समय में ऐसा प्रयत्न किया गया और पुन:कुषाणोत्तर काल में वही प्रक्रिया हुई। ब्राह्मण और भारतीय संस्कृति ये दोनों शब्द उस समय पर्यायवाची हो गए थे । समाज की धर्म-व्यवस्था, यज्ञ-याग की प्रक्रिया और शिक्षा के लिए ब्राह्मणों की पुन: प्रतिष्ठा समाज की अनिवार्य आवश्यकता थी । उस काल की राष्ट्रीयकरण पद्धति में ब्राह्मणों का जो योग था, उसकी छाया साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलती है । महाभारत का यह प्रकरण भी उसीका अंग है।

दो छोटी कहानियां

यहां दो छोटी कहानियां दी गई हैं। पहली में अरिष्टनेमि ताक्ष्य का वर्णन है, जो केवल सत्य की उपासना करके स्वधर्म का अनुष्ठान करता था, एवं जो ब्राह्मणों के जीवन के हेय पक्ष की ओर न देखकर उनके जीवन के कल्याण-पक्ष का ही कथन करता था। ऐसा करने से वह मृत्यु-भय से ऊपर उठ गया। दूसरी कथा में वैन्य नामक राजर्षि अत्रि नामक ब्राह्मण को दान देता है। गौतम नामक ब्राह्मण राजा से दान लेनेवाले अत्रि को धर्म-विहीन कहता है। अत्रि का दृष्टिकोण था कि राजा काल का विधाता है। वह पृथिवी में प्रथम-स्थानीय है। राष्ट्र का ऐश्वर्य उसीमें रहता है। उससे ऊपर कोई नहीं। गौतम ने इसका प्रतिवाद किया। दोनों ने सनत्कुमार से अपनी शंका का समाधान पूछा। उत्तर में सनत्कुमार ने प्राचीन वैदिक दृष्टिकोण की व्याख्या की और कहा, "क्षत्र को ब्रह्म के साथ और ब्रह्म को क्षत्र के साथ मिलकर रहना चाहिए। राजा सत्यधर्म का प्रवर्तक है। ऋषियों को भी जब अधर्म से डर लगा तब उन्होंने राजा को बल दिया। उसी बल से राजा भूमि पर अधर्म का नाश करता है।"

इस व्याख्या को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो हम राज्य-शक्ति और धार्मिक संघ के बलाबल का विवेचन सुन रहे हों, जिसमें अन्तिम निर्णय राजा के पक्ष में दिया गया—'उत्तरः सिद्ध्येत पक्षो येन राजेति भाषितम्' अर्थात् धर्म और राजा इनके विवाद में राजा ही सिद्ध पक्ष हैं (१८३।२७)। 'राजावैः प्रथमो धर्मः' (१८३।२२)। यह दृष्टिकोण गुप्त-कालीन ब्राह्मण-साहित्य का मनःपूत सिद्धान्त पक्ष था।

ताक्ष्य-सरस्वती-संवाद

अरिष्टनेमि ताक्ष्य अर्थात् गुप्तकालीन गरुड़ध्वज वाले ताक्ष्य का सरस्वती के साथ एक संवाद दिया गया है। इसमें ताक्ष्य ने कल्याण का मार्ग पूछा। सरस्वती ने उत्तर में कहा, "जो नित्य स्वाध्यायशील है, ब्रह्म को जानता है, गो-दान, वस्त्र-दान, स्वर्ण-दान, वृषभ-दान करता है, जो अग्निहोत्र करता है, वह देवों के सुखप्रद लोकों में जाता है।"

यह सद्गृहस्थ भागवतों का नूतन आदर्श था। सरस्वती को इस संवाद

में कई बार 'प्रज्ञा की देवी' कहा गया है (प्रज्ञां च देवीं सुभगे विभर्षि), जो बौद्धों की नवीन देवी प्रज्ञा-पारमिता का स्मरण दिलाता है। वस्तुतः कुषाणकाल के लगभग जैन, बौद्ध और ब्राह्मण बुद्धि की अधिष्ठात्री एक देवी की उपासना करने लगे थे, जिसकी मूर्तियां भी लगभग उसी समय से मिलने लगती हैं। ब्राह्मण-साहित्य में सरस्वती और भारती की परम्परा वैदिक-काल से चली आती थी, किन्तु उपासना के लिए उसकी मूर्ति का प्रचार इसी युग में हुआ।

जल-प्रलय की कथा

इसके बाद युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में मार्कण्डेय ने वैवस्वत मनु के तप की और जल-प्रलय की कथा सुनाई। यह कथा वैदिक और ब्राह्मण-साहित्य में सुविदित थी, किन्तु यहां उस कथा की प्रस्तावना देकर महाभारत के प्रतिसंस्कर्त्ता पौराणिकों ने एक विशेष प्रयोजन सिद्ध किया है और कथा के झीने आच्छादन में अपने उस उद्देश्य को भी उन्होंने शब्दों में कह दिया है। यवन, शक, पुलिन्द, पुक्कस, आन्ध्र, शूद्र, आभीर आदि जातियों ने जो देश पर शासन किया था, उसके फलस्वरूप वर्णाश्रम-धर्म का लोप हो गया और सब जनता मानो शूद्र वर्ण की तरह आचरण करने लगी। इस स्थिति से समाज और राष्ट्र की रक्षा भागवत-धर्म के नेताओं ने की। उसी महान् राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल का मानो आंखों-देखा वर्णन यहां किया गया है।

भौगोलिक क्षितिज

प्रलयग्रस्त जगत् का वर्णन करते हुए मार्कण्डेय ने कहा, "उस एकार्णवीभूत अवस्था में मैंने एक विशाल वटवृक्ष की शाखा पर लेटे हुए एक बालक को देखा, जो स्वयं श्रीवत्सधारी नारायण थे। उन्होंने कहा, "हे मार्कण्डेय तुम थक गए हो, तुम मेरे शरीर में विश्राम लो, मैं तुमसे प्रसन्न हूं। बालक के यह कहने पर मार्कण्डेय उसके मुख में प्रविष्ट हो गए। वहां उन्होंने उसके शरीर में जिस भौगोलिक क्षितिज का दर्शन किया, वह भारतवर्ष की जनपद और नगरों से भरी हुई पृथिवी थी। वहां उन्होंने सीता, सिन्धु, विपाशा,

चन्द्रभागा, शतद्रु, सरस्वती, गंगा, यमुना, चर्मण्वती, वेत्रवती, नर्मदा, गोदावरी, शोण, महानदी, कौशिकी, इन नदियों को और महेन्द्र, मलय, पारियात्र, विन्ध्य, गन्धमादन, मन्दराचल, मेरु, हिमाचल और हेमकूट इन पर्वतों को देखा। मध्य एशिया की सीता (यारकन्द) नदी से लेकर दक्षिण की गोदावरी तक एवं मेरु या पामीर से दक्षिण पूर्वी समुद्र-तट के मंदराचल तक का भौगोलिक क्षितिज मार्कण्डेय के इन वर्णन की पृष्ठभूमि में है। गुप्तकालीन सम्राटों ने जिस भू-भाग का पुनः उद्धार किया था वह भी लगभग इतना ही था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के महरौली-स्तम्भ-लेख में बाल्हीक तक के प्रदेश को युद्ध में जीतकर उसका उद्धार करने का स्पष्ट उल्लेख आया है। श्रीवत्सधारी नारायण यहां भागवत-धर्म के प्रतीक हैं, जहां गुप्त राजाओं के प्रभाव से भागवत-धर्म की पुनः स्थापना हुई। यही उस समय राष्ट्र और नगरों से आकीर्ण पृथिवी थी, जो मार्कण्डेय के दृष्टि-पथ में आई (सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम्)।

विष्णु की सार्वभौमिकता

विष्णु की इस लीला से चकित हुए मार्कण्डेय ने स्वभावतः उनका स्वरूप जानना चाहा। उत्तर में विष्णु ने जो कहा, वह ठेठ नारायण-धर्म का दृष्टिकोण है। एक शब्द में उसे हम विभूतियोग कह सकते हैं, जिसका उल्लेख गीता के दशम अध्याय में आया है।

इस प्रसंग का सारांश यही है कि जितने देव हैं, वे सब एक विष्णु की ही विभूतियां हैं।

लगभग पांच-छः सौ वर्षों से जो अनेक देवी-देवताओं का जमघट समाज में जुड़ गया था, उसको ठीक-ठिकाने लगाकर उसके भीतर से किसी दैव तत्त्व की सम्प्राप्ति की समाज को अनिवार्य आवश्यकता थी। वह कार्य भागवत धर्म ने विष्णु के सार्वभौमत्व को स्थापित कर पूरा किया।

कलियुग का भविष्य

इस प्रकार मार्कण्डेय से विष्णु की महिमा और युगक्षय का वृत्तान्त एक बार सुन लेने पर युधिष्ठिर ने फिर प्रश्न किया, "साम्राज्य में जो

भविष्य की गति होगी, उसका कुछ हाल कहिए। इस कलियुग में कहां तक अवस्था बिगड़ने के बाद फिर कृतयुग की स्थापना होगी ?" (१८८।७)।

उत्तर में मार्कण्डेय पुनः म्लेच्छों से पृथिवी के आक्रान्त हो जाने का वैसा ही वर्णन करते हैं, जैसा प्रथम बार कर चुके थे, "पृथिवी दस्युओं से पीड़ित होगी। दुष्ट राजा प्रजाओं को कर-भार से पीड़ित करेंगे। वृषलों के अत्याचार से द्विजों में हाहाकार मच जायगा। लोक में सबकुछ विपरीत और उलट-पुलट हो जायगा। शूद्र धर्म का उपदेश करेंगे, ब्राह्मण श्रोता और उपासक बनेंगे। ऐसा दारुण युग-संक्षय होगा कि पृथिवी म्लेच्छों से भर जायगी एवं वृषलों और ब्राह्मणों में विरोध मचेगा। देवस्थानों में, चैत्यों में, नाग-भवनों में, आश्रमों में, सर्वत्र पृथ्वी पर एडूक बनाये जायंगे, देव-मन्दिर नहीं। 'देवताओं को त्याग कर सब लोग एडूकों को पूजेंग (१८८।६४,६६)। इसके बाद कृतयुग आयगा और कल्कि विष्णुयश नाम का चक्रवर्ती राजा होगा। वह ब्राह्मण सब म्लेच्छों को हटाकर पुनः कृत-युग की स्थापना करेगा और अश्वमेध यज्ञ करेगा। यह मैंने वायु-पुराण के अनुसार तुमसे अतीत और अनागत का सब हाल कहा।"

इस प्रकरण में आया हुआ एडूक शब्द गुप्तकालीन भाषा का है। विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण में भी एडूक-पूजा का उल्लेख है, किन्तु वहां उसका सम्बन्ध शिवलिंग के साथ बताया गया है। मूलतः एडू शब्द द्रविड़ भाषा का है, जिसका अर्थ था अस्थि। अस्थि-गर्भ मंजूषाओं के ऊपर, जिन्हें 'शरीर' भी कहते थे, बननेवाले स्तूपों के लिए यहां एडूक शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी पर्व में पहले अलिजर शब्द आ चुका है (१८५।११, १३), जो पहले-पहल गुप्तकालीन भाषा के स्तर में प्राप्त होता है। अमरकोष, पादताड़िकम् (लगभग ४२५ ई.) एवं बाण के हर्षचरित में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इन संकेतों से ज्ञात होता है कि मार्कण्डेय समास्या-पर्व केवल भाषा की कसौटी पर भी लगभग गुप्तकालीन ठहरता है। विष्णुयश कल्कि की पहचान श्री जायसवाल ने मालवराज यशोधर्मन् से की थी। उसकी मन्दसोर-प्रशस्ति (५३२ ई.) से ज्ञात होता है कि उसका नाम विष्णुवर्धन भी था, और उसने राजाधिराज परमेश्वर सम्राट की उपाधि धारण की थी। वह अपने-आपको मनु, भरत, अलर्क, मान्धाता आदि के

समान कल्याणयुक्त कहता है। उसने वर्णसंकर को मिटाकर सतयुग के समान अपने राज्य को निरापद बना दिया और हूणाधिपति मिहिरकुल को भी अपने चरण-वन्दन के लिए बाधित किया। महाभारत के चक्रवर्ती विष्णु-यश और अभिलेखों के सम्राट विष्णुवर्धन की पहचान सत्य हो तो महा-भारत का यह प्रकरण छठी शती के मध्य भाग में निर्मित हुआ।

भारतीय इतिहास में पहली बार शक-यवनों के और दूसरी बार हूणों के आक्रमण और राज्याधिरोहण से जो सामाजिक उथल-पुथल और राज-नैतिक उत्पीड़न हुआ था, उसी का संकेत महाभारत के इन दोनों युग-संक्षयों के वर्णनों में ज्ञात होता है। पहली बार भागवत धर्म के अभ्युदय से लोक-कल्याण हुआ और दूसरी बार चक्रवर्ती विष्णुयश ने हूण रूपी म्लेच्छों से पृथिवी का उद्धार किया।

३३ : : प्रत्यक्ष धर्म की उदात्त कथाएं

धुन्धुमार-उपाख्यान

युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से प्रश्न किया, "इक्ष्वाकु वंश में जो कुवलाश्व नामक राजा थे उनका नाम बदलकर धुन्धुमार क्यों पड़ गया?" मार्कण्डेय ने कहा, "मरुधन्व देश में उत्तंक मुनि ने अपने आश्रम में बहुत वर्षों तक विष्णु की आराधना करके उन्हें प्रसन्न किया। विष्णु ने उन्हें वरदान दिया कि तुम अपने तप के प्रभाव से बृहदश्व के पुत्र कुवलाश्व नामक राजा से धुन्धु नामक अश्व का नाश कराने में सफल होगे।" मार्कण्डेय ने कहा कि इक्ष्वाकु कुल में शशाद नामक राजा अयोध्या में हुआ। उसके बाद क्रमशः ककुत्स्थ, अनेना, पृथु, विश्वगश्व, आर्द्र, युवनाश्व, श्रावस्त (जिसने श्रावस्ती बसाई), बृहदश्व नामक राजा हुए। बृहदश्व ने अपने पुत्र कुवलाश्व को राज्य देकर वन की राह ली। उत्तंक ने आकर उससे कहा, "आप जंगल में क्यों जाते हैं? प्रजाओं के पालन में जो महान धर्म है, वैसा वन में कहां है? आप ऐसा विचार न करें। पहले राजर्षियों ने प्रजा-पालन को ही महान धर्म कहा है। मेरे आश्रम के पास बालू से भरा हुआ उज्जानक नाम का समुद्र है।

उसमें धुन्धु नामक असुर रहता है, जिसके कारण मैं निर्विघ्न तप नहीं कर पाता। प्रतिवर्ष उसके निःश्वास की आंधी से इतनी धूल उठती है कि एक सप्ताह तक आदित्य का पथ भी छिप जाता है और भूकम्प-जैसा होने लगता है। वैष्णव तेज की सहायता से तुम उसका नाश करने में समर्थ हो। यह धुन्धु सृष्टि के आदि में होने वाले मधु कैटभ का पुत्र है, जो उस बालुका पूर्ण समुद्र में आकर बस गया है।" वृहदश्व ने कहा कि मैं इस समय अपने शस्त्रों का परित्याग कर चुका हूं, आप मुझे वन जाने दें, किन्तु मेरा पुत्र कुवलाश्व उस दुष्ट का वध करेगा। उसके बाद कुवलाश्व ने उत्तंक के नारायणीय तेज की सहायता से उस असुर का वध करके धुन्धुमार पदवी प्राप्त की। इस उपाख्यान के अन्त में लिखा है, विष्णु के समनुकीर्तन रूप इस पवित्र उपाख्यान को जो सुनता है, वह धर्मात्मा, पुत्रवान, आयुष्य और धृति से युक्त हो जाता है और उसे व्याधि का भय नहीं रहता। यह फलश्रुति स्पष्ट ही इसके जोड़े जाने की सूचना देती है। राजस्थान की मरुभूमि की ओर वैष्णव भागवत धर्म का जो प्रचार हुआ, उसीको इस कथानक द्वारा सूचित किया गया है। रेगिस्तान के ठीक नुक्कड़ पर चित्तौड़ के पास नगरी नामक स्थान में वासुदेव और संकर्षण इन दो देवों की पूजा के लिए स्थापित नारायण वाटक नामक एक प्राचीन महास्थान या मन्दिर मिला है, जो लगभग दूसरी शती ईसा पूर्व का है। मथुरा और उनके चारों ओर शुंग काल में भागवत-धर्म का जो एक प्रभावशाली आंदोलन उठा था, उसीका बाह्य मण्डलवर्ती केन्द्र प्राचीन मध्यमिका या नगरी का यह नारायण वाटक था। वहांतक भागवत धर्म के प्रसार का संकेत इस कथानक में है। यह भी संभव है कि धुन्धु, जो पौरव वंश का एक राजा वंशावलियों में है, वह मरुभूमि का शासक था। अयोध्या के कुवलाश्वने पौरव धुन्धु का वध किया, जिस कारण वह प्राचीन अनुश्रुति में धुन्धुमार कहलाया।

पतिव्रता-उपाख्यान

काम्यक वन की शीतल छाया में जो अनेक कथाएं मार्कण्डेय नेयुधिष्ठिर को सुनाईं, उनमें पतिव्रता उपाख्यान' खरा सोना है। यह कहानी जीवन के व्यावहारिक नीति-शास्त्र के मन्थन से उत्पन्न हुई। इसको पढ़ते हुए ऐसा

ज्ञात होता है जैसे नैतिक धर्म की कोई नूतन शीत-वायु जीवन को हरियाली प्रदान कर रही है। जन्म के मिथ्या दर्प और वेदों के सुग्गापाठ की थोथी ऐंठ के कारण जीवन पर पड़ी हुई काई को फाड़कर मानो लेखक की भेदक दृष्टि नीति-प्रधान मूल्यांकन की ओर ध्यान खींचती है। मनुष्य चाहे जीवन में पांडित्य के बोझ से शून्य हो, चाहे समाज की नीची कहे जानेवाली योनियों में उसका जन्म हुआ हो, किन्तु यदि वह अपने निकटतम कर्तव्य का सच्चाई से पालन करता है तो उसने सतोगति का रहस्य पा लिया है, यही इस दीप्त कथा का सार है। वनवासी पाण्डवों के मध्य में द्रौपदी अपने पातिव्रत तेज से यज्ञाग्नि के समान प्रकाशित हो रही थी। प्रबन्ध के मर्मस्थल को पहचानने वाले कथाकार की दृष्टि उस पर पड़ती है और मानो उसके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में वह दो कथाएं समर्पित करता है। एक मिथिला के धर्मव्याध की पतिव्रता स्त्री की कहानी है और कुछ अध्यायों के बाद दूसरी विख्यात कथा सावित्री की है। भागवतों ने निर्वाणवादी बौद्धों के उत्तर में भुक्ति और मुक्ति दोनों से समन्वित जिस गृहस्थ रूपी राजमार्ग का उपदेश किया था निश्चय ही उसका मध्य केन्द्र उन्होंने पतिव्रता स्त्री को माना था। युधिष्ठिर का धर्म-प्रश्न स्त्रियों का माहात्म्य सुनने के लिए प्रवृत्त होता था। इसे उन्होंने धर्म का सूक्ष्म रूप कहा है : "पिता, माता, गौ, अग्नि, पृथिवी, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, इन प्रत्यक्ष देवताओं की पूजा प्रतिष्ठा को लेकर चलनेवाला जो गृहस्थ है उसका मूल पतिव्रता स्त्री है। वैसी स्त्रियां कोटानुकोटि गृहस्थियों में विराजमान हैं, जो अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखकर देवता के समान पति की चिन्ता करती हुई और पति के माता-पिता की शुश्रूषा करती हुई दुष्कर कर्म कर रही हैं। इस प्रकार के कठिन सेवा व्रत का निर्वाह करते हुए वे सर्वात्मना पति में अनुरक्त होकर गर्भ धारण करती हैं और फिर स्वस्थ सन्तति को जन्म देती हैं। ऐसी एकपत्नी नारियों से बढ़कर कौन-सा अद्भुत तत्त्व देखने को मिला ?" इस प्रकार के उद्गार प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से समाज की मूलप्रतिष्ठा साधु-आचारवती नारी की महिमा जानने का आग्रह किया।

उत्तर में मार्कण्डेय ने वेदों का स्वाध्याय करनेवाले कौशिक मुनि और मिथिला के धर्मव्याध की सुलक्षणा पत्नी की कथा कही :

कौशिक नाम का ब्राह्मण वन में वृक्ष के नीचे मंत्र-पाठ कर रहा था। वृक्ष के ऊपर बैठी हुई किसी बगुली ने उसपर बीट कर दी। मुनि ने क्रोध से उसकी ओर देखा तो वह बगुली भस्म होकर नीचे गिर पड़ी। वह ब्राह्मण अपने उस क्रोध से कुछ क्षुब्ध होकर भिक्षा के लिए एक गांव में गया। वहां उसके 'भिक्षां देहि' का उच्चारण करने पर घर की पत्नी ने कहा, 'ठहरो', और यह कह कर वह थककर तुरन्त आये हुए अपने पति की सेवा में लग गई। ब्राह्मण को छोड़कर उसने पहले अपने पति को पाद्य, आचमनीय, आसन, आहार आदि दिये और फिर ब्राह्मण का स्मरण आने पर भिक्षा लेकर आई। ब्राह्मण ने तमककर कहा, 'तुमने मुझे इतनी देर क्यों ठहराया ?' पतिव्रता ने उसका भाव समझकर कहा, 'आप मुझे क्षमा करें। मेरे लिए मेरा पति ही महान् देवता है। उसे क्षुधित और श्रांत जानकर मैंने पहले उसकी शुश्रूषा की। मैं ब्राह्मणों का अपमान नहीं करती। केवल पति-शुश्रूषा को अपने लिए सर्वोत्तम धर्म मानती हूं। हे द्विजवर, मेरे ऊपर क्रोध मत करो। मैं वह बगुली नहीं हूं, जो तुम्हारे रोष से दग्ध हो गई थी। क्रोध मनुष्यों का भारी शत्रु है। जो क्रोध और मोह को जीत लेता है, जो सत्य बोलता है, जितेन्द्रिय है, कष्ट पाने पर भी प्रतिहिंसा नही करता, उसे ही देवों ने ब्राह्मण कहा है। हे भगवन्, ज्ञात होता है कि आप धर्म का तत्त्व नहीं जानते। इसलिए आप वहां जाइए, जहां मिथिला में माता-पिता की शुश्रूषा करनेवाला सत्यवादी जितेन्द्रिय धर्मव्याध रहता है। वह आपको धर्म सिखायगा।' पतिव्रता के वचन सुनकर ब्राह्मण सन्नाटे में आ गया, विशेषकर उस बगुलीवाली बात से। वह मिथिला में धर्मव्याध के पास पहुंचा। व्याध ने देखते ही उसका स्वागत किया और कहा, 'आइए, आपको उस पतिव्रता ने भेजा है।' यह कहकर वह उसे अपनी दुकान से घर ले गया। उसका स्वागत-सत्कार करके व्याध ने उससे स्वधर्म की व्याख्या की, "मांस-विक्रय मेरा कुलोचित कर्म है, जो पिता-पितामह से मुझे प्राप्त हुआ है। मैं उसीका पालन करता हूं। अपने वृद्ध माता-पिता की शुश्रूषा करता हुआ सत्य बोलता हूं। किसी से ईर्ष्या नहीं करता। यथा-शक्ति दान देता हूं। अतिथि और भृत्यों को भोजन कराकर अवशिष्ट-भाग स्वयं खाता हूं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ही लोक का जीवन है। दण्ड-

नीति और त्रयीविद्या से ही लोकव्यवहार चलता है। राजा का स्वधर्म प्रजा का पालन करना है। सब लोग स्वकर्म में निरत रहते है, तभी लोकव्यवहार सुरक्षित रहता है। मैं स्वयं प्राणि-हिंसा नहीं करता। इस समय धर्म के रूप में कितने ही अधर्म घास-फूस से ढके हुए कुंओं के समान लोक में फैले हैं। वे इन्द्रियदमन और पवित्रता का प्रलाप धर्म के नाम से करते हैं, किन्तु वे शिष्टाचार से शून्य हैं।' इस प्रकार व्याध ने सर्वप्रथम भागवतों के उस दृष्टिकोण की व्याख्या की, जिसमें स्थिति भेद से प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वकर्म ही सबसे बड़ा धर्म कहा गया था। काषाय वस्त्र पहनकर जीवन की समस्या का समाधान करने का जो सार्वजनिक मोह धर्म के रूप में फैला हुआ था, स्वधर्म पालन का आग्रह उसी का प्रत्युत्तर था।

शिष्टाचार-धर्म

फिर व्याध ने शिष्टाचार-धर्म की व्याख्या की। यहां शिष्टाचार उस समय का पारिभाषिक शब्द था। समाज में जो श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सत्यधर्म चला आता था, जो शील, नीतिधर्म एवं सदाचार का बद्धमूल आदर्श था, उसीको यहां शिष्टाचार कहा गया है। '**शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, योगेनान्ते तनुत्याजां, त्यागाय सम्भृतार्थानां, सत्याय मितभाषिणाम्।**' आदि उदात्त शब्दों में महाकवि कालिदास ने जिस आदर्श की घोषणा की थी, वही यह शिष्टाचार-धर्म था। बुद्धिपूर्वक रहने और कर्म करने की जिस जीवन-पद्धति का विकास युगों-युगों के भीतर से भारतीय समाज ने किया था, उसे शिष्टाचार की संज्ञा दी गई और वही धर्म में प्रमाण माना गया। इसे बड़े ही स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में कहा गया है:

क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान्।
शिष्टाचारो भवेत् साधू रागः शुक्लेव वाससि॥ (१९८।६८)

अहिंसा, सत्य और सर्वभूत हित को भागवतों ने अपने शिष्टाचार धर्म की मूल प्रतिष्ठा घोषित किया, जिनसे जीवन की विविध प्रवृत्तियां चलती हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' यह वाक्य भी इस प्रकरण में आया है (१९८-६९)। शिष्टों को सन्त कहा गया है और उनकी व्याख्या उन्हीं गुणों के आधार पर की गई है, जिन्हें बोधिसत्त्वों के जीवन का आदर्श माना जाता

था। अद्रोह, दान, सत्य, दया, करुणा, यह शिष्टाचार-सम्पन्न महात्माओं का सुनिश्चित धर्म है। धम्मपद के शब्दों का (पञ्ञापासादमारुह्य असोको सोकिनिपजं अवेक्खति २।८) अनुकरण करते हुए कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति प्रज्ञा के प्रासाद पर चढ़कर शोक-मोह में डूबी हुई प्रजा के विविध चरित्रों को देखा करता है—(**प्रज्ञाप्रासाद मा ह्य मुह्यतो महतो जनान्। प्रक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम। १९८-९३**) इसके बाद व्याध ने हिंसा-अहिंसा के तत्कालीन विवाद की रोचक मीमांसा की। वृक्ष, फल, मूल, जल आदि में सर्वत्र जीवों का निवास है। अतएव पूर्ण अहिंसा का पालन अशक्य ही है। जिस प्रकार लोक का क्लेश न हो, बुद्धिमान वैसी ही वृत्ति अपनावें। इस प्रकार धर्म की बहुविध व्याख्या करके व्याध ने कहा, 'हे विप्र ! सूक्ष्म धर्म मोक्ष धर्म बहुत सुन चुके। अब प्रत्यक्ष धर्म देखो।' यह कहकर वह उसे वहां ले गया, जहां उसकी पत्नी वृद्ध माता-पिता की सेवा कर रही थी। उसने कहा, 'इन्द्रादिक, देव चारों वेद और यज्ञ मेरे लिए माता-पिता हैं। तुमने बिना उनकी आज्ञा के घर छोड़ दिया। यह अच्छा नहीं किया। अब लौटकर उन्हें प्रसन्न करो और महान् गृहस्थ धर्म का उल्लंघन मत करो।'

इस कथा में जन्म के व्याध से वेदपाठी ब्राह्मण को उपदेश विलक्षणता है। गृहस्थाश्रम का उल्लंघन करके संसार का कल्याण करने के लिए वैरागी बनने की इसमें भर्त्सना की गई है। उस युग में मुण्डक बनने की जो महा-व्याधि लोक में फैल गई थी, उसके विरुद्ध भागवतों ने गार्हस्थ्य के दुर्ग को अनेक प्रकार से सुदृढ़ बनाया। अहिंसा आदि जो सद्‌गुण विपक्षियों के तरकश के तीर थे, उन सबको उन्होंने जी खोलकर अपना लिया, यहां तक कि पुलिन्द पुक्कसों के लिए भी अपने द्वार खोलकर जाति-संबंधी कट्टरता पर प्रहार किया।

तुलाधार-जाजलि कथा

इस प्रकरण से मिलती हुई एक कथा शांति पर्व के तुलाधार जाजलि संवाद में भी आई है (मोक्ष धर्म अ० २५३-२५६)। वहां भीष्म वक्ता हैं। जाजलि नामक ब्राह्मण ने समुद्र-तट पर इतने अधिक समय तक योग

और तप किया कि पक्षियों के उसकी जटाओं में घोंसला रख लेने पर भी उसे भान न हुआ। इससे उसमें अहं भाव उत्पन्न हुआ। तब आकाशवाणी हुई, 'तुम अभी वाराणसी के तुलाधार के समान नहीं हो पाये, उससे जाकर धर्म सीखो।' जाजलि जब तुलाधार के पास पहुंचा तो पूर्वोक्त पतिव्रता स्त्री की भांति तुलाधार ने भी पक्षियोंवाली बात कही। वैश्य तुलाधार ने जाजलि को धर्म का उपदेश दिया, जिसमें मुख्य आग्रह अहिंसापरक दृष्टिकोण पर था। भूतों के प्रति अद्रोह भाव से जीविका साधना, यही तुलाधार की निष्ठा थी।

तुला मे सर्व भूतेषु समा तिष्ठति जाजले।
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः॥
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले। (शांति० २५४।६)

कृषि वार्त्ता आदि जीविका के भौतिक साधनों के पक्ष में इस कथा में प्रौढ़ युक्तियां दी गई हैं, और धर्म को कहने-सुनने का विषय न रख कर प्रत्यक्ष अनुभव में लाने पर आग्रह किया गया है :

प्रत्यक्षं क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यस तद्यथा। (शांति० २५६।१)

धर्मव्याध और तुलाधार दोनों नूतन भागवत धर्म के दृष्टिकोण के प्रतिनिधि हैं, जिसके द्वारा धर्म के रूढ़िवाद को पिघलाकर पांचरात्रिकों ने उसे विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में लोकहितकारी धर्ममार्ग के रूप में परिणत किया।

अंगिरसोपाख्यान

मार्कण्डेय की कही हुई कथाओं में चौथा गुच्छा अग्निवंश और पांचवां स्कन्द जन्म से सम्बन्ध रखता है। अग्नि वंश समस्त भारतीय वाङ्मय में अपने ढंग की एक ही साहित्यिक कृति है। इसका मूल धरातल नितान्त वैदिक है। वेद के अनुसार सृष्टि का मूल गति तत्त्व है, जिसे अग्नि कहा गया है : '**एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध**' अर्थात् वही एक मूल अग्नि लोक लोकों में बहुत प्रकार से गतिशील दिखाई पड़ रहा है। सृष्टि के परम कारण मूल तत्त्व की संज्ञा निर्विशेष ब्रह्म है, जिसके विषय में सत्-असत्, अमृत-मृत्यु, किसी प्रकार का कोई विशेषण नहीं दिया जा सकता। वह निर्विशेष शुद्ध

रस रूप था। उस रस के धरातल पर बल का उदय हुआ। अव्यक्त बलों से युक्त होने पर उस ब्रह्म तत्त्व को परात्पर कहा जाता है परात्पर ब्रह्म के किसी प्रदेश में माया नामक बल के आविर्भाव से वह ब्रह्म अव्यय पुरुष के रूप में अभिव्यक्त हुआ। अव्यय में सीमा भाव की उत्पत्ति हुई। इस अव्यय से क्रमशः अक्षर और अक्षर से क्षर का विकास हुआ। अक्षर तत्त्व ही प्राण तत्त्व है। प्राण का नाम ही गति है। इसे ही अग्नि कहा गया है। अग्नितत्त्व को वैदिक भाषा में अंगिरा और आप्य तत्त्व को भृगु की संज्ञा दी गई। अंगिरा और भृगु इन दोनों के पारस्परिक संघर्ष से लोकों का जन्म होता है। इस प्रकार वैदिक सृष्टि प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में अग्निवंश नामक इस प्रकरण की कल्पना की गई है। गति, आगति और स्थिति ये तीनों एक ही गति-तत्त्व के भेद हैं, जिन्हें इन्द्र, विष्णु और ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा या स्थिति-तत्त्व के धरातल पर अंगिरा या अग्नि-तत्त्व का जन्म हुआ और वही एक अग्नि-शक्ति फिर अनेक नाम रूपों से विस्तार को प्राप्त हुई। अग्नि एक है, उसके कर्म अनेक हैं।

अग्निर्यदा त्वेकएव बहुत्वं चास्य कर्मसु (आरण्यक पर्व २०७।३)

यहां कहा गया है कि ब्रह्मा के पुत्र अग्नि हुए और अग्नि के प्रथम पुत्र अंगिरा। अग्नि और अंगिरा एक हैं। उसी अंगिरा का परिवार बढ़ता हुआ नाना प्रकार की यज्ञीय अग्नियों के रूप में विकसित हुआ, जैसे भरद्वाज अग्नि, भरत अग्नि, वैश्वानर अग्नि, स्विष्टकृत अग्नि, कामाग्नि आदि। इसी प्रसंग में वैदिक पञ्चजन और 'त्रीणि पंच-पंच' अर्थात् अव्यय, अक्षर और क्षर की पांच-पांच कलाओं का उल्लेख आया है। सब प्राणियों के उक्थ या केन्द्र में अन्तर्निविष्ट मनु नामक अग्नि भी उसी मूल गति-तत्त्व का विकास है, जिसके कारण विश्व का स्पन्दन या प्राजापत्य विधान चल रहा है। जैसा मनुस्मृति में कहा है, 'उसी एक प्राणतत्त्व को कोई अग्नि, कोई मनु प्रजापति, इन्द्र और कोई शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।' सृष्टि का मूलभूत महान् ऊष्मा ही महान् अग्नि या महाप्राण है, जो भूत या पिंडों में लक्षित है। वही मनु प्रजापति या हृदय तत्त्व है:

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापिमनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्॥ (आरण्यक पर्व २११।४)

अन्त में '**अग्नीषोमात्मक जगत्**' की व्याख्या को पूर्ण करते हुए कहा है कि जितनी अग्नियां हैं, उतने ही सोम हैं, और अग्नि के समान समस्त सोम भी एक ही मूल ब्रह्म-तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं।

तात्त्विक अग्नि का वर्णन करते हुए ऋषि का ध्यान उन अग्नियों की ओर जाता है, जिन्हें मनुष्य यज्ञ की वेदियों में प्रज्वलित करते हैं। ये यज्ञ-वेदियां नदियों के तटों पर बनाई गईं। सिन्धु, सरस्वती, गंगा, सरयू, कौशिकी, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी ये सब नदियां उन यज्ञीय अग्नियों की माताएं हैं (**एता नद्यस्तु धिष्णयानां मातरो याः प्रकीर्त्तिता**—२१३।२४)। इस प्रकार भरत अग्नि के बहुधा प्रज्वलित होने से सारा देश ही यज्ञिय और भारत बन गया।

कुमार जन्म

आध्यात्मिक और आधियज्ञिक अग्नि की व्याख्या करते हुए मार्कण्डेय का ध्यान एक दूसरे प्रकार की अग्नि की ओर गया, जिसे ब्राह्मण ग्रंथ में कुमार अग्नि कहा है। ऋग्वेद के अनुसार यही 'चित्रशिशु' (ऋ. १०।१।२) था। सृष्टि का मूलभूत जो कोई विलक्षण तत्त्व है, उसे ही अद्भुत आश्चर्य कहा गया है। वही गुहा निहित या गुह्य है। उस गुहा से जो शक्ति अभिव्यक्त होती है, मार्कण्डेय ने आरम्भ में उसे ही अद्भुत से जन्मा हुआ अद्भुत पुत्र कहा है। वही विलक्षण कुमार अग्नि है :

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम्—(२१३।१।)

ऋग्वेद में बार-बार अग्नि के लिए 'गुहा सन्तम्', 'गुहा हितम्' विशेषण आये हैं। देवसृष्टि का जो अमृत तत्त्व है, वह तैजस कहलाता है। वही जब भूतों में अभिव्यक्त होता है, तब उस भूत मर्त्य सर्ग का नाम कौमर सर्ग है। अमृतप्राण तत्त्व ही सर्व भूतों में कुमारअग्नि के रूप में आविर्भूत हो रहा है। सृष्टि की यह प्राणाग्नि अथ से इति तक नई-नई है। प्रति संवत्सर में प्रत्येक ऊषा के सुनहले प्रकाश में '**नवो नवो भवति जायमानः**' यही इसका स्वरूप है, मानो इसका क्षय कभी होता ही नहीं। इसीलिए मानो यह सनातन ब्रह्म-चारी है। भूतों के निर्माता संवत्सर के द्वारा कुमार अग्नि का जन्म होता है। इसे चित्र क्यों कहा गया? सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से इस विलक्षण अग्नि का

भूत सृष्टि में बराबर चयन हो रहा है। चित होने के कारण ही इसे परोक्ष भाषा में चित्र नाम दिया गया। इस प्रकार एक ही मूलभूत अग्नि तत्त्व या गति तत्त्व के दो रूप हैं। एक सृष्टि से प्राक् अवस्था में और दूसरा विश्व की भूत चितियों में। मूलभूत अग्नि तत्त्व या गति तत्त्व को वेदों में रुद्र भी कहा गया है। गति रुद्र, आगति विष्णु और स्थिति या प्रतिष्ठा ब्रह्मा का रूप है। अतएव पौराणिक उपाख्यानों में कुमार रुद्र के पुत्र हैं। उन्हें अग्नि का पुत्र भी कहा गया है। उपाख्यान के अनुसार छह कृत्तिकाएं गुह या स्कन्द की माताएं हैं। वैदिक परिभाषा में अग्नि, यम, आदित्य, ये तीन अंगिरा हैं और आप, वायु, सोम ये तीन भृगु कहलाते हैं। भृगुओं और अंगिराओं के सम्मिलित तप से ही विश्व की मूलभूत अग्नि जन्म लेती है। यही छह कुमार की छह माताएं हैं। इस प्रकार कितनी ही परिभाषाओं द्वारा स्कन्द के वैदिक स्वरूप को कथा में ढालने का प्रयत्न इस आख्यान में पाया जाता है।

स्कन्द की कथा में लोकतत्त्व

किन्तु महाभारत में स्कन्द की कथा का जो रूप है, उसमें न केवल वेद अपितु लोक के भी बहुत से धार्मिक तथ्य आपस में एकमेक होगए हैं अथवा इसे छह लड़ का गूंथा हुआ हार कह सकते हैं। स्कन्द उत्पत्ति, स्कन्दशक्र समागम, स्कन्दोपाख्यान, स्कन्द-ग्रह कथन, स्कन्द-युद्ध, कार्तिकेय स्तव—यही इस कथात्मक, षट्कोण की छह टपकियां हैं। यह सारा प्रकरण उस उदात्त प्रयत्न का स्मारक है, जिसके द्वारा लोक और वेद के अनेक अनमिल तथ्यों को एकत्र समेट कर समन्वय सूत्र में पिरो दिया गया।

स्कन्द की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका उपक्रम करते हुए कहा गया है कि देवासुरों के संग्राम में असुर सदा विजयी होते थे। देवताओं की सेना के लिए इन्द्र को एक सेनापति की आवश्यकता हुई। उसने मानस पर्वत पर एक स्त्री को विलाप करते हुए सुना। उसने बताया कि मैं प्रजापति की पुत्री देवसेना हूं। मेरी बहन दैत्यसेना थी, जो केशी असुर के साथ चली गई। इन्द्र ने तुरन्त उसे पहचानते हुए कहा, "तुम तो मेरी ही माता दाक्षायणी अदिति की बहन की पुत्री हो।" देवसेना ने इन्द्र से अपने लिए पति चुनने

की प्रार्थना की। तब इन्द्र ने अनेक द्वंद्वों के बाद सप्तर्षि पत्नियों की कुक्षि से उत्पन्न स्कन्द के साथ उसका विवाह कर दिया। इसी कल्पना में अद्भुत और स्वाहा को भी स्कन्द के जनक-जननी माना गया है, एवं वैदिक सुपर्ण विद्या का आश्रय लेते हुए सुपर्णी अर्थात् सुपर्ण का रूप धारण करनेवाली गायत्री को भी स्कन्द की माता बताया गया है। लोक के धरातल पर कहा है कि लोक में जिन मातृदेवियों की पूजा होती थी, उन्होंने स्कन्द को अपना पुत्र स्वीकार किया, और जितने ग्रह-उपग्रह आदि गण थे, वे सब महासेन स्कन्द के चारों ओर एकत्र होगए। पिता अग्नि ने अपने कुमार को छागमुख रूप में कल्पित किया। वस्तुतः अग्नि की एक संज्ञा अज भी है और अज छाग या बकरे को भी कहते हैं, इसीसे लोक में स्कन्द के छागमुख-रूप की कल्पना की गई। मथुरा की कुषाणकालीन कला में छागमुखी पुरुष-देवता की मूर्त्तियां पाई गई हैं। उन्हें महाभारत में नैगमेय और जैन-धर्म की मान्यता में हरिणैगमेश कहा गया है।

स्कन्द-शक्र समागम में इन्द्र और स्कन्द के संघर्ष का उल्लेख है। अन्त में दोनों का मेल हो जाता है। कहा गया है कि इन्द्र के वज्रप्रहार से स्कन्द की कुक्षि से अनेक घोर ग्रहों का जन्म हुआ। इस प्रकार के बहुत-से ग्रहों का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रंथों में आया है। बच्चों को पीड़ा पहुंचाने वाले ऐसे ग्रहों के विषय में लोक में मान्यता प्रचलित थी। स्कन्द को उन सबका अधिपति मानकर उन्हें स्कन्द ग्रह के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उनमें से एक ग्रह को स्कन्दापस्मार भी कहा है। इस प्रकार के ग्रह और पूतना रेवती आदि अनेक देवियों का, जिनका बच्चों से संबंध माना जाता था, सविस्तर वर्णन काश्यप संहिता नामक आयुर्वेदिक ग्रंथ के रेवती कल्प प्रकरण में आया है। उसका कुछ संकेत हम महाभारत के इस प्रकरण में देखते हैं। वस्तुतः इस प्रकरण के अन्त में जो फलश्रुति दी हुई है, उससे सूचित होता है कि यह महाभारत का मूल अंश न था, किन्तु कुषाणकाल के समीप जोड़ा गया। यह वह समय था जब लोक में विशाख, स्कन्द, महासेन, कुमार, इनकी पृथक्-पृथक् रूप से मान्यता थी, जैसाकि कुषाण सम्राट हुविष्क ने अपने सोने के सिक्कों पर उल्लेख किया है। कार्तिकेय या स्कन्द के स्वरूप के इस अनगढ़ मसाले का तक्षण करके महाकवि कालिदास ने चतुर शिल्पी

की भांति उस उदात्त धरातल पर स्कन्द के उपाख्यान को प्रतिष्ठित किया, जिसे हम कुमारसम्भव में देखते हैं। महाभारत के इस उपाख्यान में स्कन्द का युद्ध महिषासुर से कराया गया है, जो कि कुषाणकाल की लोक-मान्यता थी। गुप्तकाल की पृष्ठभूमि में कालिदास की मौलिक कल्पना के अनुसार स्कन्द का प्रतिपक्षी तारकासुर हो जाता है। कालिदास ने अनुसार स्कन्द के स्वरूप का तेजस्वी वर्णन इस प्रकार किया :

रक्षा हेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना—
मत्यादित्यं हुतवह मुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ।। (मेघदूत)

स्कन्द के इस नूतन स्वरूप की व्याख्या हमने अपने मेघदूत की भूमिका में की है। यह भी ज्ञातव्य है कि कालिदास ने स्कन्द का वाहन मयूर माना है (**मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन,** रघु० ६।४) और सम्राट कुमार गुप्त की स्वर्ण मुद्राओं पर मयूर का ही अंकन है, किन्तु कुषाणकालीन यौधेयगण की मुद्राओं पर कार्तिकेय की खड़ी हुई मूर्त्ति के पार्श्व में कुक्कुट अंकित किया गया है। महाभारत में स्कन्द के साथ मयूर का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु कुक्कुट का उल्लेख है : (**कुक्कुटाश्चाग्निना दत्तस्तस्म केतूरलंकृतः** (२१८।३२)। कानपुर जिले में लालाभगत स्थान से प्राप्त कार्त्तिकेय स्तम्भ के ऊपर कुक्कुट शीर्षक था। मध्य में कुमार वर और श्री लक्ष्मी उत्कीर्ण हैं। आरण्यक पर्व में भी 'कुमारवरः' और श्री लक्ष्मी की मूर्त्ति का उल्लेख आया है :

अभजत्पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी।
श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा ।। (२१८।३-४)

देवसेना, षष्ठी, श्री लक्ष्मी, अपराजिता और आदि देवियों की एकात्मकता बताते हुए उन सबका सम्बन्ध स्कन्द के साथ जोड़ा गया है। जिस दिन स्कन्द और देवी श्रीलक्ष्मी का सम्मिलन हुआ, वही महातिथि लोक में श्री पञ्चमी नाम से प्रसिद्ध हुई। (**श्रीजुष्टः पञ्चमी स्कन्दस्तस्माच्छ्री पञ्चमी स्मृता**—२१६।४६)—श्री पञ्चमी वसन्त का जन्म-दिन है। इसका अर्थ यह है कि उसी दिन से अग्नि के कण सोम के शीत धरातल पर प्रतिष्ठित होने या वसने लगते हैं, जिससे वह ऋतु वसन्त कहलाती है। ऋतुओं में अग्नि की अभिव्यक्ति का आरम्भ ही अग्निपुत्र स्कन्द का

श्री-लक्ष्मी से युक्त होना है। वहीं से संवत्सर में कुमार अग्नि का उपक्रम होने लगता है।

३४ : : द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

स्कन्द की कथा जहां समाप्त होती है वहीं मार्कण्डेय समास्यापर्व अर्थात् मार्कण्डेय के साथ पाण्डवों की धर्ममयी गोष्ठी का पर्व भी महाभारत में समाप्त माना गया है। इसके बाद प्रकरण पलट जाता है और पाण्डवों की निजी कथा एवं दुर्योधन के साथ उनकी नोक-झोंक का प्रसंग पुनः चलने लगता है। इन्हीं पर्वों का नाम घोष-यात्रा और द्रौपदी-हरण-पर्व है। इनमें वक्ता के रूप में मार्कण्डेय का नाम नहीं है। उसके बाद रामायण की कथा और सावित्री सत्यवान् की कथा में, जो प्रतीत होता है बाद में वहां रखी गईं, पुनः मार्कण्डेय को वक्ता के रूप में कल्पित किया गया है।

जिस समय मार्कण्डेय पर्व समाप्त हुआ, स्वाभाविकतया उसी समय कृष्ण और सत्यभामा ने भी पाण्डवों से विदा ली। यहीं पर वेद के महदुपाख्यानों से छुट्टी पाकर कथाकार की दृष्टि सिकुड़कर बैठी हुई द्रौपदी की ओर जाती है और उसने सत्यभामा द्रौपदी संवाद के रूप में द्रौपदी के चित्र को उज्ज्वलता प्रदान करने का सरस प्रयत्न किया है। उस विप्रमण्डली में द्रौपदी सत्यभामा भी आपस में कुरुकुल और यदुकुल की चित्र-विचित्र कथाएं कह रही थीं। अग्निवंश और स्कन्द के उलझे हुए कथानकों के बीच में वे अपने मन को हलका कर रही थीं। अब विदा लेने के समय सात्राजिती सत्यभामा ने याज्ञसेनी द्रौपदी को अलग ले जाकर एक निजी चर्चा चलाई, जो स्त्रियों के ही योग्य है। उसने पूछा, "हे द्रौपदी, लोकपालों के समान वीर इन पांच पाण्डवों से तुम कैसे निपटती हो? तुमने इन्हें कैसे अपने वश में कर रखा है कि वे सदा तुम्हारा मुंह देखते रहते हैं? क्या ऐसी कोई व्रतचर्या या तप है, या किसी मंत्र या जड़ी-बूटी के द्वारा उन्हें अपने वशीभूत कर रखा है?" द्रौपदी चट उसके मर्म को समझकर बोली, "हे कृष्ण की प्रिय पटरानी, तुम यह कैसा प्रश्न करती हो? तुम्हारे प्रश्न के

पीछे एक संशय है जो तुम्हारे योग्य नहीं। अगर स्वप्न में भी भर्त्ता को यह पता चले कि उसकी स्त्री मंत्र और औषधि के द्वारा उसे वश में करना चाहती है तो तुरन्त उसके मन में ऐसा उद्वेग उत्पन्न हो जाय जैसे घर में आये हुए सांप से कोई डर जाता है। मंत्र और जड़ी-बूटी से क्या कोई पति कभी स्त्री के वश में हुआ है ? कुलच्छनी स्त्रियां तो जड़ी-बूटी खिलाकर पतियों में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर लेती हैं। उन पापियों की बात क्या कहूं? मैं तुम्हें अपने मनकी वह वृत्ति बताती हूं जिससे महात्मा पाण्डवों से मैं व्यवहार करती हूं। हे यशस्विनी, उसे सुनो।

सबसे पहले मैंने अपने चित्त से अहंकार को दूर किया। फिर काम और क्रोध से अपनेको दूर रखा है। अभिमानरहित होकर शुश्रूषा द्वारा अपने पतियों का चित्त वश में रखती हूं। सूर्य, वैश्वानर और सोम के समान महारथी पाण्डव ही मेरे लिए सबकुछ हैं। देव, मनुष्य, गन्धर्व कैसे भी यौवन और अलंकार या सौन्दर्य से युक्त हों, मेरे लिए दूसरा पुरुष है ही नहीं। घर में चाहे जितने नौकर हैं, पर पाण्डवों के भोजन किये बिना मैं स्वयं भोजन नहीं करती। खेत, वन या गांव से जब पति घर में आता है तो उठकर आसन और पाद्य से स्वागत करती हूं। मैं अपने घर में सब भाण्डों को साफ-सुथरा रखती हूं। समय पर स्वादिष्ट भोजन देती हूं। कभी अपने सम्भाषण में तिरस्कार के शब्द नहीं आने देती। दुष्टा स्त्रियों से व्यवहार नहीं रखती। आलस्यरहित होकर नित्य पतियों के अनुकूल रहती हूं। अतिहास, अतिरोष से बचकर सदा सत्य में निरत रहती हूं। पति से रहित मुझे कुछ भी इष्ट नहीं है। जब कुटुम्ब के किसी काम से पति विदेश जाते हैं तो पुष्प और गन्धानुलेपन से विरत रहकर व्रत पालन करती हूं। पति जो नहीं खाते-पीते, उससे मैं भी बचती हूं। मेरी सास ने पहले मुझे कुटुम्ब-धर्म सिखाये थे, उनका पालन करती हूं। सदा पूरी तरह विनय और नियमों को धारण करती हूं। मेरा समस्त धर्म पतियों पर निर्भर है। मैं नित्य सावधान रहकर कर्म में लगी रहती हूं। इसीसे पति मेरे वश में हैं। सत्यवादिनी आर्या कुन्ती की परिचर्या मैं स्वयं करती हूं। किसी समय युधिष्ठिर के भवन में अनेक ब्रह्मवादी ब्राह्मण, गृहमेधी स्नातक एवं ऊर्ध्वरेता यति भोजन करते थे। मैं उनका यथावत् सम्मान करती थी। महात्मा कौन्तेयके यहां जो अनेक दास-

दासियां थीं मैं उन सबके नाम-रूप जानती थी और उनके भोजन-वस्त्र के विषय में सावधानी रखती थी, यहांतक कि न केवल अन्तःपुर के भृत्य किन्तु गोपाल और अविपालों के कर्म-अकर्म के विषय में भी मैं सबकुछ जानती थी। राजा के आय और व्यय का भी मुझे परिचय था। जैसा वरुण निधियों से भरे हुए समुद्र का परिचय रखते हैं, वैसे ही मैं अकेली अपने पतियों के कोश के विषय में जानती थी। मेरे लिए पतियों की आराधना में रात-दिन एक समान थे। मैं सबसे पहले उठती और बाद में सोती हूं। वही मेरा वह महान् 'पति-आराधन' व्रत है, जिसके द्वारा मैं अपने पतियों को प्रसन्न रख सकी हूं।'' यह सुनकर सत्यभामा अति प्रभावित हुई और उसने अपने प्रश्न का स्मरण करते हुए लजाकर द्रौपदी से क्षमा मांगी, "हे याज्ञसेनि, सखियों को आपस में हँसी करने की कुछ छूट मिलनी ही चाहिए।"

तब सत्यभामा के साथ कृष्ण सबसे विदा होकर अपने रथ पर बैठकर चले गए। जाते हुए सत्यभामा ने आत्मीयतापूर्वक कहा, "हे द्रौपदी, तुम्हारे अभिमन्यु आदि जो पुत्र द्वारका में हैं वे सब कुशल से हैं। उनमें और प्रद्युम्न आदि अपने पुत्रों में कृष्ण और वृष्णि कोई भेद नहीं मानते।" इतना कह सत्यभामा ने द्रौपदी की प्रदक्षिणा की। इसके बाद पाण्डवों ने उस मण्डली को शनैःशनैः विदा किया और स्वयं द्वैतवन में, जहां एक उत्तम सरोवर था, पहुंचे।

३५ : : दुर्योधन की घोष-यात्रा

किसी ब्राह्मण ने यह सूचना हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र को दी और कहा कि पाण्डव बन में नाना क्लेश सह रहे हैं। यह सुनकर धृतराष्ट्र के मन में एक हूल उत्पन्न हुई। उसने समझा कि मैं ही पाण्डवों के कष्ट का कारण हूं; किन्तु धृतराष्ट्र का मन बहुत देर तक ऋजु भाव से सोचने का अभ्यस्त न था, जैसा हम पहले कई बार देख चुके हैं। उसने सोचा, "पाण्डव इतना दुःख पाने के बाद कौरवों से बदला लिये बिना न मानेंगे। अर्जुन स्वर्ग में दिव्यास्त्र सीखने गया था। यदि बदला लेने की इच्छा न होती तो कौन-

ऐसा मनुष्य है, जो स्वर्ग से फिर लौटना चाहेगा ? कदाचित् युधिष्ठिर और अर्जुन पाप की बात न भी सोचें तो भी भीमसेन कभी न मानेगा। मेरे पुत्र पहाड़ की चोटी पर लगे हुए मधु को देखते हैं, नीचे का खड्ड नहीं देखते।" उसने एकान्त में अपनी यह आशंका दुर्योधन और शकुनि से प्रकट की। उन्होंने जाकर कर्ण से सलाह की तो कर्ण ने अपनी कुटिलता का कुछ अंश उडलते हुए कहा, "अब चिन्ता किस बात की है ? पाण्डवों को निकालकर सुख से पृथिवी को भोगो। सब राजा तुम्हारे करदाता हैं। पाण्डवों की लक्ष्मी तुम्हारे पास आ गई है। सुना है, पाण्डव द्वैतवन में हैं, तो तुम साज सजकर वहां चलो और पाण्डवों को इस दीन दशा में देखकर अपने जी को ठंडा करो। शत्रु को कष्ट में देखकर जो सुख मिलता है, वह पुत्र, धन या राज्य-लाभ से भी नहीं मिलता। तुम्हारी सुवासिनी स्त्रियों को देखकर कृष्ण का मन टूक-टूक हो जायगा।" कर्ण की बात सुनकर दुर्योधन की वाछें खिल गईं। उसने कहा, "कर्ण, यही सब तो मेरे भी मन में था। पर धृतराष्ट्र से मुझे वहां जाने की अनुमति कभी न मिलेगी। वह तो दुःख में तपे हुए पाण्डवों को कुछ और भी ऊंचा समझकर उनके लिए सोच किया करता है। फिर वह यह भी ताड़ लेगा कि वनवासी पाण्डवों के पास जाने का उन्हें कष्ट दने के सिवाय हमारा और क्या प्रयोजन हो सकता है। हां! यदि धर्मराज और भीमसेन मेरी इस लक्ष्मी को देख पाते तो मेरे जान-में-जान आ जाती, पर कोई उपाय नहीं सूझता। यह सुनकर कर्ण ने हँसते हुए कहा, "उपाय मेरी समझ में आगया। सुना है, इस समय राजकीय घोष द्वैत-वन में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। घोष-यात्रा के बहाने चलना चाहिए।"

अगले दिन सबने धृतराष्ट्र के दर्शन किये। उसी समय सधे-सधाये समङ्ग नाम के ग्वाले ने धृतराष्ट्र से निवेदन किया, 'महाराज, आजकल आपका समस्त गोधन पास में ही चरने के लिए आया हुआ है।" बात का तार जोड़कर चट कर्ण और शकुनि ने कहा, "महाराज, इस समय हमारे घोषों का पड़ाव बड़े सुन्दर स्थान में हुआ है। गायों के स्मारण (गणना) और बछड़ों के अंकन (नए बछड़ों पर चिह्न डालने) का यही समय है। और इसी अवसर पर कुछ थोड़ी मृगया भी दुर्योधन के लिए उचित होगी। अतएव आप दुर्योधन को वहां जाने की अनुज्ञा दें।" धृतराष्ट्र ने बात की

मरोड़ को और गहराई से पहचाना और कहा, "मृगया और गायों की देख-भाल ये दोनों बातें तो ठीक हैं, पर कहने से ही विश्वास करके वहां न चले जाना चाहिए। संभव है, इसमें कुछ छिद्र हो। सुनने में आया है कि पास में ही पाण्डव ठहरे हैं। वे सताये हुए हैं, इसलिए हो सकता है कि वे चोट करें। मेरी राय में तुम्हारा वहां जाना ठीक नहीं। हमारे विश्वसनीय राजपुरुष गायों की संख्या कर लावेंगे।" धृतराष्ट्र की बात के इस दांव को बचाने के लिए शकुनि ने एक पैंतरा बदला और जैसा उसने जीवन में कभी नहीं किया था, उसने भी पाण्डवों की श्लाघा में दो शब्द कहे, "युधिष्ठिर धर्मज्ञ हैं। सभा में प्रतिज्ञा करके गए हैं कि बारह वर्ष वन में रहेंगे। उनके धर्मचारी भाई उनके अनुगामी हैं। इसलिए उनकी ओर से कुछ खटका न करना चाहिए। पाण्डवों का दर्शन करना हमारी इच्छा भी नहीं। हमें तो मृगया और गायों की गिनती के लिए वहां जाना है। कोई अनार्योचित बात वहां न होगी।" यह सुनकर धृतराष्ट्र ने अनुमति दे दी और दुर्योधन बड़ी सेना सजाकर द्वैतवन में सरोवर के पास पहुचा।

प्राचीनकाल में यह प्रथा थी कि प्रतिवर्ष राज्य की गायों का स्मारण या गणना होती थी। गौ और ग्वाले वन के जिस भाग में पड़ाव डालते थे, उसे घोप कहा जाता था। जब गाएं एक वन में चर चुकती तब वे दूसरे वन में चली जाती थीं। पहला वन पाणिनि के अनुसार भूतपूर्व **गोष्ठ या आशितङ्गवीन अरण्य** कहा जाता था। गायों के स्मारण में तुरन्त की ब्याई गायों को, बछड़ों को और ग्याभिन हुई ओसर बछियों को गिना जाता था और उनपर अंक या निशान डाल दिये जाते थे। तीन वर्ष की आयु के पशुओं को विशेप रूप से लिख ़िया जाता था, क्योंकि सम्भावना थी कि वे वर्ष के बीच में ही ग्याभिन होकर बच्चा दे दें, जिसकी चोरी से राज्य की हानि हो जाय (२२६।४-६)। घोष में गायों की संख्या सहस्रों होती थीं। जैन-साहित्य के अनुसार दस सहस्र गायों की संख्या को व्रज कहा जाता था।

गौओं की गणना समाप्त करके दुर्योधन ने मृगया से अपना मन बहलाया और तब वह द्वैतवन सरोवर की ओर बढ़ गया। वहां उस दिन युधिष्ठिर ने संद्यस्क नामक राजर्षि यज्ञ किया था। युधिष्ठिर का पड़ाव सरोवर के चारों ओर फैला था। दुर्योधन ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि

अखाड़ा (आक्रीड़ावसथ) का निर्माण करें। उन्होंने द्वैतवन सरोवर के पास ही ऐसा करना चाहा। वहां उसी समय गन्धर्वराज चित्रसेन अप्सराओं के साथ विहार के लिए आया हुआ था। उसके गन्धर्वों ने कुछ रोक-थाम की, तो दुर्योधन के परिचारकों ने जाकर शिकायत की। दुर्योधन आग-बबूला हो गया और उसने गन्धर्वों की बस्ती को उखाड़ फेंकने की आज्ञा दी। इस पर दोनों में बात बढ़ गई। दुर्योधन के महाबली साथी तन गए। गन्धर्वों ने फिर रोका, किन्तु लात के देवता बात से नहीं मानते। दोनों दलों में बज गई और गन्धर्वों ने कौरवों की सेना को तितर-बितर करके दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण आदि को बांध लिया।

इस प्रकार अवरुद्ध हुए दुर्योधन के मंत्री रोते-पुकारते युधिष्ठिर के पास पहुंचे। उनकी बात सुनकर भीमसेन ने कहा, "अरे, तुम लोग कुछ और करने चले थे, हो गया कुछ और—**अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम्** (२३१।१५) हम तुमसे बदला लेते, पर हमारा काम गन्धर्वों ने ही कर दिया। भीमसेन को बरजते हुए युधिष्ठिर ने कहा, "यह निष्ठुरता का समय नहीं है। कौरव भयार्त होकर हमारी शरण में आये हैं। भाई-बन्धुओं में फूट और झगड़े भी होते हैं, पर उनका ज्ञाति धर्म नष्ट नहीं हो जाता। अपने कुल पर बाहरी हमला हो तो उसे नहीं सहना चाहिए। मूर्ख दुर्योधन तो यह नहीं समझता, पर अपने कुल की स्त्रियों को इस प्रकार पराभूत नहीं देखा जा सकता। इसलिए हे भीम, हे अर्जुन, हे नकुल, सहदेव, उठो और कौरवों को बचाओ। यदि मैं इस यज्ञ में न बैठा होता तो मैं स्वयं ही जाता। शान्ति के साथ ही तुम दुर्योधन को छुड़ाने का उपाय करना। यदि गन्धर्वराज शान्ति से न माने तो मृदु पराक्रम भी कर सकते हो। मृदु युद्ध से भी काम न चले तो सर्वोपाय काम में लाना।" युधिष्ठिर का वचन सुनकर अर्जुन और भीमसेन मौके पर पहुंचे और वहां बड़ी रगड़ के बाद, जिसमें शस्त्रास्त्रों का खुलकर प्रयोग हुआ, वे गन्धर्वों को वश में कर पाये। पाण्डवों की प्रेरणा से चित्रसेन ने दुर्योधन और उसके साथियों को छोड़ दिया, पर इतना कहा, "यह पापी नित्य दुष्टता करता रहता है, छोड़ने योग्य नहीं है।" युधिष्ठिर ने दुर्योधन को प्रेम से समझाया, "हे तात, तुम्हें ऐसा साहस नहीं करना चाहिए। अब सब भाइयों के साथ घर लौटो।

वैमनस्य मत करना।" यह बात सुनकर दुर्योधन तो लज्जा से गड़ गया। वह हस्तिनापुर लौट आया, किन्तु उसका हृदय उसे कचोटने लगा और उसे शान्ति न मिली। दुर्योधन ने कर्ण से कहा, "हे कर्ण, मैं चाहता हूं कि भूमि फट जाय और मैं उसमें प्रवेश कर जाऊं। मेरी लज्जा का अन्त नहीं है। स्त्रियों के समान मैं बन्धनग्रस्त होकर युधिष्ठिर के पास ले जाया गया। मैंने सदा जिनकी हेठी की आज उन्होंने ही मुझे छुड़ाकर जीवन-दान दिया। उस युद्ध में मेरा अन्त हो जाता तो अच्छा होता। लोक में मेरा यश तो रहता। आज इस दुःख में मेरे निश्चय को सब सुन लें। तुम लोग अपने-अपने घर लौट जाओ। मैं प्रायोपवेशन करके अपने प्राण दे दूंगा। मैं पुर में मुंह दिखाने योग्य नहीं रहा। हे दुःशासन, तुम राज्य पर अपना अभिषेक कराना और कर्ण तथा शकुनि के साथ पृथिवी का पालन करना।"

उसकी यह बात सुनकर दुःशासन रोने लगा। उसने कहा, "ऐसा कदापि न होगा। पर्वतों के साथ भूमि चाहे विदीर्ण हो जाय, आकाश के चाहे टुकड़े हो जायं, समुद्रों का जल चाहे सूख जाय, अग्नि चाहे अपनी उग्रता छोड़ दे, तुम्हारे बिना मैं इस पृथिवी का शासन कभी न करूंगा।" यह कहते हुए वह बड़े भाई के पैरों से चिपटकर धाड़ मारकर रोने लगा। कर्ण ने उनकी यह दशा देखकर स्थिति को सम्हालते हुए कहा, "अरे, क्या बच्चों की-सी बातें करते हो? शोक करने से किसीका व्यसन दूर हुआ है? धैर्य धारण करो। पाण्डवों ने तुम्हारे साथ उपकार क्या किया? वे तुम्हारे राज्य में बसते हैं। तुम्हारी प्रजा हैं, तुम्हें छुड़ाकर उन्होंने अपने कर्तव्य का ही पालन किया। तुम भी तो उनका पालन करते हो, जिससे वे बेखटके रह रहे हैं। तुम भूख-हड़ताल करोगे तो तुम्हारे भाइयों की क्या हालत होगी? उठो और सबको ढाढ़स दो। आज तुम्हारी कम-हिम्मती मुझे जान पड़ी। इसमें क्या आश्चर्य जो तुम्हारे जैसे हीनसत्त्व व्यक्ति को छुड़ाने की आवश्यकता पाण्डवों को पड़ी? पाण्डवों ने संयोग से तुम्हें छुड़ा दिया, सो इससे क्षोभ क्या? क्षोभ तो इस बात का है कि वे तुम्हारे राज्य में रहकर भी तुम्हारी सेना में नहीं आते। पाण्डवों को देखो, उनकी क्या अवस्था हुई। किन्तु वे सत्त्वशील हैं। भूखे मरने की बात नहीं सोचते। क्यों अपनी हँसी कराते हो? उठो। यदि मेरा कहा न मानोगे तो मैं भी यहीं धरना दे दूंगा और

तुम्हारे बिना जीवित न रहूंगा।" तब शकुनि ने भी दुर्योधन को समझाया और अन्त में उसे अपना विचार छोड़ देना पड़ा।

यहां किसी लेखक ने एक ऊलजलूल कहानी और रख दी है कि जब दुर्योधन भूखा मरने पर उतारू होकर किसी तरह न माना तो दैत्य-दानवों ने सोचा कि इसके मरने से हमारा काम बिगड़ जायगा और उन्होंने अथर्व के मंत्रों से एक कृत्या का निर्माण किया और उसके द्वारा दुर्योधन को पाताल में पकड़ मगाया एवं समझा-बुझाकर उसके विचार को पलटा। स्वयं कथाकार ने इतना स्वीकार किया है कि दुर्योधन को भी यह गढ़न्त लीला स्वप्न-सी लगी।

जब कौरव हस्तिनापुर लौट आये तब भीष्म ने भी दुर्योधन से चुटकी ली, "मैंने तो पहले ही जाने का निषेध किया था, पर तुमने मेरी बात न मानी। धर्मज्ञ पाण्डवों ने तुम्हें छुड़ा दिया। इससे क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती? तुम्हारा बली सूतपुत्र तुम्हें रोते-चिल्लाते छोड़कर गंधर्वों के सामने पलायन कर गया।" भीष्म के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन ठठाकर हंसा और उठकर चल दिया। उसके साथ कर्ण आदि भी उठ गए। भीष्म भी लजाकर अपने घर चले गए।

दुर्योधन का यज्ञ

उसके बाद दुर्योधन ने फिर मंत्रणा-सभा जोड़ी कि अब क्या करना चाहिए। ऐसे अवसर पर उसके दिल को शक्ति देने के लिए कर्ण ने सलाह दी, "हे राजन्, इस समय तुम सारी पृथिवी का इन्द्र के समान शासन करनेवाले हो। पाण्डवों ने जैसे राजसूय-यज्ञ किया था, तुम भी करो।" कर्ण की यह बात सुन दुर्योधन खिल उठा। उसने पुरोहित को बुलाकर राजसूय-यज्ञ करने की आज्ञा दी। किन्तु पुरोहित ने कहा, "युधिष्ठिर के जीते-जी और अपने पिता के जीवित रहते तुम्हारा राजसूय करना ठीक नहीं। तुम राजाओं से कर लेकर सोने का हल बनवाओ, और उससे यज्ञवाट की भूमि को जोतो। यही सत्पुरुषों के लिए उचित वैष्णव यज्ञ है। यह भी राजसूय की जोड़ का है। यह बिना विघ्न के सफल भी हो जायगा।" दुर्योधन ने पुरोहित की बात के मर्म को समझ लिया कि राजसूय करने

से टंटा बढ़ेगा । अतएव उसने इसी प्रकार का यज्ञ करना निश्चित किया । अनेक राजाओं को निमंत्रण भेजे गए । पांडवों के पास भी दूत गया । यज्ञ की बात सुनकर युधिष्ठिर ने कहा, "हमें भी जाना चाहिए, किन्तु इस समय नहीं । तेरहवें वर्ष की समाप्ति तक हमें बाट देखना है ।" तब दुर्योधन ने जैसे हो सका, धूमधाम से अपना यज्ञ समाप्त किया ।

३६ :: द्रौपदी-हरण

पांडवों ने प्रवास का समय द्वैतवन में बिताने का निश्चय किया था, किन्तु वे कुछ ही वर्ष रह पाये थे कि दुर्योधन ने वहां पहुंचकर और गंधर्वों से लड़-भिड़कर खरमंडल कर दिया । उसके बाद स्वतः ही युधिष्ठिर को स्थान बदलने की आवश्यकता प्रतीत हुई । कथा-लेखक ने 'मृग स्वप्न' नामक चुटकले से इसी बात को उभारने का प्रयत्न किया है । जंगल में रहते हुए पांडवों ने मृगों का जो सफाया किया था, उसका एक सहृदयतापूर्ण चित्र यहां पाया जाता है ।

एक बार युधिष्ठिर ने स्वप्न में देखा कि जंगल के हिरन उनके पास आये हैं और हाथ जोड़कर गद्‌गद्‌ कंठ से कांपते हुए कुछ कहना चाहते हैं । युधिष्ठिर ने पूछा, "आप कौन हैं और क्या कहना चाहते हैं ?" मृगों ने कहा, "हम द्वैतवन के हैं, जो मरने से किसी प्रकार बच रहे हैं । हे महाराज, अब तो आप स्थान बदल दें, जिससे हम बिल्कुल नष्ट न हो जायं । आप सब भाई शूरवीर और हथियार चलाने में चतुर हैं । हम वनवासियों के थोड़े-से परिवार ही बचे हैं, जो बस अब बीज के ही काम आयेंगे । आपकी कृपा हो जाय तो हम फिर बढ़ जायेंगे ।" डरे हुए मृगों को देखकर युधिष्ठिर को दया आ गई और उन्होंने स्वप्न में ही उन्हें अभय-दान दिया । जागने पर उन्होंने अपने भाइयों से यह बात कही । उन्होंने कहा, "मृगों का कहना ठीक है । इसलिए हम मरुभूमि के सिरे पर स्थित काम्यक वन में चलकर तृणबिन्दु सरोवर के निकट अपनी बस्ती बनावें ।"

व्रीहिद्रौणिक कथा

तब पाण्डव काम्यक वन में चले गए। वहां नई परिस्थिति में व्यासजी उनसे मिलने आये और उन्हें कष्ट पाते देखकर उच्छवृत्ति से जीविका निर्वाह करनेवाले एक तपस्वी का दृष्टांत सुनाया। कुरुक्षेत्र में मुद्गल नाम का एक धर्मात्मा शिलोञ्छ वृत्ति से रहता था। वह पहले पक्ष में खेत से सिल्ला बीनकर एक द्रोण व्रीहि या चावल का संग्रह करता और दूसरे पक्ष में उसी से यक्ष और अतिथि-सत्कार करता था। दुर्वासा ने दल-बल सहित पहुंचकर उसका सब अन्न खा डाला। इस प्रकार छह बार परीक्षा ली। फिर भी वह विचलित न हुआ। तब दुर्वासा ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि तुम शीघ्र ही स्वर्ग जाओगे। तब देवदूत विमान लेकर मुद्गल के पास आया और उससे स्वर्ग चलने के लिए कहा। ऋषि ने देवदूत से पूछा, "स्वर्ग में रहने वालों के क्या गुण हैं एवं स्वर्ग में सुख और दोष क्या है।" देवदूत ने कहा, "धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, दानी व्यक्तियों को स्वर्ग मिलता है। वहां शोक और जरा नहीं है। जहां स्वर्ग में बहुत-से गुण हैं, वहां दोष यह है कि स्वर्ग भोगभूमि है। वहां अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने को मिलता है, नया कर्म नहीं कर सकते। वहां अपने पुण्य के फल का ही व्यय करना पड़ता है। अंत में स्वर्ग से पतन निश्चित है। ब्रह्म-लोक का यही दोष है। हां, इतना गुण अवश्य है कि स्वर्ग से लौटकर मनुष्य-लोक में जन्म मिलता है। यह लोक कर्मभूमि है, स्वर्ग केवल फलभूमि है—

कर्म भूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता। (२४७।३५)

यह सुनकर मुद्गल ने कहा, "हे देवदूत तुम लौट जाओ। मुझे स्वर्ग नहीं चलना।" उसके बाद मुद्गल अपने ध्यान-योग से अनुत्तम ऋद्धि प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए।

यह छोटी-सी कथा गुप्तकाल की भागवत मनोवृत्ति की परिचायक है। ध्यान, ऋद्धि, बल, निर्वाण—महायान के इन पारिभाषिक शब्दों को भागवतों ने अपने ढंग से अपना लिया था। इसी प्रकरण में आहत लक्षण शब्द आया है, जो ठेठ गुप्तकालीन संस्कृत भाषा में उत्पन्न हुआ। अमर-कोष में गुणों से प्रसिद्ध व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग हुआ है। रघुवंश में (ककुत्स्थ इत्याहत लक्षणोऽभूत्) और अजन्ता की घटोत्कच गुफा के लेख

में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे इसकी गुप्तकालीन पृष्ठभूमि सूचित होती है। यह भी स्मरणीय है कि भारतवर्ष को कर्मभूमि कहना गुप्तकाल के वर्णनों की विशेषता थी। ब्रह्म-पुराण के अनुसार भारतवर्ष समस्त पृथिवी में कर्मभूमि नाम से ही प्रसिद्ध हो गया था (**पृथिव्या भारतं वर्षं कर्मभूमि रुदाहृता, २७।२**)। जैसा इस कथा मे कहा गया है, इन्द्रादि देवताओं को अमर पद की प्राप्ति भारत में किये हुए पुण्य कर्मों से मिलती थी। ब्रह्मपुराण में भारत में निवास करने वालों के जीवन के विविध कर्म-फलों की एक लम्बी सूची ही दी गई है, जिसकी प्रतिध्वनि ब्रीहिद्रौणिक प्रकरण में पाई जाती है।

द्रौपदी-प्रमाथ

एक दिन पाण्डव द्रौपदी को आश्रम में छोड़कर तृणबिन्दु की आज्ञा से मृगया के लिए निकल गए। उनकी अनुपस्थिति में सिन्धु-सौवीर का राजा जयद्रथ विवाह की इच्छा से शाल्वेय जनपद को जाता हुआ अनेक साथियों के साथ काम्यक वन में आया। आश्रम के द्वार पर द्रौपदी को खड़ी देखकर वह मोहित हो गया और शिवि देश के राजकुमार कोटिकाश्य को उसके विषय में पूछताछ करने के लिए भेजा। द्रौपदी ने स्वागत करके अपना परिचय दिया। उसने लौटकर जयद्रथ से समाचार कहा, तब वह अपने को न सम्हालकर आश्रम में आया और उसने द्रौपदी से विवाह का प्रस्ताव करते हुए सिन्धु-सौवीर चलने को कहा। द्रौपदी ने तेजस्विता से उसकी भर्त्सना की, किन्तु उस दुष्ट ने बल-पूर्वक उसे पकड़कर रथ पर बैठा लिया और ले चला। द्रौपदी ने करुणा भाव से पुरोहित धौम्य को पुकारा। धौम्य ने जयद्रथ को समझाने का प्रयत्न किया, पर जब कुछ परिणाम न निकला, तो द्रौपदी अत्यधिक विलाप करने लगी और धौम्य भी पैदल ही उसके पीछे चले। पाण्डव जैसे ही लौटकर आश्रम में आये, उन्हें धात्री से सब हाल ज्ञात हुआ। उसने बिलखकर कहा, "आज जयद्रथ ने द्रौपदी का धर्षण किया है। इससे पहले कि घृत-पूर्ण स्रुच की आहुति भस्म में गिरे, हविष्यान्न तुषाग्नि में फेंका जाय, यज्ञीय सोम को कुत्ता चाटे, शृगाल पद्म-पुष्करिणी में प्रवेश करे, अथवा श्वा पुरोडाश का स्पर्श करे, तुम सब लोग सन्नद्ध

होकर उस ओर जाओ, जिस ओर वह दुष्ट गया है।" यह सुन कर पाण्डव सर्पों के समान फुफकारकर अपने महाधनुषों को टंकारते हुए उसी ओर दौड़े, जिस ओर सेना की धूल उठ रही थी। बाज़ की तरह झपटकर उन्होंने अपने पराक्रम से जयद्रथ और उसकी सेना को जा पकड़ा। द्रौपदी ने अपने पतियों को आया हुआ देखकर जयद्रथ को फटकारा, "अरे दुरात्मन्, आज तुममें से कोई शेष न बचेगा। भाइयोंसहित धर्मराज को देखकर अब मुझे भय या व्यथा नहीं है।" फिर पाण्डवों का जयद्रथ से अतिघोर युद्ध हुआ। इसके अनेक वीर युद्ध में काम आये। तब जयद्रथ द्रौपदी को छोड़कर अपने प्राण लेकर भागा। जयद्रथ को भागते हुए देखकर अर्जुन ने भीमसेन को रोकते हुए कहा, "अब सैन्धव सैनिकों का वध मत करो। हमारे आक्रमण का लक्ष्य वही दुष्ट था।" भीमसेन ने कहा, "आप सब लोग द्रौपदी को लेकर आश्रम में जायं। मैं उस दुष्ट को पाताल तक भी जीवित न छोड़ूंगा।" युधिष्ठिर ने समझाया, "हे भीम, गान्धारी और उसकी पुत्री दुःशला का स्मरण करके उसका वध मत करो।" किन्तु द्रौपदी ने क्रोध से जलते हुए बीच में भीम और अर्जुन से कहा, "यदि आप लोग मुझे प्रसन्न करना चाहते हों तो उस कुलांगार का प्राणान्त करके ही विश्राम लें। यदि वह प्राणों की भिक्षा मांगे, तो भी न छोड़ें।" यह सुनकर युधिष्ठिर तो द्रौपदी के साथ आश्रम में लौट आये, पर भीम और अर्जुन ने जयद्रथ का पीछा किया। अर्जुन ने अपने दिव्य अस्त्रों से उसके घोड़ों को मार डाला, तब जयद्रथ उनके भय से प्राण लेकर भागा, किन्तु भीमसेन ने दौड़कर उसे पकड़ लिया और केश खींचकर रथ से नीचे गिरा दिया एवं उसकी छाती पर घुटना रखकर उसे इतना मारा कि वह बेहोश हो गया। तब अर्जुन ने भीम से कहा कि बहन दुःशला के लिए उसके प्राण छोड़ दो। भीमसेन ने क्रोध से उत्तप्त होकर कहा, "यह पापी नराधम जीवित रहने के योग्य नहीं है, पर यदि राजा युधिष्ठिर सदा ही दया प्रकट करते हैं तो लाचारी है।" भीम ने जयद्रथ के सिर को मूंड़ते हुए बालों की पांच लटें बना दीं और कहा कि यदि तू जीवित रहना चाहे तो सभाओं में अपने को दास कहकर पुकारना। जयद्रथ के प्राण कंठ में आगए थे, उसने तुरन्त स्वीकार कर लिया। तब भीम ने उसे बांधकर रथ में डाल दिया और

आश्रम को लौट आये। युधिष्ठिर ने जयद्रथ को उस अवस्था में देखकर भीम से कहा कि इसे छोड़ दो। किन्तु भीम ने उत्तर दिया कि आप द्रौपदी से कहिए। युधिष्ठिर ने फिर कहा कि यदि हमारी बात का प्रमाण मानते हो तो इस अधम को मुक्त करो। द्रौपदी ने भी युधिष्ठिर का रुख देखते हुए कहा, "हे भीम, महाराज के इस दास को अब छोड़ दो।" मुक्त होकर जयद्रथ ने युधिष्ठिर का अभिवादन किया। दयालु धर्मराज ने कहा, "तुम अदास हुए, जाओ, फिर ऐसा मत करना। हे क्षुद्र स्त्रीकामुक, तुम्हें धिक्कार है। अपनी बुद्धि को धर्म में लगाओ, अधर्म में नहीं।" यह सुनकर जयद्रथ लज्जा से मुंह नीचा किये वहां से चला गया। फिर वह गंगा द्वार पहुंचा और शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तप करने लगा। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने वरदान के लिए कहा तो उसने मांगा, "मैं पांचों पाण्डवों को युद्ध में जीत लूं।" शिव ने कहा, "यह नहीं हो सकता। तुम पाण्डवों को जीत या मार नहीं सकते। केवल युद्ध में उन्हें रोक सकते हो, और सो भी अर्जुन को नहीं।" यह सुनकर जयद्रथ अपने स्थान को लौट आया।

३७ : : रामोपाख्यान

जैसे युधिष्ठिर ने पहले बृहदश्व ऋषि से पूछा था कि क्या मुझसे भी अधिक दुःखी और भाग्यहीन कोई राजा हुआ है और उसके उत्तर में ऋषि ने जुए से विपत्ति में पड़नेवाले राजा नल की कथा सुनाई थी, वैसे ही द्रौपदी-हरण के दुःख से दुःखी युधिष्ठिर ने मार्कण्डेयसे इसी तरह का प्रश्न किया और इसके उत्तर में ऋषि ने राम का उपाख्यान सुनाया, जिन्हें वनवास और सीताहरण का दुःख देखना पड़ा था।

महाभारत के रामोपाख्यान और वाल्मीकि की रामायण का क्या सम्बन्ध है, इस विषय में दो मत हैं। याकोबी का कहना था कि रामोपाख्यान वाल्मीकि की रामायण का संक्षिप्त रूप है। हाप्किन्स दोनों के स्रोत पृथक् मानते थे। वेबर ने सर्वप्रथम १८७० में इस प्रश्न पर विचार

आरम्भ किया था, पर निश्चित मत प्रकट नहीं किया। महाभारत के यशस्वी सम्पादक श्री सुकथनकर का निष्कर्ष है कि जहां-तहां कुछ कथा-भेद होते हुए भी दोनों में ऐसा पक्का शब्दसाम्य है (जिसके ८६ उदाहरण उन्होंने दिये हैं) कि रामोपाख्यान की रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई माननी पड़ती है।

रामोपाख्यान में १८ अध्याय और लगभग ७०० श्लोक हैं। कथा का अधिकांश भाग वही है, जो वाल्मीकि में है। रामोपाख्यान में पुत्रेष्टि यज्ञ का उल्लेख नहीं है। जनकपुत्री सीता को अयोनिजा नहीं कहा गया। अयोध्या-काण्ड की कथा में कैकेयी को राजा ने केवल एक वर दिया है और उसीसे उसने भरत के लिए राज्य और राम का वनवास मांग लिया है। कैकेयी की दासी मंथरा को दुन्दुभी नामक गन्धर्वी का अवतार कहा गया है। स्वयं ब्रह्मा ने मन्थरा को उसके कर्तव्य के विषय में लिखा-पढ़ाकर मर्त्यलोक में भेजा था। मन्थरा ने कैकेयी को सावधान करते हुए कहा, "आज राजा ने तुम्हारे लिए बड़े दुर्भाग्य की घोषणा की है। चण्डसर्प क्रोधित होकर तुम्हें डसना चाहता है। कौसल्या भाग्यशालिनी है, जिसके पुत्र का अभिषेक होगा।" मन्थरा के वचन सुनकर कैकेयी ने मन में अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। किन्तु रामायण की तरह वह कोपभवन में नहीं जाती। वह और भी अधिक शृंगार करके हँसती हुई पति से एकान्त में मिलती है और प्रेम प्रकट करती हुई मधुर वाक्य कहती है, "हे सत्यप्रतिज्ञ, आपने जो मुझे एक इच्छा-वर देने को कहा था, आज उसे पूरा करो।" उत्तर में राजा ने कहा, "तुम्हें वर देता हूं, जो इच्छा हो मांग लो। किस अवध्य को मैं आज वध्य बना दूं और किस वध्य को आज मुक्त कर दूं? किसे कब धन में डालूं और किसका सर्वस्व छीन लूं?" यहां पूर्वापर में कुछ असामंजस्य अवश्य है। राजा का कथन कोपभवनवाली कैकेयी के लिए ठीक घटित होता है, हँसकर प्रणय करती हुई कैकेयी के लिए नहीं। रामायण के दो वरों की अपेक्षा यहां कैकेयी एक ही वर मांगने की बात कहती है, यद्यपि मांगती वह यही है, 'राम के लिए जो तुमने अभिषेक का साज सजाया है वह भरत को प्राप्त हो और राम वन जायं।' पिता के सत्य की रक्षा के लिए राम वन जाते हैं, लक्ष्मण और सीता उनके साथ जाती हैं। राम के वन

जाने पर दशरथ शरीर छोड़ देते हैं। इतनी घटना के बाद कैकेयी स्वयं भरत को बुलवाती है और कहती है कि अब राज्य निष्कंटक हो गया है, इसे तुम ग्रहण करो। भरत उसे धनलुब्धा कहते हुए भर्त्सना करते हैं, "तुमने पति को मारकर कुल का नाश किया। मेरे सिर पर अयश की पिटारी गिराई। अब इच्छा पूरी करो।" इसके बाद भरत ने सबके सामने अपने चरित्र का विशोधन किया और राम को लेने चित्रकूट पहुंचे। पिता का वचन पालन करने की इच्छा से राम ने भरत को लौटा दिया। भरत राम की पादुका पूजते हुए नन्दिग्राम में रहकर राज्य करने लगे।

राम इस आशंका से कि पौर.जानपद प्रजा यहां आती रहेगी, शरभंग के आश्रम की ओर घने जंगल में बढ़ गए। यह शरभंगाश्रम विन्ध्याचल की पहाड़ी नदियों के आसपास किसी शरभंगा नदी के तट पर था, राम की दक्षिण-यात्रा में वह एक पड़ाव मात्र था। वहां से भी आगे बढ़ते हुए राम गोदावरी के किनारे पहुंचे। वहां जनस्थान में शूर्पणखा और खरदूषण की घटनाएं घटीं। राम के पहुंचने से वह स्थान धर्मारण्य बन गया। शूर्पणखा ने रावण के पास जाकर पुकार की। रावण क्रोध में उत्तप्त होकर कहने लगा, "कौन ऐसा है, जो तीक्ष्ण कांटों की शय्या पर सोना चाहता है? कौन सिर पर अग्नि रखकर सुख से सोना चाहता है ? कौन घोर सर्प को ठोकर से मारता है ? कौन केसरी सिंह की दाढ़ उखाड़ना चाहता है ?" यह कहते हुए उसके देहछिद्रों से लपटें निकलने लगीं। मन में अपना कर्त्तव्य निश्चित करके वह समुद्र के प्रसिद्ध गोकर्ण तीर्थ में पहुंचा, जहां मारीच राम के डर से तपस्या कर रहा था। रावण ने मारीच से अपना विचार प्रकट किया। मारीच ने समझाया, "राम के बल को मैं जानता हूं। तुम राम से मत उलझो। मैंने राम के कारण ही संन्यास ले रखा है।" तब रावण ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा, "यदि तुम मेरी बात न मानोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।" मारीच ने सोचा कि जब मरना ही है तो विशिष्ट के हाथ से मरना चाहिए। मारीच ने कहा, "मैं तुम्हारी क्या सहायता करूं ? पर-वश होने से जो कहोगे, करूंगा।" तब उसने मरण निश्चित जानकर अपने लिए स्वयं तिलांजलि दे डाली और दुःखी मन से रावण के पीछे हो लिया। रत्नों से चित्रित शरीरवाले मृग के रूप में मारीच सीता को लुभाकर राम

को दूर हर ले गया। दूर निकल जाने पर राम ने उसे मायावी निशिचर के रूप में पहचान लिया और अमोघ शर से मार डाला। मरते हुए उसने 'हा सीता, हा लक्ष्मण', यह पुकार लगाई। सुनकर सीता उसी ओर दौड़ीं, जिस ओर से शब्द आया था। लक्ष्मण ने उन्हें समझाना चाहा, किन्तु उन्होंने स्त्री स्वभाव से शुद्ध चरित्र अपने देवर पर शंका की और परुष वचन कहने लगीं, "हे मूढ़, तुम जो हृदय से चाहते हो वह नहीं होगा, चाहे मुझे शस्त्र लेकर आत्मघात करना पड़े या गिरिशृंग से गिरकर या अग्नि में जीवन का अन्त करना पड़े। राम को छोड़कर मैं कभी तुम्हें न भजूंगी।" सद्वृत्त लक्ष्मण ने ऐसे वचन सुनकर कान मूंद लिये और चुपचाप जिधर राम थे, उधर चल दिये। इसी बीच में भस्म से ढकी आग की तरह यति के भेष में रावण वहां आया। सीता ने फलमूल से उसका स्वागत करना चाहा, पर उसने अपना असली रूप प्रकट करते हुए सीता से अपनी भार्या बनने और लंका चलने को कहा। सीता ने उसका प्रतिषेध और भर्त्सना की, किन्तु वह उनके केश पकड़कर आकाश-मार्ग से ले चला। तब पर्वत पर निवास करनेवाले जटायु ने रावण का मार्ग रोककर कहा, "यदि तुम सीता को नहीं छोड़ते तो जीवित आगे नहीं बढ़ सकते। रावण ने खड्ग से उसके पंख काट डाले और सीता को लेकर चला। सीता जहां कोई आश्रम देखतीं वहीं अपना आभूषण फेंकती जाती थीं।

उधर लौटते हुए राम ने लक्ष्मण को देखकर कहा, "भाई, राक्षसों से भरे हुए इस वन में सीता को छोड़कर कहां आगए ?" लक्ष्मण ने सीता के वे अन्तिम वचन सुनाये। राम के हृदय में बड़ा अन्तर्दाह हुआ। वे शीघ्र आश्रम की ओर चले। मार्ग में उन्होंने जटायु को क्षतविक्षत देखा और उससे सब हाल जाना। जटायु ने मरते हुए भी अपने कांपते हुए सिर से दक्षिण की ओर संकेत किया, जिसका अर्थ राम ने समझ लिया। तब आश्रम में लौटकर राम ने उसे अस्त-व्यस्त पाया। दोनों भाई दण्डक वन में दक्षिण दिशा की ओर बढ़े। वहां उन्हें घोरदर्शन कवन्ध मिला, जिसके वक्षस्थल में आंखें और उदर में बड़ा-सा मुख था। उसने लक्ष्मण को पकड़ लिया और लक्ष्मण राम को पुकारते हुए विलाप करने लगे, "हे तात, आपका राज्य-भ्रंश, पिता का मरण, वैदेही का हरण और मुझपर यह संकट—हम लोगों

के कष्टों का अन्त नहीं है।" राम ने उन्हें धैर्य बंधाते हुए कहा, "तुम इसकी दाहिनी भुजा काट डालो, मैं बाईं भुजा काटता हूं।" इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुए कबंध ने कहा, "मैं विश्वावसु गन्धर्व था, ब्राह्मण के शाप से मुझे राक्षस की योनि मिली। लंकापति रावण सीता को हर ले गया है। तुम सुग्रीव से मैत्री करो। ऋष्य मूक शैल के समीप पंपा सरोवर है। वहीं वह सचिवों के साथ रहता है। वह रावण का स्थान जानता है। मैं इतना ही कह सकता हूं कि तुम्हें सीता मिलेगी।"

राम पंपा के समीप आये और वहां सीता का स्मरण करके विलाप करने लगे। तब लक्ष्मण ने उन्हें समझाया, "जैसे आत्म-संयमी के लिए रोग अनुचित है, वैसे ही आपके लिए इस प्रकार का भाव अनुचित है। आपको सीता और रावण का समाचार मिल ही चुका है। पुरुषार्थ और बुद्धि से कार्य कीजिए। हम सुग्रीव के पास चलें। मेरे-जैसे शिष्य और भृत्य के होते हुए आप आश्वस्त हों।" इससे राम को ढाढ़स हुआ। तब वे दोनों ऋष्य-मूक की ओर चले, जहां पर्वत के ऊपर पांच बानरों के साथ सुग्रीव रहता था। सुग्रीव ने बुद्धिशाली हनुमान को उनके पास भेजा। राम और सुग्रीव की मैत्री हुई और राम ने सुग्रीव का अभिषेक करके बालि-वध की प्रतिज्ञा की एवं सुग्रीव ने सीता के पुनरानयन का प्रतिज्ञा की। राम का बल पाकर सुग्रीव ने किष्किन्धा में लौटकर बाली को ललकारा। तारा ने पति को बहुत समझाया, किन्तु बाली ने ध्यान न दिया। दोनों में देर तक युद्ध होता रहा। फिर हनुमान ने पहचान के लिए सुग्रीव के कंठ में माला पहना दी और राम ने बाली को अपने बाण का लक्ष्य बना दिया। बाली ने राम-लक्ष्मण को पास ही खड़े हुए देखा और राम की बहुत गर्हा की। बाली के मारे जाने पर सुग्रीव ने किष्किन्धा का राज्य प्राप्त किया। राम चार मास तक माल्यवान पर्वत पर रहे।

उधर रावण ने लंका में पहुंचकर सीता को अशोक वन के समीप एक भवन में रखा। सीता तापसी वेश में कष्टमय जीवन बिताने लगी। पहरे पर नियुक्त राक्षसी सीता को अनेक प्रकार से दुःख देती थीं। तब कुंठित होकर सीता ने कहा, "मुझे जीवन का लोभ नहीं। आप मुझे शीघ्र खा डालें या मैं ही निराहार रहकर देह को सुखा डालूंगी।" यह सुनकर

राक्षसी रावण को वह समाचार देने गईं। केवल त्रिजटा पीछे रही। उसने सीता को सान्त्वना देते हुए कहा, "हे सीते ! अविंध्य नामक वृद्ध राक्षस राम का हितू है। उसने तुम्हारे लिए सन्देश कहा है कि तुम्हारे पति राम सकुशल हैं और सुग्रीव से मित्रता करके तुम्हारे लिए प्रयत्नशील हैं। तुम रावण से भयभीत न हो। उसे नलकूबर का शाप है। अतएव तुम सुरक्षित हो। शीघ्र ही तुम्हारे पति आयंगे और तुम्हें यहां से छुड़ायंगे। मुझे भी इसी प्रकार के स्वप्न हुए हैं।"

रामायण में केवल एक बार सीता ने हनुमान से अविंध्य का उल्लेख किया है, पर रामोपाख्यान में अविंध्य को विशेष महत्त्व दिया गया है और चार बार उसका उल्लेख आया है। त्रिजटा के इस उल्लेख के अतिरिक्त सीता ने भी हनुमान से अविंध्य के इस सन्देश का उल्लेख किया है। मेघनाद-वध के बाद अविंध्य रावण को रोकता है कि सीता की हत्या मत करो, और जब रावण मारा जाता है तो अविंध्य और विभीषण दोनों सीता को लेकर राम के पास आते हैं।

उधर काममोहित रावण अशोक वन में सीता के पास आया, श्मशान में रोपे हुए चैत्य वृक्ष की भांति अलंकृत होकर भी वह भयंकर लगता था। वह कहने लगा, "हे सीते ! अपने पति का तुम बहुत मान रख चुकीं, अब मुझपर कृपा करो। मैं विश्रवा मुनि का पुत्र हूं और पांचवां लोकपाल माना जाता हूं।" यह सुनकर सीता ने उसकी ओर से मुंह फिरा लिया और तृण बीच में रखकर कहने लगीं, "हे राक्षसराज, मैं अभागी हूं, जो मुझे तुम्हारे ये वचन सुनने पड़े। तुम्हारे पास सब सुख है। तुम्हारा भला हो। अपने मन को लौटाओ। मैं पतिव्रता हूं। तुम्हारे लिए मानुषी स्त्री ठीक भी नहीं। तुम्हारे यशस्वी पिता प्रजापति के समान हैं। तुम लोकपालों के समान धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?" यह सुनकर रावण ने फिर कहा, "हे सीता, चाहे कामदेव मेरे अंगों को भस्म कर डाले, किन्तु जबतक तुम्हारी इच्छा न होगी, मैं तुम्हारा स्पर्श न करूंगा।" यह कहकर वह वहां से चला गया।

उधर माल्यवान् पर्वत पर राम ने जब शरद् ऋतु का दर्शन किया तो वे सीता का स्मरण करके कहने लगे, "हे लक्ष्मण, किष्किन्धा में सुग्रीव के पास जाओ। वह ग्राम्य धर्मों में फंसकर अपनी प्रतिज्ञा भूल गया

है। यदि वह ऐसे ही कामसुखों में सोता रहेगा तो उसे भी बाली के मार्ग से जाना होगा। उसे शीघ्र साथ लेकर आओ।" लक्ष्मण जैसे ही किष्किन्धा के द्वार पर पहुंचे, सुग्रीव ने उन्हें क्रुद्ध जानकर अपनी स्त्री के साथ स्वागत किया और कहने लगा, "हे लक्ष्मण, मैं कृतघ्न नहीं हूं। मैंने सीता को ढूंढ़ने के लिए पहले से ही यत्न किया है और वानरों को सब दिशाओं में भेजा है और एक मास में लौटने को कहा है। अभी पांच दिन बाद महीना पूरा होगा। तब तुम राम के लिए प्रिय समाचार सुनोगे।" इससे लक्ष्मण का रोष जाता रहा और वह सुग्रीव के साथ राम के पास आये और सब समाचार कहा। इतने में ही वानर लौटने लगे। केवल दक्षिण दिशावाले नहीं आये। राम उनकी प्रतीक्षा में प्राण धारण किए रहे। दो मास में वे भी लौटे और यह सूचना दी, "बालि का जो बड़ा मधुवन है उसमें हनुमान और अंगदादि फल तोड़कर खा रहे हैं।" यह सुनते ही सुग्रीव ने समझ लिया कि वे काम पूरा करके लौटे हैं। कृतार्थ सेवक ही ऐसी चेष्टा करते हैं। इतने में ही हनुमान भी वहां आ पहुंचे और सूचना दी, "हम सीता को देख आये। समुद्र के पार रावण की लंकापुरी में वह हैं।" हनुमान ने अपनी लंका-यात्रा का वृत्तान्त स्वयं अपने मुख से वर्णन किया है, पर रामायण में स्वयं कवि ने ही यथास्थान उसका उल्लेख किया है। राम ने प्रसन्न होकर हनुमान की अर्चना की।

तब सुग्रीव की आज्ञा से वानरों की अपरिमित सेना वहां एकत्र हुई और समुद्र के तट पर आई। राम ने सुग्रीव से कहा कि दुस्तर समुद्र पार करने का क्या उपाय हो सकता है। हमारे पास नावें नहीं हैं। सेना बहुत है। हम व्यापारियों से उनकी नावें छीनकर उन्हें कष्ट देना नहीं चाहते। अतएव मैं समुद्र से ही कुछ उपाय पूछूंगा।" तब रामचन्द्र उपवास करके सो गए। समुद्र ने स्वप्न में उन्हें दर्शन देकर कहा, "हे कौशल्या के पुत्र, मैं आपकी क्या सहायता करूं ? मैं भी इक्ष्वाकु वंश से उत्पन्न हूं।" राम ने कहा, "हम केवल सेना के लिए मार्ग चाहते हैं। यदि ऐसा न करोगे तो अभिमंत्रित बाणों से तुम्हें सुखा दूंगा।" समुद्र ने हाथ जोड़कर कहा, "मैं आपका मार्ग नहीं रोकता और न विघ्न करता हूं, पर यदि ऐसे ही मार्ग दे दूंगा तो और लोग भी मुझे धमकाकर आज्ञा देंगे। सो एक उपाय है। आपके

यहां जो नल नाम का वानर है वह जिस शिला या काष्ठ को छू देगा, उसे मैं अपने ऊपर धारण करूंगा और वही सेतु का काम देगा।" समुद्र के अदृश्य हो जाने पर राम ने नल से सेतु बांधने को कहा। ऐसा ही किया गया और वह सेतु नल-सेतु नाम से विख्यात हुआ। कथा के इस रूप में राम को बाण चलाकर समुद्र को क्षुब्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

उसी समय विभीषण उनसे मिलने आया। राम ने पूछताछ करने के बाद तुष्ट होकर उसे अपने पास रख लिया और लंका के राज्य का अभिषेक भी कर दिया। विभीषण के कहने से राम ने समुद्र के पार लंका के उद्यानों में सेना का डेरा डाला। वहीं से उन्होंने अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजा। रावण की आज्ञा से उसे लंका में प्रवेश करने दिया गया। उसने मंत्रियों के बीच में बैठे हुए रावण को राम का सन्देश सुनाया, "सीता के अपहरण में तुम अकेले अपराधी हो। उस कारण से व्यर्थ ही औरों का बध होगा। तुम सीता को छोड़ दो, अन्यथा इस लोक को तीक्ष्ण बाणों से राक्षसहीन बना दूंगा।" ऐसे कठोर वचन रावण न सह सका और उसने संकेत किया। तुरन्त चार राक्षशों ने अंगद को कसकर पकड़ लिया, किन्तु अंगद वेग से आकाश में उछले और छूटकर राम के पास आ गए। तब राम ने समस्त सैन्य बल से लंका पर चढ़ाई कर दी। लंका में अनेक प्रकार से युद्ध हुआ, जिसका रामोपाख्यान में कुछ विस्तार से वर्णन है। इसके अनुसार कुम्भकर्ण का बध राम ने नहीं, लक्ष्मण ने किया। यहां लक्ष्मण के शक्ति लगने का वृत्तान्त नहीं है।

अन्त में राम ने रावण का वध किया और विभीषण को लंका का राज्य दिया। विभीषण और अविंध्य सीता को लेकर राम के पास आये। तब राम ने सबके सामने सीता की परीक्षा लेने के लिए एक काण्ड किया। रामोपाख्यान में अग्नि-परीक्षा के बिना ही सीता की विशुद्धि प्रमाणित की गई है। राम ने शोक से कृश जटाधारिणी सीता को सम्बोधित करके कहा, "हे वैदेही, मैं अपना कार्य कर चुका। अब तुम स्वतन्त्र हो, जहां चाहो, जाओ। मैंने रावण को इसलिए मारा कि मेरे रहते हुए तुम्हें अपना वार्धक्य निशाचर के घर न बिताना पड़े। मेरे-जैसा धर्मज्ञ पराये के यहां गई हुई नारी को मुहुर्तभर भी नहीं रख सकता।" यह निष्ठुर वचन सुनकर सीता कटी हुई कदली के

समान गिर पड़ीं। जिन्होंने राम का यह वचन सुना, वे वानर और लक्ष्मणादि मरण-प्राय होगए। इस भीषण परिस्थिति में स्वयं चतुर्मुख ब्रह्मा ने राम को दर्शन दिये। वस्तुतः राम की यह निष्ठुरता इतनी अधिक थी कि जगत-स्रष्टा पितामह ब्रह्मा को उसका प्रतीकार करने के लिए कथा में कष्ट दिया गया है। दशरथ भी विमान पर बैठकर वहां आये। और भी अनेक देवता आकाश में एकत्र हुए। सबके समक्ष सीता ने राम से कहा, "हे राज-पुत्र, मैं तुमपर क्रोध नहीं करती, क्योंकि मैं स्त्री और पुरुष दोनों की गति जानती हूं।" सीता के ये वचन अत्यधिक मर्मान्तक हैं। इनकी तुलना में रखने के लिए दूसरा वाक्य साहित्य में संभवतः न मिलेगा। फिर सीता ने प्राणों के अधि-देवता भगवान मातरिश्वा को साक्षी करके कहा, "यदि मैंने पाप का आचरण किया हो तो आप मेरे प्राण हर लें।" फिर उन्होंने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच महाभूतों को भी इसी प्रकार शपथ दिलाई। फिर आकाशवाणी हुई। वायु ने कहा, "हे राघव, मैं सत्य कहता हूं। सीता पापरहित है। तुम इसे स्वीकार करो।" अग्नि ने कहा, "मैं वैश्वानर रूप से प्राणियों में रहता हूं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी सीता ने नहीं किया।" वरुण ने भी ऐसे ही कहा। तब ब्रह्मा ने राम को थपथपाते हुए सफाई दी, "हे पुत्र, तुम राजर्षियों का धर्म पालनेवाले हो। सदाचार के मार्ग में तुमने यदि इस प्रकार सीता की परीक्षा ली तो आश्चर्य नहीं। सुनो, तुम्हारे उस शत्रु रावण ने मेरी ही कृपा से अवध्य होकर कुछ कालतक वैसा ऊधम किया, पर वह दुरात्मा अपने ही मरण के लिए सीता को हर लाया। नल-कूबर के शाप से सीता की रक्षा हुई। यदि वह दुष्ट किसी अकामा स्त्री को हाथ लगाता तो उसकी देह के सौ टुकड़े हो जाते। तुम शंका मत करो और सीता को स्वीकार करो।" दशरथ ने भी इसका समर्थन किया। तब राम ने उनकी बात मानकर सीता के साथ अयोध्या लौटना स्वीकार किया। राम ने कृतज्ञ-भाव से अविंध्य को वर और त्रिजटा को धन और सम्मान दिया। सीता ने भी हनुमान को यह वर दिया, "जबतक लोक में राम की कीर्ति है तबतक, पुत्र, तुम जीवित रहोगे।" तब राम उसी सेतु से लौटते हुए किष्किन्धा में आये और वहां अंगद को युवराज बनाया। पुष्पक विमान से जब राम अयोध्या में आ पहुंचे तब उन्होंने हनुमान को भरत के

पास दूत बनाकर भेजा। उनके समाचार लेकर लौटने पर वह स्वयं नन्दि-ग्राम में भरत के पास गए। उन्होंने देखा कि भरत सामने पादुक रखे हुए आसन पर बैठे हैं। राम-लक्ष्मण भरत-शत्रुघ्न से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। भरत ने राज्य की धरोहर राम को सौंप दी। शुभ नक्षत्र में वसिष्ठ और वामदेव ने राम का अभिषेक किया। तब राम ने सुग्रीव और विभीषण को घर जाने की आज्ञा दी। देवर्षि नारद के साथ राम ने गोमती नदी के तट पर दस अश्वमेध-यज्ञ किये।

इतनी कथा सुनाकर मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर को सान्त्वना दी, "तुम क्षत्रिय हो, शोक न करो। तुम्हारे-जैसा दुःख औरों पर भी पड़ा है, लेकिन तुममें रत्ती भर भी पाप नहीं है, अतएव तुम अवश्य रण में शत्रुओं को जीतोगे।"

३८ : : सावित्री-उपाख्यान

जैसा श्री सुकथनकर ने लिखा है, महाभारतकार का यह असीम अनुग्रह मानना चाहिए कि उन्होंने नल-उपाख्यान और सावित्री-उपाख्यान इन दो तरल साहित्यिक अंशों को अपने महान ग्रंथ में स्थान देने के लिए मूल कथा के प्रवाह को कुछ समय के लिए रोक लिया, नहीं तो ये दोनों विशिष्ट कृतियां आज न जाने कहां होतीं। नल-उपाख्यान जैसी साहित्य की सरल और वेगवती रचना विश्व-साहित्य में कम ही हैं और सावित्री-उपाख्यान तो भारत के घर-घर की वस्तु है।

लम्बे रामोपाख्यान से युधिष्ठिर का चाहे जो अनुरंजन हुआ हो, किन्तु द्रौपदी के मन की सान्त्वना के लिए अभीष्ट सामग्री मानो अभीतक नहीं मिल पाई थी। कुशल कथाकार ने इस स्थिति को पहचानकर ही सावित्री की कथा का यहां उपयुक्त सन्निवेश किया है।

युधिष्ठिर ने पूछा, "मुझे अपना या इन भाइयों का भी उतना सोच नहीं है, जितना द्रौपदी का। जुए के बाद के दलदल से द्रौपदी ने ही हमें उबारा। हे महामुनि, क्या आपने ऐसी कोई पतिव्रता स्त्री देखी या सुनी

है जैसी द्रौपदी है ?" मार्कण्डेय ने कहा, "कुलीन स्त्रियों के महाभाग्य की सीमा नहीं है। राजकन्या सावित्री का वृत्तान्त भी ऐसा ही है। मद्र देश में अश्वपति नामक राजा था। उसके संतान न थी। तब उसने लक्ष होम से सावित्री की उपासना की। अठारह वर्ष उसने केवल तीसरे दिन भोजन किया। तब सावित्री ने प्रकट होकर कहा, "हे मद्रराज, वर मांगो। मैं तुम्हारे ब्रह्मचर्य, दम और नियम से प्रसन्न हूं।" राजा ने कहा, "यदि आप प्रसन्न हैं तो वंश चलानेवाले मेरे बहुत-से पुत्र हों।" सावित्री ने कहा, "तुम्हारी इस इच्छा को जानकर मैंने पहले ही ब्रह्माजी से पुत्र के लिए कहा था। उनकी कृपा हुई है कि एक तेजस्विनी कन्या तुम्हारे यहां जन्म लेगी। तुम उत्तर में अब और कुछ न कहना।" देवी सावित्री के अन्तर्धान हो जाने पर राजा अपने घर लौट आया।

कुछ समय बीतने पर उसकी ज्येष्ठ रानी ने, जो मालव जनपद की राजकुमारी थी, गर्भ धारण किया। समय पर कन्या का जन्म हुआ और पिता ने उसका नाम सावित्री ही रखा। जब वह कन्या यौवनवती हुई तो उसके ज्वलन्त तेज के कारण किसी ने उसका वरण न किया। किसी पर्व के दिन वह अग्निहोत्र के बाद पिता के समीप आई। उसे देखकर राजा ने दुःखी होकर कहा, "हेपुत्री, यह तुम्हारे प्रदान का उचित काल है, पर कोई तुम्हें नहीं वरता। अतएव तुम अपने अनुरूप पति स्वयं ढूंढ लो। तुम जिसे चाहो, मैं विचारपूर्वक उसे तुम्हें प्रदान करूंगा।" यह कहकर राजा ने वृद्ध मंत्रियों को उसके साथ कर दिया। वह रथ पर बैठकर राजर्षियों के तपोवनों और तीर्थों में गई।

एक दिन राजा अश्वपति सभा में बैठे थे कि नारद आ गए। उसी समय सावित्री भी लौट आई। नारद ने देखकर पूछा, "तुम्हारी यह पुत्री कहां गई थी और अब कहां से आ रही है ? यह युवती हुई। इसे पति को क्यों नहीं देते ?" अश्वपति ने कहा, "मैंने इसी कार्य के लिए इसे भेजा था। और यह अभी लौटकर आई है।" तब पिता के अनुरोध से सावित्री ने कहा, "साल्व देश में द्युमत्सेन नाम का राजा था, जो पीछे अन्धा हो गया था। उसका पुत्र अभी बालक ही था कि समीप के राजा ने पहले बैर के कारण उसका राज्य छीन लिया। इस पर वह अपने पुत्र और स्त्री के साथ वन में

चला गया। वहीं उसका कुमार पुत्र युवावस्था को प्राप्त हुआ। उसका नाम सत्यवान है। उसे ही मैंने मन से वरण किया है।" राजा के पूछने पर नारद ने बताया कि जब वह बालक था तो मिट्टी के घोड़े बनाता और चित्र में भी घोड़े ही लिखता था, इसलिए उसे चित्राश्व कहने लगे। वह तेजस्वी, बुद्धिमान, क्षमावान् और रूपवान् है। बस उसमें एक दोष है। एक वर्ष बाद क्षीणायु होकर देह त्याग कर देगा। पिता अश्वपति ने यह बात सावित्री से कही और कहा, "हे पुत्री ! तुम्हारे चुने हुए पति में एक बड़ा दोष है। वह केवल एक वर्ष जीवित रहेगा। अतएव तुम दूसरा वर ढूंढ़ो।" सावित्री ने उत्तर दिया, "तीन बातें केवल एक बार की जाती हैं। पैतृक सम्पत्ति का भाग जिसके पास जाना होता है, एक बार ही जाता है। कन्या भी एक ही बार दी जाती है। 'मैं दान देता हूं' इस वाक्य का भी उच्चारण एक ही बार किया जाता है। दीर्घायु हो या अल्पायु, सगुण हो या निर्गुण, अपना पति मैं एक बार चुन चुकी। अब दोबारा नहीं चुनूंगी। मन से निश्चय करके तब वाणी से कहा जाता है और फिर उसी के अनुसार कर्म किया जाता है।" उसका यह उत्तर सुनकर नारद ने कहा, "सावित्री की बुद्धि-स्थिर है। उसे इस धर्म-मार्ग से विचलित नहीं किया जा सकता। सत्यवान जैसे गुण दूसरे में नहीं हैं। अतएव उसे ही कन्या देना मुझे उचित लगता है।" राजा ने इसे स्वीकार किया। नारद ने आशीर्वाद दिया और चले गए :

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव।
साधयिष्यामहे तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥(२७८।३१)

सावित्री की कथा में नारदजी के संवाद के बाईस श्लोक गुप्तकाल में जोड़े हुए ज्ञात होते हैं। ऊपर के श्लोक में साधयिष्यामहे (हम जायंगे) पद इसकी ओर संकेत करता है। 'साध' धातु का इस अर्थ में प्रयोग ठेठ गुप्त-काल की भाषा में आता है। कुमारगुप्त के समय के (पांचवीं शती) चतुर्भाणी नामक ग्रंथ में अनेक बार इस धातु का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। आरण्यक पर्व के ऊपर लिखित श्लोक से मिलता हुआ प्रयोग रघुवंश में कालिदास ने भी किया है, '**साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते।**' इन श्लोकों को यदि निकाल दिया जाय तो २७८।१०की संगति २७९।१ श्लोक से जुड़ जाती है।

तब राजा अश्वपति ने द्युमत्सेन के आश्रम में जाकर विधिवत् अपनी

कन्या सत्यवान् को अर्पित की। अपने पिता के लौट जाने पर सावित्री ने सब आभूषण त्यागकर अरण्यवास के योग्य वल्कल धारण कर लिया और अपने सास-ससुर एवं पति को परिचर्या से सन्तुष्ट किया। आश्रम में रहते हुए समय बीतता गया, पर सावित्री को सोते-जागते नारद का वह वाक्य याद रहता था। जब वह समय निकट आया और जब उसने जाना कि चौथे दिन पति की मृत्यु होगी तो उसने तीन दिन का निराहार व्रत किया और रात-दिन जागती रही। वधू के उस नियम से राजा द्युमत्सेन को दुःख हुआ और उसने सावित्री से कहा, "तुमने यह अत्यन्त कठोर व्रत आरम्भ किया है। तीन रात्रि का उपवास परम दुष्कर होता है।" सावित्री ने उत्तर दिया, "हे तात, आप चिंता न करें, मैं इस व्रत को पूरा कर लूंगी। मैंने ऐसा ही निश्चय किया है और इसका हेतु है।" द्युमत्सेन ने कहा, "'तुम व्रत तोड़ दो,' यह कहना उचित नहीं है। मुझे यही कहना चाहिए कि तुम्हारा व्रत पूर्ण हो।" यह कहकर द्युमत्सेन चुप हो गए, किन्तु सावित्री ने अगले दिन भर्तृ-मरण का सोच करते हुए बड़ी कठिनाई से वह रात्रि खड़े-खड़े बिताई। उसका शरीर काष्ठ-जैसा हो गया।

अगले दिन जबतक सूर्य आकाश में चार हाथ ऊंचे उठे, उससे पहले ही उसने अग्निहोत्र करके सब ब्राह्मणों से एवं सास-ससुर से सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद प्राप्त किया और ध्यान-योग में लीन होकर उस मुहूर्त की प्रतीक्षा करने लगी। तब उसके सास-ससुर ने एकान्त में कहा, "तुमने विधिवत् अपना व्रत पूरा कर लिया, उसके पारण का समय है, अब आहार करो।" सावित्री ने कहा, "मेरा संकल्प है कि सूर्य के अस्त होने पर भोजन करूंगी।" उसी समय सत्यवान् कंधे पर कुल्हाड़ा रखकर वन के लिए चला। सावित्री ने कहा, "आप अकेले न जायं, मैं साथ चलूंगी। आज आपको छोड़ने का मन नहीं है।" सत्यवान् ने विस्मित होकर कहा, "पहले तो तुम कभी साथ नहीं चलीं, और फिर आज तो व्रत और उपवास से क्षीण हो, पैदल कैसे चलोगी?" सावित्री ने कहा, "उपवास से मुझे कोई कष्ट या थकावट नहीं है। आज चलने में मेरा उत्साह है, आप मुझे न रोकें।" सत्यवान् ने कहा, "तुम्हारे उत्साह को देखकर मैं तुम्हारी बात मानूंगा, पर गुरुजनों से पूछ लो, जिससे दोष न लगे।" महाव्रता सावित्री ने सास-

ससुर के पास जाकर कहा, "फलाहार पर रहने वाले मेरे पति महावन में जा रहे हैं, मैं उनके साथ जाने के लिए आर्या और श्वसुर की आज्ञा चाहती हूं। आज मेरे पति किसी बड़े अग्नि होत्र के लिए समिधा लाने वन में जा रहे हैं। आप उन्हें कृपया रोकें नहीं। लगभग एक वर्ष से कुछ कम हुआ, मैं भी आश्रम से निकली नहीं। कुसुमित वन को देखने का मुझे कुतूहल है।" द्युमत्सेन ने कहा, "जिस दिन से यह पुत्रवधू होकर मेरे यहां आई है, आज-तक इसने कुछ नहीं मांगा, अतएव इसकी यह इच्छा पूरी हो। पर हे पुत्रि, सत्यवान् की मार्ग में सावधानी रखना।" इस प्रकार आज्ञा पाकर वह पति के साथ हँसती हुई, पर हृदय में चिन्तित, वन को गई। उस मुहूर्त की आशंका से उसका हृदय टूक-टूक हुआ जाता था।

पत्नी के साथ सत्यवान् ने फलों से कांवर भर ली (कठिनं पूरयामास) और तब लकड़ी फाड़ने लगा। उसे पहले स्वेद हुआ और फिर सिर में वेदना उत्पन्न हुई। श्रम से थककर उसने पत्नी से कहा, "इस व्यायाम से मेरा सिर दुखने लगा है। हे सावित्री, मेरे अंग और हृदय में पीड़ा है। मेरे सिर में जैसे शूल गड़ रहा है। मैं सोना चाहता हूं।" सावित्री ने भूमि पर बैठकर पति का सिर गोद में रख लिया। थोड़ी देर में उसने पीला वस्त्र पहने हुए और हाथ में पाश लिये हुए लाल-लाल आंखोंवाले एक भयावह पुरुष को देखा। वह सत्यवान् के समीप खड़े होकर उसीको ताक रहा था। उसे देखते ही सावित्री ने सहसा उठकर हाथ जोड़कर कांपते हुए जी से कहा, "आप देवता ज्ञात होते हैं। कहिए कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?" यम ने कहा, "हे सावित्री, तुम पतिव्रता और तपस्विनी हो, इसलिए मैं तुमसे भाषण करूंगा। मैं यम हूं। सत्यवान् की आयु क्षीण हो चुकी है, इसे मैं बांधकर ले जाना चाहता हूं। यह धर्मात्मा और गुणी है, अतएव इसे लेने के लिए मेरे पुरुष नहीं आये, मैं स्वयं आया हूं।" यह कहकर यम ने सत्यवान् के शरीर से अंगुष्ठमात्र पुरुष को अपने पाश में बांधकर खींच लिया। इससे सत्यवान् का स्थूल शरीर प्राणों के निकल जाने से शव की भांति निस्तेज और क्रियाहीन होगया।

यम उसे बांधकर दक्षिण की ओर ले चले, और दुःखभरी हुई सावित्री उनके पीछे चली। यम ने उससे कहा, "हे सावित्री, लौट जाओ और अपने

पति की और्ध्वदेहिक क्रिया करो। पति से उऋण होने के लिए जितना सम्भव था, तुमने किया।" सावित्री ने उत्तर दिया, "जहां मेरे पति को आप ले जा रहे हैं, मैं भी वहीं जाऊंगी। यही धर्म का शाश्वत विधान है। तप से, गुरुजनों की सेवा से, पति के स्नेह से, व्रत पालन से और आपकी कृपा से मेरी गति अकुंठित है। तत्वदर्शियों का कहना है कि जिसके साथ सात पद चल लिया जाय, उससे सख्य संबंध जुड़ जाता है। इसी मित्रता के नाते आपसे कुछ कहती हूं, सुनिए।"

इसके बाद यम और सावित्री का इकत्तीस श्लोकों में लम्बा कथोपकथन पाया जाता है जा प्राचीन छन्दों में और बहुत ही उदात्त धरातल पर है।

सावित्री—"जिन्होंने आत्मा को वश में नहीं किया, वे वन में रहकर अरण्यवास, धर्माचरण या तप नहीं कर सकते। विज्ञान से धर्म की प्राप्ति कही जाती है, इसलिए सन्तों ने धर्म को प्रधान माना है। सज्जन जिसे धर्म कहते हैं, एक व्यक्ति भी यदि उसका पालन करे तो और सब भी उस मार्ग में लग जाते हैं। दूसरे या तीसरे मार्ग की वांछा नहीं करनी पड़ती। इसलिए सन्तों ने धर्म को ही मुख्य माना है।"

यम—"तुम लौट जाओ। स्वर, अक्षर, व्यंजन और हेतु से युक्त तुम्हारी इस वाणी से मैं प्रसन्न हूं। इसके जीवन को छोड़कर और जो मांगोगी, दूंगा।"

सावित्री—"अपने राज्य से च्युत, वनवास में आये हुए जो मेरे अंधे ससुर हैं, वह आपकी कृपा से पुनः चक्षुष्मान् बलवान् और राजा हो जायं।"

यम—"यह वर मैंने दिया। जैसे तुमने कहा, वैसा होगा। मार्ग की थकावट तुममें आगई है, अब लौट जाओ।"

सावित्री—"पति के समीप मुझे श्रम कैसा? जहां पति, वहीं मेरी गति निश्चित है। जहां पति को ले जायंगे, वहीं मुझे भी जाना है। और भी कृपाकर सुनें। सज्जनों से एक बार संगति होना भी बड़ा लाभ है। उसके बाद तो वे मित्र हो जाते हैं। सत्पुरुष की संगति निष्फल नहीं होती।"

यम—"तुमने मनोनुकूल, बुद्धियुक्त वचन कहा है, सत्यवान् के जीवन के अतिरिक्त और कोई दूसरा वर मांग लो।"

सावित्री—"मेरे ससुर का जो राज्य पहले छिन गया था, उसे वह फिर पा लें, और अपने धर्म पर आरूढ़ रहें, यही मैं आपसे दूसरा वर चाहती हूं।"

यम—"राजा द्युमत्सेन शीघ्र फिर अपना राज्य पायगा और स्वधर्म में भी आरूढ़ रहेगा। हे राजकुमारी, मैंने तुम्हारी इच्छा पूरी की, अब लौट जाओ, जिससे थको नहीं।"

सावित्री—"आपने इन प्रजाओं को अपने नियम से बांध रखा है। उसी नियम के अनुसार आप इन्हें ले जाते हो, कुछ मनमानी इच्छा से नहीं। इसलिए हे देव, आप यम कहलाते हो।"

यम—"जैसे प्यासे के लिए पानी प्रिय होता है, वैसे तुम्हारा यह वाक्य मेरे लिए है। सत्यवान् के जीवन को छोड़कर जो इच्छा हो वर मांगो।"

सावित्री—"पृथ्वीपति मेरे पिता पुत्रहीन हैं। उन्हें सौ औरस पुत्रों की प्राप्ति हो, जिनसे उनकी कुल-वृद्धि हो। यह तीसरा वर मांगती हूं।"

यम—"तुम्हारे पिता के सौ तेजस्वी और वंशकर्ता पुत्र हों। तुम्हारी इच्छा पूरी की, अब लौट जाओ। तुम मार्ग में दूर तक चली आईं।"

सावित्री—"पति की सन्निधि में मुझे यह कुछ दूर नहीं लगा। मेरा मन तो और भी दूर तक जा रहा है। अब आप कृपया मेरी एक बात और सुनें। आप विवस्वान् के प्रतापी पुत्र हैं, इसीलिए वैवस्वत कहलाते हैं। आपने शम और धर्म से प्रजाओं को सदा प्रसन्न रखा है। यही आपकी धर्मराजता है। अपने में भी मनुष्य को उतना विश्वास नहीं होता, जितना सज्जन में। इसलिए सन्तों से सब प्रीति चाहते हैं।"

यम—"हे शुभे, तुमने जैसा वचन कहा है, आजतक मैंने नहीं सुना। इससे मैं तुष्ट हुआ। इसके जीवन के बिना जो चाहो, चौथा वर मांगो और चली जाओ।"

सावित्री—"सत्यवान् से मुझे वंशवृद्धि करनेवाले सौ पुत्रों की प्राप्ति हो, यही चौथा वर मांगती हूं।"

यम—"हे अबले, तुम्हें बल-वीर्यशाली सौ पुत्रों की प्राप्ति होगी। तुम्हें अब और खेद न हो, इसलिए लौट जाओ।"

सावित्री—"सन्तों की धर्मवृत्ति शाश्वती होती है। सन्त कुण्ठित या

व्यथित नहीं होते । सन्तों की संगति निष्फल नहीं होती । सन्तों से कोई भय नहीं है । सन्तों के सत्य से ही सूर्य गतिमान् है । सन्तों के तप से भूमि ठहरी है । सन्त भूत और भविष्य की गति हैं । सन्तों के मध्य में कोई अवसाद नहीं होता । सत्पुरुषों की प्रसन्नता व्यर्थ नहीं होती । उनके साहचर्य से न इष्ट की अर्थ हानि होती है, न सम्मान की । संतों का यह नित्य का स्वभाव है, इसलिए सन्त सदा रक्षक ही होते हैं ।"

यम—"जैसे-जैसे तुम यह धर्म-परायण मनोकूल अर्थ-सम्पन्न वचन कहती हो, वैसे-वैसे मुझे तुम्हारे प्रति भक्ति बढ़ती जाती है । हे व्रतचारिणी, और कोई विलक्षण वर मांगो ।"

सावित्री—"जैसे अन्य वर आप दे देते हैं, वैसे सुकृत के बिना मोक्ष आप किसीको नहीं देते । अतएव मैं यही वर मांगती हूं कि सत्यवान् जीवित हो जायं, क्योंकि पति के बिना मैं भी मरी हुई ही हूं । भर्त्ता के बिना न मैं सुख चाहती हूं, न स्वर्ग, न राज्यश्री और न जीवन । आप ही मुझे शतपुत्रवती होने का वर दे चुके हैं और फिर मेरे पति को ले जा रहे हैं । मैं यही वर मांगती हूं कि सत्यवान् जीवित हों और आपका वचन सत्य हो ।"

उसके यह वचन सुनकर वैवस्वत यम ने 'तथास्तु' कहकर पाशों को मुक्त कर दिया और प्रसन्न होकर सावित्री से कहा, "हे भद्रे! मैंने तुम्हारे पति को छोड़ा, अब यह स्वस्थ होकर सफल मनोरथ और दीर्घायु होगा । सत्यवान् से तुम्हें जिन सौ पुत्रों की प्राप्ति होगी, वे सब क्षत्रिय राजा कहलायंगे और पुत्र-पौत्रों से युक्त होकर तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होंगे । तुम्हारे पिता से मालवी नामक माता के जो सौ पुत्र होंगे, वे मालव कहलायंगे ।" सावित्री को वर देकर यम अपने लोक को चले गए और उधर सावित्री अपने पति के पास लौट आई । तभी सत्यवान् फिर होश में आकर उठ बैठा ।

यहां सावित्री के जिन पुत्रों का उल्लेख है, वे सावित्रीपुत्रक नाम से प्रसिद्ध हुए । कर्ण पर्व (४।४७) में और पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी गणराज्य के रूप में उनका उल्लेख आया है । सावित्री और सत्यवान् के पुत्र-पौत्रों के जो कुटुम्ब फैले, उन्होंने अपने छोटे गणराज्य की स्थापना की और उसीका यह नाम पड़ा । 'पुत्र' शब्द यहां 'ख्यात' या 'कबीले' का

वाचक है, जैसा पंजाब के अरोड़े खत्रियों में केहरपोत्रे, चननपोत्रे आदि जाति नामों में देखा जाता है। विवाह के समय सावित्री और सत्यवान् राज्य से निर्वासित थे। विवाह हो जाने पर जब उनके दिन फिरे तो मद्र और शाल्व दोनों ने अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियां सहायता के लिए उन्हें दीं। उन्हींसे मद्रकारा: और शाल्वसेनय: इन दो छोटे राज्यों की और नींव पड़ी। ज्ञात होता है कि पंजाब के सावित्रीपुत्रकों में ही सावित्री और सत्यवान् का यह महद् उपाख्यान जातीय पवाड़े के रूप में सुरक्षित चला आता था। जहां से वह महाभारत में अन्तर्भुक्त हुआ। कठ चरण ने, जो कि विशेषत: मध्य पंजाब में ही था, इसीसे मिलती-जुलती यम के वरदानों की कहानी कठोपनिषद् में सुरक्षित रक्खी है। उस कथा की पृष्ठभूमि में भी यम के दिये हुए वरदान महत्वपूर्ण अभिप्राय के रूप में हैं।

इधर जब सत्यवान् को फिर होश हुआ तो वह सावित्री को साथ लेकर आश्रम को लौट आया। वहां द्युमत्सेन को पहले ही दृष्टि प्राप्त हो गई थी। उनके और अरण्य के साथी ऋषियों के प्रश्न करने पर सावित्री ने वह सब वृत्तान्त सुनाया। मार्कण्डेय ने कथा का उपसंहार करते हुए कहा, "जैसे सावित्री ने अपने माता-पिता, सास-ससुर और पति-कुल का उद्धार किया वैसे ही कल्याणमयी द्रौपदी अपने शील से आप सबका उद्धार करेगी।"

३९ : : कुण्डलाहरण

आरण्यकपर्व के अन्त में दो छोटे पर्व और शेष रहते हैं। पहले का नाम है कुण्डलाहरण पर्व और दूसरे का आरणेय पर्व। पहले में इन्द्र द्वारा कर्ण के कुण्डल मांगने की कथा है और प्रसंगोपात्त कुन्ती द्वारा सूर्य से देवों का आह्वान मंत्र प्राप्त करने और कौमार अवस्था में कर्ण को जन्म देने की कथा है। दूसरे में एक ब्राह्मण की अग्नि-मन्थन करनेवाली अरणी के मृग द्वारा हरण के प्रसंग में यक्ष-युधिष्ठिर के मुख से प्रश्नोत्तर के रूप में अति विचित्र ब्रह्मोद्य चर्चा है।

कुण्डलाहरण पर्व एक ऐसे वीर की गाथा है, जिसका अतिमानवी

चरित अपना सादृश्य नहीं रखता। यदि पांचों पाण्डवों को एक में मिला दिया जाय तो उस गुण समष्टि की तुलना में अकेले कर्ण का प्रखर व्यक्तित्व बराबर ठहरता है। कर्ण पुरुषार्थ की प्रतिमा है। पर उच्च कुल में जन्म लेने की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त न होने के कारण उन्हें भाग्य की थपेड़ें सहनी पड़ीं, पर उसका देवतुल्य व्यक्तित्व सदा ही ऊपर उभरता हुआ दिखाई देता है। जिस सूर्य के अंश से उसने जन्म लिया था, वह भी उसे सत्य-पथ से विचलित नहीं कर सका। भाग्य की दूकान पर ठगे हुए निरपराध सत्पुरुष के रूप में कर्ण की करुण मुद्रा महाभारत के धीर पाठक के सामने यदा-कदा आती है।

इन्द्र ने लोमश के द्वारा युधिष्ठिर के पास सन्देश भेजा कि तुम जिस बात से सदा डरते रहते हो और किसी से कहते नहीं, मैं उस भय को दूर करूंगा। उस भय का कारण कर्ण ही था। जब पांडवों के प्रवास के बारह वर्ष पूरे होने को आये और इन्द्र ने यह सोचा कि अर्जुन का मार्ग निष्कण्टक करने के लिए कर्ण के अमृत-निर्मित कुण्डल मांग लावें, तो स्वप्न में सूर्य ब्राह्मण के वेश में कर्ण के पास पहुंचे और कहा, "हे महाबाहु, तुम्हारे कुण्डल लेने की इच्छा से इन्द्र कपटी ब्राह्मण के वेश में तुम्हारे पास आयेगा, किन्तु तुम देना नहीं। तुम्हारे कुण्डल और कवच अमृत से उत्पन्न हुए हैं। उनके कारण तुम अवध्य हो।" इस चेतावनी का कर्ण पर कोई प्रभाव न हुआ। कर्ण ने अपने यश की रक्षा के विषय में दृढ़ निश्चय प्रकट किया। सूर्य ने कर्ण को फिर बहुत भांति से समझाया और कहा, "हे तात! यदि तुम इन्द्र को कुण्डल देना ही चाहो, तो तुम भी इन्द्र से शत्रुओं का नाश करनेवाली एक अमोघ शक्ति मांग लेना। मुझे तुमसे और भी कुछ दैवी गुह्य बात कहनी है, पर उसे तुम स्वयं समय पर जानोगे। जबतक तुम्हारे कानों में कुण्डल हैं, स्वयं इन्द्र भी बाण बनकर आ जाय तो अर्जुन तुम्हें नहीं जीत सकता।" कर्ण ने जो स्वप्न देखा था वह उसके प्रत्यक्ष होने की प्रतीक्षा करने लगा।

बीच में ही जनमेजय ने उस गुह्य बात के विषय में भी प्रश्न कर दिया, जिसका सूर्य ने संकेत किया था। उत्तर में वैशम्पायन ने कौमार अवस्था में कुन्ती के गर्भ से कर्ण के जन्म की कथा कही। कुन्ती वृष्णि-वंश में उत्पन्न शूर की पुत्री एवं वसुदेव की बहन थी। बालापन में ही उसके पिता ने उसे

राजा कुन्तिभोज को गोद दे दिया था। जब वह युवती हुई तब कुन्तिभोज के यहां एक परम तेजस्वी ब्राह्मण आया। पिता ने कुन्ती को यह भार सौंपा कि वह ब्राह्मण की सेवा में नियत रहे। रूप और यौवन-सम्पन्न कुन्ती के लिए यह टेढ़ा काम था और पिता ने भी न जाने मन में क्या सोचकर उसे इस नियोग में लगाया था। यह स्पष्ट तो नहीं कहा गया, किन्तु घुमा-फिरा कर लगभग तीस श्लोकों में उसने बार-बार उस तेजस्वी ब्राह्मण की सेवा के लिए कुन्ती को प्रेरित किया। वह ब्राह्मण एक वर्ष वहां रहा। कुन्ती ने शिष्य की भांति, पुत्र की भांति और बहन की भांति, उसकी सेवा की, जिस-से ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। ब्राह्मण ने चलते समय कुन्ती से वर मांगने को कहा। कुन्ती ने सहज भाव से कहा, "मुझे वर नहीं चाहिए। आप प्रसन्न हुए, पिता प्रसन्न हुए, यही मेरे लिए सबकुछ है।" ब्राह्मण ने कहा, "यदि तुम वर नहीं चाहती तो देवताओं को बुलाने का यह मंत्र सीख लो। जिस-जिस देव का इस मंत्र से आह्वान करोगी, वह अकाम या सकाम किसी भी भाव से तुम्हारे वश में हो जायेगा।" कुन्ती ब्राह्मण के इस आग्रह को टाल न सकी और वह अथर्व के उस मंत्र को देकर चला गया। कुछ समय बीतने पर कुन्ती ने उस मंत्र के प्रभाव की सत्यता जाननी चाही। देवयोग से वह उसी समय ऋतुमती हुई और उसने सन्ध्याकालीन सूर्य को देखकर उसका आह्वान किया। योगबल से सूर्य ने मानव का शरीर धारण किया और कुन्ती के पास आये। कुन्ती ने कहा, "मैंने तो कुतूहलवश तुम्हें बुला लिया था," पर सूर्य न माने और उससे आत्म-प्रदान के लिए आग्रह करते हुए कहा, "यदि तुम ऐसा न करोगी तो मैं क्रुद्ध होकर तुम्हें और तुम्हारे पिता को भस्म कर दूंगा और ब्राह्मण को भी, जिसने तुम्हें मंत्र दिया था।" कुन्ती ने बहुत भांति टालना चाहा, किन्तु सूर्य न माने और उसे यह विश्वास दिलाया, "इससे तुम्हें अधर्म न होगा। तुम बाद में कन्या बनी रहोगी और तुम्हें महाबली पुत्र होगा। तुम्हारे पुत्र को अमृतमय दिव्य कवच और कुण्डल प्राप्त होंगे। देवता-माता अदिति ने मुझे वे कुण्डल दिये थे, वे मैं उसे प्रदान करूंगा।" इस प्रकार कुन्ती सूर्य के तेज से विह्वल होगई।

सावधान पाठक को इस कथा में दो स्तर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। एक मानव शरीरधारी ब्राह्मण के साथ कुन्ती के परिचय का और दूसरा मंत्र-

बल से आहूत सूर्य का। सूर्य के कथाभाग में गमनार्थक **'साधयिष्यामहे'**, **'साधयिष्यामि'** दोनों प्रयोग आये हैं, जो भाषा के आधार पर इस प्रकरण के स्तर को सूचित करते हैं। ज्ञात होता है कि कुन्ती के चरित्र की विशुद्धि के लिए भागवतों द्वारा इस प्रकार के अधिक कथांश की रचना की गई।

समय पर गर्भ के लक्षण प्रकट हुए, पर कुन्ती ने अपनी धात्री के सिवा और सबसे उन्हें छिपाया। जन्म के बाद ही बालक को अपनी धात्री की सलाह से एक मंजूषा में रखा और उसके ऊपर मोम का खोल चढ़ाकर ढक्कन बन्द कर दिया और उसी प्रदेश की अश्व नदी में बहा दिया। पुत्र को इस प्रकार प्रवाहित करते हुए उसके हृदय में मातृत्व स्नेह उमड़ आया और उसने रोते हुए कहा, "हे पुत्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के प्राणियों से और जलचरों से तुम्हारी रक्षा हो। तुम्हारे मार्ग में कल्याण हो (**शिवास्ते सन्तु पन्थानः**)। जल में वरुण, अन्तरिक्ष में पवन और द्युलोक में तुम्हारे पिता सूर्य तुम्हारी रक्षा करें। वह स्त्री धन्य होगी, तुम जाकर जिसके पुत्र बनोगे और जिसका स्तन्यपान करोगे।" नारी में जो शाश्वती माता छिपी है, उसके करुण विलाप का यह नमूना है। मंजूषा विसर्जन करके धात्री के साथ कुन्ती राजभवन में लौट आई। बहती हुई मंजूषा अश्व नदी से चर्मण्वती (चम्बल नदी) में, चम्बल से यमुना में और यमुना से क्रमशः वहां पहुंची, जहां अंगदेश की राजधानी चम्पापुरी थी। उसी समय धृतराष्ट्र का मित्र अधिरथ सूत अपनी पत्नी राधा के साथ गंगातट पर आया था। उन्होंने उस मंजूषा को खोलकर देखा और बालक को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। ब्राह्मणों ने उसका नाम वसुषेण या वृष रखा। जब वह पुत्र बड़ा हुआ तब अधिरथ ने उसे हस्तिनापुर भेज दिया। वहीं उसने अस्त्रशिक्षा प्राप्त की। अर्जुन से सदा उसकी लाग-डांट रहती थी। उसके कुण्डल और कवच देखकर युधिष्ठिर के मन में दाह हुआ करता था।

मध्यान्ह काल में जब कर्ण सूर्योपस्थान करते तो बहुत-से ब्राह्मण दान लेने उनके पास आया करते थे। एक दिन देवराज इन्द्र भी ब्राह्मण का वेश बनाकर आये। कर्ण ने उसकी इच्छा पूर्ण करने को कहा। ब्राह्मण ने सहज उनके कवच और कुण्डल मांग लिये, "यदि आप सत्यव्रत हैं तो इन्हें मुझे दीजिए।" कर्ण ने उसे समझाना चाहा, पर ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र न माने।

कर्ण ने वे दोनों वस्तुएं उसे दे दीं। इन्द्र ने भी अपने को भारमुक्त करने के लिए उसे अमोघा नाम की शक्ति दी और कहा कि जिस एक शत्रु पर इसे चलाओगे, उसे मारकर फिर यह मेरे पास लौट आयगी।

कुण्डलाहरण की इस कथा के साथ हमें आदि पर्व की उस कथा का स्मरण आता है, जिसमें उत्तंक ऋषि ने गुरुपत्नी के लिए पौष्य राजा की रानी के कुंडल प्राप्त किये थे। उसमें भी इन्द्र के साहचर्य और सहायता का उल्लेख आता है। इसके मूल में कोई अध्यात्म प्रतीक ज्ञात होता है। सूर्य और चन्द्र, अग्नि और सोम, शती और उष्ण विश्व की इन दो धाराओं के प्रतीक ये अमृतमय कुण्डल हैं, जिनका धारण करना मध्यकालीन योगियों की परम्परा में भी आवश्यक समझा जाता था।

४० : : यक्ष-युधिष्ठिर-प्रश्नोत्तरी

आरण्यक पर्व के महान कथा-समुद्र की अन्तिम हिलोर के रूप में यक्ष-प्रश्न नामक एक अद्भुत प्रकरण सुरक्षित रह गया है। इस यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद के अंत में फलश्रुति दी हुई है। (२५८।२७, २८), जो इस बात का संकेत है कि यह प्रकरण महाभारत का मौलिक अंग न था, कहीं से जोड़ा गया। जिस स्रोत से यह लिया गया, वह लोक-साहित्य और वेद-साहित्य का संमिश्रण था, जैसा कि इसमें आये हुए दो प्रकार के प्रश्नों से प्रकट होता है। उदाहरण के लिए यज्ञिय साम क्या है ? 'प्राण याज्ञिय साम है' यह वैदिक धरातल से आया हुआ प्रश्नोत्तर है। अथवा '**किं स्विदेको विचरति**' (२६, ४६) तो यजुर्वेद का '**कः स्विदेकाकी चरति**' मंत्र ही है। निश्चय ही इनका स्रोत वैदिक ब्रह्मोद्य या ब्रह्म-विषयक प्रश्नोत्तरमयी चर्चाएं थीं। दूसरा विभाग लोक-साहित्य की धारा का है, जैसे कि '**किं स्वित् सुप्तं न निमिषति**' (कौन सोता हुआ पलक नहीं मारता ?) और उत्तर में '**मत्स्यः सुप्तो न निमिषति**' (मछली सोती हुई पलक नहीं मारती, २६७।४२, ४३), यह लोक-साहित्य से लिया गया अंश है।

प्राचीन काल में यक्ष-पूजा का बहुत प्रचार था। उसका आवश्यक अंग प्रश्नोत्तर या प्रश्न बूझना था। ऐसे ही वेदकालीन या वैदिक ब्रह्मोद्य चर्चाओं

में भी प्रश्नोत्तर पूछे जाते थे। अश्वमेधीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत **'कः स्विदेकाकी चरित'** (यजुर्वेद २३।९) इत्यादि १८ मंत्रों को ब्रह्मोद्य कहा गया है। ऋग्वेद में इसी प्रकार के प्रश्नों का एक मंत्र आता है: **'किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तदध्य तिष्ठद् भुवनानि धारयन्** (१०।८१।४)॥' इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया जाता था, **'ब्रह्म तद्वनं ब्रह्म उस वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥'** इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों को ब्रह्मोद्य कहा जाता था। वेद में जो ब्रह्मोद्य शैली थी वही लोक में यक्ष-प्रश्न की शैली थी। ब्रह्म को कालान्तर में यक्ष भी कहा गया। **'महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये'** मंत्र में यक्ष ब्रह्म का वाचक है। अथर्ववेद (१०।२।२८, ३३) के मंत्रों में स्पष्ट ही अपराजिता पुरी में रहनेवाले ब्रह्म नामक यक्ष का उल्लेख आया है। यहां भी यक्ष को अपराजित कहा गया है। शान्ति पर्व (मोक्ष धर्म १७१।५२) में अपराजिता पुरी को अवध्य ब्रह्मपुर कहा है, जहां ब्रह्मपुर का तात्पर्य यक्षपुर ही है, जिसमें राजा (अर्थात् यक्ष) सुख से निवास करता है। केनोपनिषद् की कथा के अनुसार ब्रह्म ही यक्षरूप में प्रकट हुआ। लोक और वेद की यह मिलती-जुलती साहित्य-शैली किसी समय एक-दूसरे से घुल-मिल गई, जिसका सबसे अच्छा उदाहरण महाभारत का यही यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद है।

यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद के १८ श्लोकों में प्रश्न और १८ में ही उनके उत्तर हैं। महाभारतकार ने इस अंश को 'प्रश्नव्याकरण' (**प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि**, २९७।११) कहा है। प्रश्नों की बुझौवल का यक्ष-पूजा से घनिष्ठ संबंध था। आज भी लोक में यक्ष या देवता किसी के सिर आता है तो टपाटप प्रश्न पूछने की प्रथा है। यहां यह भी उल्लेख-योग्य है कि कुरु जनपद के लोक-साहित्य की छानबीन करते हुए इसी शैली के कुछ लोकगीत मिले हैं, जिन्हें मल्हार या गाहा कहते हैं, जैसे :

प्रश्न : **ऐ जी कौन जगत में एक है ?**
बीरा कौन जगत में दोय ?
कौन जगत में जागता ?
ऐ जी कोई कौन रह्या पड़ सोय ?

उत्तर :

ए जी राम जगत में एक है,
बीरा चन्दा सूरज दोय।
पाप जगत में जागता,
ऐ जी कोई धरम रह्या पड़ सोय॥

इस प्रश्नोत्तरी के बोल प्राचीन वैदिक गाथाओं के समकक्ष हैं :

कः स्विदेकाकी चरित क उस्विज्जायते पुनः।

फिर इसका उत्तर है :

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।

कौन जगत में जागता ? इसकी प्रतिध्वनि अथर्व वेद के 'कः सुप्तेषु जार्गति' वाक्य में पाई जाती है। महाभारत में यक्ष पूछनेवाला है और धर्म के प्रतिनिधि युधिष्ठिर उत्तर देनेवाले हैं। लेकिन वस्तुतः लोग पूछते हैं और यक्ष उत्तर देता है, यही परम्परा थी।

इन प्रश्नों की भूमिका के रूप में कहा गया है कि एक बार जब पांडव काम्यक वन से लौटकर द्वैतवन में बैठे थे तब किसी ब्राह्मण की अरणी हिरण के सींग में अटक गई और उसे लेकर जगल में भाग गया। उसने पाण्डवों से गुहार की। उसकी सहायता के लिए युधिष्ठिर और चारों भाई अस्त्र लेकर मृग की ओर दौड़े, पर वह ओझल होगया। तब वे गहन वन में किसी न्यग्रोध की शीतल छाया में भूखे-प्यासे बैठ गए। उस समय नकुल ने दुःखी होकर पूछा, "आजतक तो हमसे धर्म का लोप हुआ नहीं, आज यह हिरन बुत्ता कैसे दे गया ?" युधिष्ठिर ने कहा, "आपत्तियों का कोई अन्त नहीं; उसका कारण क्या कहा जाय ? धर्म जब जैसे चाहता है, पुण्य पाप का बंटवारा किया करता है।" भीम ने कहा, "जब दुःशासन द्रौपदी को सभा में दासी की तरह लाया था तभी मैंने इसे न मार डाला, उससे हमें यह समय देखना पड़ा।" अर्जुन ने कहा, "सूत-पुत्र कर्ण ने जो कटीली बातें कही थीं, उन्हें मैंने सह लिया, इसलिए यह दिन देखा।" सहदेव ने कहा, "शकुनि ने अक्ष-द्यूत में जब तुम्हें जीता तभी उसे मैंने न मारा, इसी से यह दिन देखा।" ये वाक्य पाण्डवों की तत्कालीन विक्षुब्ध मनोवृत्ति के सूचक हैं। केवल युधिष्ठिर के कथन में शान्त धरातल है। तब युधिष्ठिर ने नकुल से कहा,

"तुम्हारे भाई प्यासे हैं, वृक्ष पर चढ़कर देखो कि कहीं पास में पानी है?" नकुल ने वैसा ही करके कहा, "हां, पानी के पास बहुत-से पेड़ दिखाई पड़ रहे हैं, वहां अवश्य जल होगा।" इसपर युधिष्ठिर ने उसे पानी लाने के लिए भेजा। ज्योंही वह पानी लेने के लिए झुका, उसने अंतरिक्ष में यह शब्द सुने, "हे तात, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और तब जल पियो।" नकुल ने इस पर ध्यान न दिया और वह पानी पीकर वहीं बेहोश हो गया। जब उसे देर हुई तब युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। सहदेव की भी वही दशा हुई। तब अर्जुन और अन्त में भीमसेन को भेजा। जब उनमें से कोई न लौटा, तब युधिष्ठिर स्वयं वहां आये और उन्होंने चारों भाइयों को वहां पड़े हुए देखा। किसी के शस्त्र का कोई प्रहार नहीं लगा था। वे समझ गए कि किसी महद् भूत ने मेरे भाइयों की यह दशा की है। प्राचीन साहित्य में 'महत्' संज्ञा यक्ष के लिए थी। शतपथ ब्राह्मण (**नामरूपे महती अभ्वे महती यक्षे**), दीघनिकाय (**आदिच्चुपट्ठानं महद्दुपट्ठानं**) और आदि पर्व (**त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्व राजा**; २१।२२) में महत् शब्द से यक्ष का ही अभिप्राय है। युधिष्ठिर जल पीने के लिए सरोवर में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने सामने एक बगले को यह कहते हुए सुना, "पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, पीछे जल पीना।" पश्चिमी जगत में जो यज्ञिय पात्री (Holy Grail) की कथा है उसमें भी बक (अंग्रेजी फिशर किंग) का अभिप्राय आया है।

युधिष्ठिर ने अपने बुद्धि-बल से परिस्थिति को ताड़ लिया कि यह कोई जलचर पक्षी नहीं, कोई महान् देवता है। केनोपनिषद् में यक्ष का जैसा महिमाशाली स्वरूप है, उसीकी कल्पना करते हुए उन्होंने कहा, "रुद्र, वसु, मरुत्, इनमें से आप कौन हैं? हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य और मलय, ये चार पर्वत भी आपके उच्च तेज के सामने धरती में पड़े हैं। आपका कर्म भी देव, गन्धर्व, असुर, राक्षस सबसे अधिक है, आप कौन हैं?" इसपर यक्ष ने स्वीकार किया, "तुमने ठीक पहचाना मैं यक्ष हूं, जलचर पक्षी नहीं। मैंने ही इन सबको बेहोश किया है।" तब युधिष्ठिर ने यक्ष को साक्षात् अपने सामने देखा। वह महाकाय, महाबल, पर्वतोपम, ताड़ के समान ऊंचा, अधृष्य और जलती हुई अग्नि के समान तेजस्वी था। वह सरोवर के सेतु पर खड़ा हुआ था। इस वर्णन में हमें प्राचीनकाल की उन

महाकाय यक्ष मूर्त्तियों की झांकी मिलती है, जो प्रायः सरोवर या पुष्करिणी के किनारे स्थापित की जाती थीं। मथुरा की परखम गांव से मिली यक्ष-मूर्ति इसका टकसाली नमूना है।

युधिष्ठिर ने सब समझकर सीधे कहा, "हे यक्ष, मैं तुम्हारे नियम को तोड़ना नहीं चाहता। तुम प्रश्न पूछो। मैं यथामति उत्तर दूंगा।"

प्रश्न—सूर्य को कौन ऊंचा ले जाता है? उसके अभिमत साथी कौन हैं? कौन इसे अस्त की ओर ले जाता है? और यह किसके आलम्बन पर स्थित होता है?

उत्तर—ब्रह्म आदित्य का उदय कराता है। देव उसके प्रिय साथी हैं। सत्य उसे अस्त की ओर ले जाता है। वह धर्म के धरातल पर प्रतिष्ठित होता है।

प्रश्न—किससे श्रोत्रिय होता है? किससे महान की प्राप्ति होती है? किससे व्यक्ति साथीवाला बनता है? किससे वह बुद्धिमान होता है?

उत्तर—श्रुत-ज्ञान से श्रोत्रिय होता है। तप से महान की प्राप्ति होती है। धृति से व्यक्ति साथीवाला बनता है। वृद्धों की सेवा से बुद्धिमान होता है।

प्रश्न – ब्राह्मणों में देवत्व क्या है? इनमें भलेमानसों की बात कौन-सी है? इनमें मनुष्यपना क्या है? इनमें कौन-सी बात पाजीपन की है?

उत्तर—स्वाध्याय इनका देवपना है। वे तप करते हैं यही, भले आदमियों जैसी बात है। मर जाते हैं, यही इनके मनुष्य होने का प्रमाण है। जब झगड़ने लगते हैं, यही उनका पाजीपन है।

प्रश्न—क्षत्रियों में देवत्व क्या है? भलेमानसों-जैसी बात क्या है? मनुष्यपने की बात क्या है? और पाजीपन की बात क्या है?

उत्तर—बाण चलाना ही उनकी देवतुल्य शक्ति है। यज्ञ करना भला काम है। उनमें जब भय होता है यही मानुषी भाव है। वे जब कर्म छोड़ बैठते हैं, वही उनका असत् रूप है।

प्रश्न—सब यज्ञों का एक साम क्या है? सब यज्ञों में ओत-प्रोत एक यजु क्या है? कौन यज्ञ का तक्षण करती है? यज्ञ किस वस्तु का अति-क्रमण नहीं करता?

उत्तर—यज्ञों का साम प्राण है। यज्ञों का यजु मन है। वाक् यज्ञ का तक्षण करती है। यज्ञ वाक् का अतिक्रमण नहीं करता।[1]

प्रश्न—ऊपर से आनेवालों में कौन श्रेष्ठ है ? नीचे जानेवालों में कौन श्रेष्ठ है ? प्रतिष्ठा तत्ववाले पदार्थों में कौन श्रेष्ठ है? बोलनेवालों में कौन सबसे अच्छा है ?

उत्तर—ऊपर से आनेवालों में से वृष्टि उत्तम है। नीचे जानेवालों में बीज उत्तम है। प्रतिष्ठित होनेवालों में गौ उत्तम है। बोलनेवालों में पुत्र उत्तम है।

प्रश्न—इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता हुआ बुद्धिमान और लोक में पूजित कौन ऐसा है, जो सांस लेता हुआ भी नहीं जीता ?

उत्तर—देवता, अतिथि, भृत्य, पितर और अपना जो पालन नहीं

---

१. इसके पीछे त्रयी विद्या का मूल तत्व निहित है। इसमें प्राण को सामवेद, मन को यजुर्वेद और वाक् को ऋग्वेद माना गया है। प्रत्येक पिण्ड का व्यास ऋग्वेद है, जिससे मूर्ति का निर्माण होता है। उसे ही वाक् कहा जाता है। पिण्ड की जो परिधि या सीमा है, वही उसका तेजोमण्डल या साम है। पिण्ड के भीतर जो भरा हुआ रस-तत्व है अथवा गति और स्थिति का जो संतुलन है, वही यजु है। उसे यहां मन कहा है। वस्तुतः वैदिक परिभाषा में मन को साम और प्राण को यजु माना गया है। इसकी व्याख्या के लिए निम्नलिखित मन्त्र देखना चाहिए :

ऋग्भ्य जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजः साम रूपं ह शश्वत् सर्वं हींय ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।।

(तैत्तिरीय ३।१२।६।१)

ऋक् से मूर्ति या पिण्ड का निर्माण होता है। उसीको यज्ञ का तक्षण कहा है, अर्थात् ऋग्वेद रूपी व्यास से प्रत्येक वस्तु के विस्तार का नियमन होता है। सामवेद तेजोरूप मण्डल या परिधि का निर्माण करता है और यजु वह गति तत्व या रस है, जो वस्तु से परिच्छिन्न होता है। ऋक् और साम केवल आयतन, पात्र, वयोनाध, या छन्द कहे जाते हैं। यजुर्वेद वह तत्व है, जो उस छन्द से छन्दित होता है। वही वय है, जो वयोनाध रूपी आयतन में गृहीत होता है। ऋक् यजु साम के इस अविनाभूत सम्बन्ध को ही त्रयी विद्या कहते हैं। यही केन्द्र, व्यास और परिधि का संस्थान है, जिसमें, केन्द्र यजु, व्यास ऋक् और परिधि साम कहलाती है। इसी वैदिक तत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऊपर की प्रश्नोत्तरी कही गई है।

करता, वह सांस लेता हुआ भी मृत तुल्य है।

प्रश्न—कौन भूमि से भारी है? कौन आकाश से ऊंचा है? कौन वायु से शीघ्रतर है? कौन मनुष्य से भी बली है?

उत्तर—माता भूमि से भारी है। पिता आकाश से ऊंचा है। मन वायु से शीघ्रतर है। चिन्ता मनुष्य से भी बली है।

प्रश्न—कौन सोता हुआ पलक नहीं मारता? कौन जन्म लेकर हिलता-डुलता नहीं? किसके हृदय नहीं है? कौन वेग से बढ़ जाता है?

उत्तर—मछली सोते समय पलक नहीं मारती। अण्डा उत्पन्न होकर हिलता-डुलता नहीं। पत्थर में हृदय नहीं होता। नदी वेग से बढ़ती है।[1]

प्रश्न—प्रवास में मनुष्य का मित्र कौन है? घर में रहते हुए उसका मित्र कौन है? रोगी का मित्र कौन है? मरनेवाले का मित्र कौन है?

उत्तर—सार्थ प्रवास करनेवाले का मित्र है। भार्या घर में रहनेवाले की मित्र है। रोगी का मित्र औषध है। दान मरनेवाले का मित्र है।[2]

प्रश्न—कौन अकेला घूमता है? कौन पुनः-पुनः जन्म लेता है? जाड़े-पाले का इलाज क्या है? बड़ा थैला कौन-सा है?

उत्तर—सूर्य अकेला घूमता है। चन्द्रमा पुनः-पुनः जन्म लेता है। अग्नि

---

१. "अश्मनो हृदयं नास्ति" इसमें वैदिक अक्षर विद्या की ओर संकेत है। हृदय या केन्द्र विद्या का नाम अक्षर विद्या है। जो वस्तु जीवित है, उसमें हृदय है, अर्थात् उसके केन्द्र में अक्षर या प्राण तत्व या गति तत्व हलचल करता है। गति, आगति और स्थिति इन तीनों की समष्टि का नाम अक्षर है। गति को रुद्र या इन्द्र, आगति को विष्णु, और स्थिति तत्व को ब्रह्मा कहा जाता है। पत्थर, लोष्ठ आदि जो भूत पिण्ड हैं, उनके भीतर हृदय या केन्द्र न होने का अर्थ यही है कि उनमें अक्षरात्मक प्राण व्यापार या जीवन की क्रिया नहीं है।

२. सार्थ का तात्पर्य सार्थवाह मण्डली से है। वे प्राचीनकाल में एक साथ व्यापार के लिए घर से बाहर निकलते थे और अपने शकटों पर यात्रा करते हुए कभी-कभी काशी, पाटलिपुत्र आदि से सहस्रों मील तक्षशिला या शूर्पारक तक चले जाते थे। उस मण्डली में सुख और दुःख के समय सार्थ के सदस्य एक-दूसरे के सच्चे मित्र समझे जाते थे। तभी "सार्थः प्रवसतो मित्रम्" इस उक्ति का जन्म हुआ।

जाड़े-पाले का इलाज है। भूमि सबसे बड़ा थैला है।[1]

प्रश्न—एक शब्द में धर्म का निचोड़ क्या है? एक शब्द में यश क्या है। एक शब्द में स्वर्ग प्राप्त करनेवाली वस्तु क्या है? एक शब्द में सुख क्या है?

उत्तर—कुशलता धर्म का निचोड़ है। दान यश का मूल है। सत्य स्वर्ग का मूल है। शील सुख का मूल है।[2]

प्रश्न—मनुष्य की आत्मा क्या है? दैवकृत मित्र कौन है? मनुष्य के उपजीवन का साधन क्या है? और मानव का सार-तत्त्व क्या है?

उत्तर—पुत्र मनुष्य की आत्मा है। पत्नी दैवकृत मित्र है। मेघ मनुष्य की जीविका है और दान मानव जीवन का सार है।

प्रश्न—सफलता के साधनों में उत्तम क्या है? धनों में उत्तम क्या है? लाभों में उत्तम क्या है? सुखों में उत्तम क्या है?

उत्तर—कर्म का कौशल सफलता के साधनों में उत्तम है। धनों में श्रुत या विद्या उत्तम है। लाभों में आरोग्य श्रेष्ठ है। सुखों में सन्तोष उत्तम है?

प्रश्न—लोक में सबसे बड़ा धर्म कौन है? सदा फल देनेवाला धर्म-मार्ग कौन है? किसको रोककर शोक नहीं करना पड़ता? किनकी संधि कभी पुरानी नहीं होती?

उत्तर—दया लोक में परम धर्म है। यही धर्म-मार्ग का अक्षय फल है। मन को रोककर पीछे पछताना नहीं पड़ता। सज्जनों की मैत्री जीर्ण नहीं होती।[3]

---

१. ये प्रश्न और उत्तर यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय में दो-दो बार आये हैं। वहां इनका स्वरूप यह है:—कः स्विदेकाकी चरति क ऽउ स्विज्जायते पुनः। किऽस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनम् महत् ॥ यजु० २३। ६, ४३ ॥
सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमि रावपनं महत्
(२३। १०, ४६।)

२. दाक्ष्य या कुशलता से तात्पर्य कर्म करने के कौशल से है। उसीसे धर्म के सब मार्ग खुलते हैं।

३. 'त्रयी धर्मः सदा फलः' यह कथन विशेष अभिप्राय रखता है। उस समय लोक

प्रश्न—किसे त्यागकर मनुष्य प्रिय बनता है? किसे न त्यागने से शोक करना पड़ता है ? किसे त्यागकर अर्थ प्राप्ति होती है ? किसे त्याग कर मनुष्य सुखी होता है ?

उत्तर—मान को त्यागकर प्रिय, क्रोध को त्यागकर पश्चातापरहित, काम को त्यागकर अर्थवान और लोभ को त्यागकर सुख होता है।

प्रश्न—किससे मनुष्य मृत समझा जाता है ? किससे राष्ट्र मृत होता है ? श्राद्ध कैसे निष्प्राण हो जाता है और यज्ञ कैसे मृत हो जाता है ?

उत्तर—दरिद्र पुरुष मृत होता है। अराजक राष्ट्र मृत होता है। बिना श्रोत्रिय के श्राद्ध मृत होता है और दक्षिणा के बिना यज्ञ मृत होता है।

प्रश्न—दिशा कौन-सी है ? जल किसे कहते हैं ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? श्राद्ध का ठीक काल बताओ और, हे पार्थ ! जल पीओ और ले जाओ।

उत्तर—सन्त ही वह दिशा है, जहां सबके लिए गति है। आकाश ही जल का सच्चा स्रोत है, जहां से वह नदी-कूपादि को प्राप्त होता है। गौ ही अन्न का सच्चा निधान है। किसी से कुछ मांगना विष है। जब अच्छा ब्राह्मण मिले, वही श्राद्ध का समय है। कहो यक्ष, तुम्हें ये उत्तर कैसे लगे?

यक्ष ने कहा, "तुमने सब प्रश्नों की ठीक-ठीक व्याख्या की। अब पुरुष की व्याख्या करो और सब सम्पत्तियों का स्वामी कौन होता है, बताओ।"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "अच्छे कर्म का शब्द पृथिवी को छूकर आकाश को छू लेता है। जितना उस पुण्य कर्म की ध्वनि का विस्तार होता है, उतना ही पुरुष का विस्तार समझो। जिसे प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य दोनों एक से हैं, ऐसा समदर्शी व्यक्ति सब धनों का स्वामी होता है।"

प्रसन्न होकर यक्ष ने कहा, "अब तुम किसी एक भाई का जीवन मांग लो।"

युधिष्ठिर ने औरों को छोड़कर नकुल का जीवन मांगा। यक्ष ने

में जो धर्म-मार्ग प्रचलित थे उनके दो मुख्य भाग थे—एक वेद मार्ग और दूसरा श्रमण धर्म। वेद-मार्ग गृहस्थमूलक होने से सदा फूलने-फलने वाला समझा जाता था। श्रमण धर्म वंश-वृद्धि का अन्त कर देने के कारण हेय था।

विस्मित होकर पूछा, "भीम और अर्जुन को छोड़कर नकुल का जीवन क्यों चाहते हो ?"

युधिष्ठिर ने कहा, "कुन्ती का एक पुत्र मैं जीवित हूं। माद्री का भी एक पुत्र जीवित हो जाय, जिससे मेरा दोनों माताओं को समान समझना चरितार्थ हो।"

इस उत्तर से प्रसन्न होकर यक्ष ने सब भाइयों को जीवित कर दिया। अन्त में युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि आप कौन हैं, आप यक्ष तो नहीं जान पड़ते, उसने कहा, "मैं धर्म हूं। यश, सत्य, यम, शौच, ऋजुता, ह्री, अचापल्य, दान, तप और ब्रह्मचर्य, ये दस मेरे शरीर हैं। अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच और अमत्सर ये मुझे प्राप्त करने के द्वार हैं। तुम्हें परखने के लिए मैं यहां आया था और मैं तुमसे प्रसन्न हुआ।"

इस प्रकार वनवास में रहते हुए पाण्डवों के बारह वर्ष पूरे हुए। जिस प्रकार उन्होंने तेरहवां वर्ष अज्ञातवास में व्यतीत किया, उसकी कथा अगले विराटपर्व में चलेगी।

(आरण्यक पर्व समाप्त)

४१ : : पाण्डवों का अज्ञातवास

वनवास के बारह वर्ष बीतने पर तेरहवां वर्ष पाण्डवोंने राजा विराटके यहां अज्ञातवास में बिताया, जिसकी कथा चौथे—विराट पर्व में दी गई है। इस पर्व के सरसठ अध्यायों में पाण्डवों का विराटनगरमें आना, वेश बदलकर राजा की सभा में प्रवेश करना, कीचक-वध, कौरवों द्वारा विराट की गाएं पकड़ने के लिए आने पर अर्जुनका उनके साथ युद्ध, कौरवों की पराजय और अन्त में पाण्डवों के प्रकट होने पर अभिमन्यु का उत्तरा के साथ विवाह, ये ही कथा के मुख्य सूत्र हैं। उपाख्यानों के लिए यहां कोई अवसर न था।

आरम्भ में महामना युधिष्ठिर ने अर्जुन से पूछा कि तेरहवां वर्ष कहां बिताना चाहिए। अर्जुन ने कहा, "कुरु जनपद के चारों ओर जो दूर-दूर तक फैले हुए रमणीय और धनधान्यपूर्ण जनपद हैं, जैसे पांचाल, चेदि,

मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर आदि, उनमें से जो आपको रुचे, वहीं एक वर्ष निवास किया जाय।" युधिष्ठिर ने इनमें से मत्स्य के जनपद और उसकी राजधानी विराटनगर को ही चुना। यह विराट उस समय मरुभूमि के उत्तरी छोर पर था, जो आजकल का बैराट है। यह अवश्य ही प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण स्थान था और शूरसेन जनपद से राजस्थान में घुसने के लिए यातायात पथ पर महत्वपूर्ण नाका माना जाता था। कालान्तर में मौर्य सम्राट अशोक ने यहीं पर अपना एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया।

अब पाण्डव सलाह करने लगे कि अज्ञातवास में अपने-आपको किस-किस रूप में छिपावें। युधिष्ठिर ने कहा, "मैं कंक नामधारी ब्राह्मण बनकर राजा की सभा में द्यूत आदि खेल खिलानेवाला (सभा-स्तार) बनूंगा।" भीम ने कहा, "मैं बल्लव नाम का रसोइया बनूंगा और रसोई-घर में रहकर राजा के लिए बढ़िया भोजन बनाऊंगा। समाज नामक उत्सवों में जो मल्ल आयंगे, उनके साथ कुश्ती भी करके उन्हें पछाड़ूंगा। महाबली वृषभ और हाथियों को वश में लाने का काम भी पड़ा तो करूंगा।" तब युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर साभिप्राय दृष्टि से देखा। अर्जुन ने कहा, "मैं यह प्रतिज्ञा करूंगा कि मैं नपुंसक हूं। कानों में सुनहले कुण्डल पहनकर और सिर पर वेणी गूंथकर बृहन्नड़ा नाम से अन्तःपुर के जनों को गीत-नृत्य-वादित्र की शिक्षा देता हुआ विराट की रानियों का मन बहलाऊंगा। मनुष्यों के मन-बहलाव के लिए (प्रजानां समुदाचारं) इधर-उधर की बातें करके किसी प्रकार अपने-आपको छिपाने का प्रयत्न करूंगा।" पूछने पर नकुल ने कहा, "मैं ग्रन्थिक नाम रखकर विराट के यहां अश्वाध्यक्ष का काम करूंगा। अश्व-शिक्षा और अश्व-चिकित्सा सर्वदा मेरे प्रिय विषय रहे हैं।" सहदेव ने कहा, "मैं तन्तिपाल नाम रख कर विराट का गोसंख्यक बनूंगा। गायों के लक्षण, चरित्र और कल्याण के नाम मुझे सुविदित हैं। मुझे ऐसे पूजित लक्षण वृषभों की पहचान है, जिनका मूत्र सूंघ लेने से वंध्या गाएं भी बच्चा जनने लगती हैं।" तब युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर देखते हुए कहा, "यह हम सबके लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय, माता की तरह परिपालनीय और ज्येष्ठस्वसा की भांति पूज्य है। यह राजपुत्री और किसी कर्म से परिचित

नहीं। हां, माल्यगन्ध, अलंकार, वस्त्रों का इसे परिचय है।" द्रौपदी ने कहा, "लोक की यह परिपाटी है कि सैरन्ध्री स्त्रियां रखैल नहीं होतीं, वे केवल दासी का काम करती हैं। जो अन्य स्त्रियां हैं, वे सैरन्ध्री से भिन्न होती हैं। अतएव मैं सैरन्ध्री बनकर केशों का संस्कार करने का काम करूंगी। राजभार्या सुदेष्णा के पास मैं रहूंगी और वहां पहुंचने पर वह मुझे रख लेगी।"

अपने आश्रित जनों की व्यवस्था पर विचार करते हुए युधिष्ठिर ने कहा, "पुरोहित धौम्य रसोइये आदि भृत्यों को लेकर द्रुपद के यहां जाकर रहें और अग्निहोत्र प्रज्वलित रखें। द्रौपदी की परिचारिकाएं भी वहीं जाकर रहें। कोई यह न कहे कि पांडव हमें विदा करके द्वैतवन से चले गए। इन्द्रसेन आदि हमारे पुत्र द्वारावती चले जायं।"

धौम्य का उपदेश

आश्रितों से विदा लेने का यह अवसर पाण्डवों के जीवन में अवश्य ही अत्यन्त मार्मिक रहा होगा। उसी समय धौम्य का भी मन भर आया और उन्होंने कहा, "जो सुहृद होते हैं उन्हें यदि कुछ हित की बात विदित हो तो अनुरागवश अवश्य कहनी चाहिए, इसलिए मैं भी आपसे कुछ कहूंगा। आप संकेत से अभिप्राय समझ लें। इसके बाद धौम्य ने सैंतीस श्लोकों में राज्याश्रय में रहने की मनोवृत्ति और आचार का विवेचन किया। यह प्रकरण तत्कालीन किसी अर्थशास्त्र या राजशास्त्र का अंश ज्ञात होता है। राजा को प्रसन्न रखना सांप को खिलाने-जैसा समझा जाता था। धौम्य का यह उपदेश कुछ उसी प्रकार का है जैसा बाण ने 'हर्षचरित' में राजदरबार में रहनेवालों के विषय में लिखा है। धौम्य ने कहा, "हे राजपुत्रो, राजा के यहां निवास करने की विधि (राजवसति) मैं कहता हूं, जिससे राजभृत्य राजकुल में पहुंच कर फिर भ्रष्ट नहीं होते। समझदार व्यक्ति के लिए तो राजकुल में रहना कठिन ही है, और फिर सम्मान-योग्य आप लोगों के लिए वहां अज्ञात और अमानित अवस्था में वर्ष भर का निवास कष्टकर ही होगा। वैसे तो जिसका भाग्य-द्वार खुलता है, वही राजद्वार तक पहुंचता है, पर फिर भी राजा का विश्वास न करना चाहिए। वहां उसी आसन या पद की इच्छा

करे, जिस पर दूसरे की आंख न हो। मैं राजा का चहेता हूं, यह सोचकर कभी राजा के निजी यान, पर्यंक, पीठ, हाथी या रथ पर न बैठे। जहां बैठने से दुष्टों के मन में अपने लिए खलबली मच जाय, जहां तक हो वहां न बैठना चाहिए। बिना पूछे राजा से उपदेश की बात न कहे।,समय पर राजा का सम्मान करके स्वयं चुप रहे। जिसका वचन मिथ्या हो जाता है, ऐसे व्यक्ति से राजा द्वेष करने लगता है एवं जिसका मंत्र सच्चा नहीं बैठता, वह मंत्री राजा का सम्मान खो देता है। प्राज्ञ को उचित है कि राजदाराओं में और अन्तःपुरचारी जनों के प्रति मैत्री का भाव न बढ़ावे। छोटे-से-छोटे काम भी राजा की जानकारी में ही करे। तब उसे क्षति न उठानी पड़ेगी। अग्नि और देवता के समान यत्न से राजसेवा करनी होती है। सेवा में तनिक भी अनृत भाव आ जाने से फिर राजा बिना हिंसा किए नहीं मानता। स्वामी जैसी आज्ञा दे, वैसा ही करना चाहिए। प्रमाद, अवहेलना और कोप को दूर रखे। समस्त मंत्रणाओं के समय (समर्थनासु सर्वासु) हितकारी और प्रिय मत ही देना चाहिए। प्रिय की अपेक्षा भी हितकारी कहना अच्छा है। सब मामलों में और बातचीत में राजा के अनुकूल ही रहे। जो अप्रिय और अहित हो, वह न कहे। पण्डित कभी यह न सोच ले कि मैं राजा का प्रियपात्र हूं। अप्रमाद और संयम से हित और प्रिय का विधान करे। कभी राजा के अनिष्ट की सेवा न करे और न उसके अहितों के साथ मेल करे। अपने पद से विचलित न हो। बुद्धिमान को राजा के दाहिने या बाएं पार्श्व में बैठना चाहिए। शस्त्रधारी रक्षकों का स्थान राजा के पृष्ठ-भाग में होता है। राजा के सामने बैठना अविहित है। राजा की उपस्थिति में किसी बड़े-बूढ़े के साथ भी कानाफूसी करके कुछ न कहे, क्योंकि राजा तो क्या, अशक्त व्यक्ति को भी कानाफूसी बहुत अप्रिय लगती है। राजा की गुह्य बात और मनुष्यों से प्रकट न करनी चाहिए। राजा जिससे असूया करे, उससे भाषण न करना चाहिए। अपने को शूर या बुद्धिमान मानकर गर्वित नहीं होना चाहिए। राजा का प्रिय आचरण करने से ही व्यक्ति भोगवान बनता है। राजा से ऐश्वर्य पाकर उसके प्रिय कामों में अप्रमत्त होना उचित है। जिसका कोप महा अनिष्टकर और प्रसाद महाफल वाला होता है, कौन बुद्धिमान मन से भी उसका अनर्थ करना चाहेगा? राजा के सामने होठ बिचकाना या बात कहकर उड़ाना ठीक नहीं।

हास्य प्रसंग आने पर जोर से नहीं हँसना चाहिए और न एकदम बिल्कुल गुमसुम ही हो जाना चाहिए। मृदुतापूर्वक मन्दस्मित के साथ आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए। कुछ मिलने पर जो प्रसन्न न हो, अपमान से व्यथित न हो और जो सदा चौकन्ना रहे उसे ही राजसेवा में रहना उचित है। जो अमात्य राजा या राजपुत्र के साथ जुड़ा रहता है वही चिरकाल तक लक्ष्मी का भाजन होता है। जो पहले के राजा का कृपापात्र होकर कारणवश रोषभाजन बन जाता है, किन्तु फिर भी क्रोध नहीं करता, वह पुनः प्रसाद प्राप्त कर लेता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष में उसे राजा का गुणवादी ही होना चाहिए, जो राज्य में रहकर उसका उपजीवी हो। जो अमात्य अपनी प्रार्थना के पीछे बल का प्रयोग करता है, उसके प्राण संशय में पड़ जाते हैं। सदा अपना श्रेय देखना चाहिए, पर राजा के साथ बाद में नहीं आना चाहिए और न उसके शस्त्राभ्यास आदि के समय उससे आगे निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। कार्य के लिए दूसरे को आज्ञा दिए जाने पर जो अपने को सामने लाकर 'मेरे लिए क्या आज्ञा है ?' यह पूछे, वह राजा के पास रहे। राजसेवक को उष्ण या शीत, रात या दिन में कभी भी आदेश मिलने पर विकल्प न करना चाहिए। कर्म में नियुक्त होने पर सदा अर्थशुचि रहना चाहिए। राजा के साथ बार-बार मंत्रणा करते रहना भी ठीक नहीं। इस प्रकार एक वर्ष तक कहीं निर्वाह करके फिर आप लोग अपने राज्य को लौट आयंगे।"

धौम्य की इस सीख का युधिष्ठिर ने बहुत उपकार माना और कहा, "माता कुन्ती या महामति विदुर को छोड़कर और कौन हमें ऐसा सिखावन देता ?" इसके बाद पाण्डव द्वैतवन से चलकर यमुना के दाहिने किनारे से आगे बढ़ते हुए दशार्ण को उत्तर और पांचाल को दक्षिण छोड़कर पैदल ही विराट की राजधानी में पहुंचे। वहां एक सघन शमी वृक्ष के ऊपर अर्जुन ने अपने शस्त्रों को छिपा दिया और सबने अज्ञातवास के लिए नगर में प्रवेश किया। विराट की सभा में पहुंचकर पूछे जाने पर युधिष्ठिर ने कहा, "मेरा नाम कंक है। वैयाघ्रपद्य गोत्र है। मैं अक्ष-विद्या में कुशल हूं। पहले युधिष्ठिर का मित्र था। अब आपके यहां काम चाहता हूं।" विराट ने उन्हें अपना सखा बनाकर पास में रख लिया। हाथ में डोई लिए हुए रसोइये के

वेश में पहुंचकर भीम ने कहा, "मैं पाक विद्या में निपुण हूं और मुझे कुश्ती का भी शौक रहा है। हाथी और शेरों से भी लड़ा हूं।" विराट ने उन्हें अपना महानसाध्यक्ष नियुक्त किया। घुंघराले केशों का जूड़ा बांधे हुए द्रौपदी की सैरन्ध्री के मलिन वेश में दूर से देखकर विराट की रानी सुदेष्णा ने बुलाकर उसका परिचय पूछा। द्रौपदी ने कहा, "आप मुझे देवी, गन्धर्वी या यक्षी न समझिए। मैं सैरन्ध्री दासी हूं और केश-विन्यास एवं विलेपन और माल्यग्रथन जानती हूं। मैं कृष्ण की पटरानी सत्यभामा एवं पाण्डवों की भार्या द्रौपदी की सेवा करती थी। जहां काम मिल जाता है, वहीं रह जाती हूं। मेरा नाम मालिन है।" रानी सुदेष्णा ने द्रौपदी को रखना तो चाहा, किंतु वह उसका रूप-लावण्य देखकर शंकित हो गई कि उसके कारण महल में कोई बखेड़ा खड़ा न हो जाय। द्रौपदी ने कहा, "विराट या दूसरा कोई मुझे नहीं पा सकता। पांच गन्धर्व मेरे पति हैं, जो मेरी रक्षा करते हैं। मुझे कोई उच्छिष्ट न दे और पैर धोने को न कहे तो मेरे पति प्रसन्न रहते हैं। कोई मुझपर कुदृष्टि करेगा तो उसी रात को मेरे पति उसे ठिकाने लगा देंगे।" सुदेष्णा ने उसकी बातें मानकर अपने पास रख लिया। तब सहदेव ने गोपों के वेश और भाषा का आश्रय लेते हुए सभा में राजा से अपना परिचय दिया, "राजा युधिष्ठिर की गायों का मैं गोसंख्य था। तन्तिपाल मेरा नाम है। मैं गोवंश की वृद्धि और चिकित्सा-कर्म जानता हूं। उत्तम लक्षण वाले वृषभों की मुझे पहचान है।" विराट ने उसे अपने पशु और पशुपालन सौंपकर रख लिया। तब शंख की चूड़ियां आदि स्त्रियों के अलंकार तथा कानों में ऊंचे खड़े कुण्डल पहने हुए अर्जुन ने सभा में पहुंचकर कहा, "मैं नृत्य और गीत में कुशल हूं। बृहन्नड़ा मेरा नाम है। मैं देवी उत्तरा का नर्तक होकर रहूंगा।" राजा ने प्रसन्न होकर उसे अपने कुमारी-अन्तःपुर में भेज दिया। वहां अर्जुन सबको नृत्य गीत सिखाता था। उत्तरा की सखी और परिचारिकाएं उससे बहुत स्नेह करने लगीं। अन्त में नकुल ने कहा, "मैं अश्वों का स्वभाव, सिखाना, बिगड़ैल घोड़ों का सुधारना और उनकी चिकित्सा का उपाय जानता हूं। मेरा नाम ग्रन्थिक है।" विराट ने अपने अश्वयोजक और सारथियों को उसके हवाले करते हुए उसे रख लिया। इस प्रकार पाण्डव अज्ञातचर्या में रहने लगे। चौथे महीने में

विराट नगर में ब्रह्ममहोत्सव हुआ। ब्रह्म यक्ष की संज्ञा थी और यह यक्ष-पूजा का मेला था, जो प्राचीन काल से मत्स्य जनपद की राजधानी में जुड़ता आ रहा था। इसमें बहुत ठाठबाट रहता और सब लोग बड़े चाव से यह उत्सव मनाते थे। चारों ओर से सहस्रों मल्ल मेले में इकट्ठे हुए। उनमें से एक महामल्ल ने रंगभूमि में पहुंचकर सबको ललकारा। जब उससे भिड़ने का किसीने साहस न किया तब विराट ने अपने सूद को उससे भिड़ा दिया। भीमसेन की इच्छा न थी, पर स्पष्ट निषेध न कर सका और उसने अखाड़े में उतरकर फेटा कसा और उस मल्ल को ललकारा। वे दोनों साठ वर्ष के पट्ठे हाथियों के समान एक-दूसरे से लपट गए। दांव पाकर भीम ने उसे उठाकर घुमाया और दे मारा। राजा ने वहीं धन-मान से उसका सत्कार किया। वह कभी-कभी व्याघ्र, सिंह और हाथियों से भी उसकी भिड़न्त करवाता था। विशेषत: अन्त:पुर की स्त्रियों के मन-बहलाव के लिए सिंहों के साथ महाबली भीम की कुश्ती कराई जाती।

यों रहते हुए पाण्डवों को दस मास बीत गए। सुदेष्णा की सेवा करती हुई द्रौपदी किसी प्रकार दुःख से समय काट रही थी कि विराट का सेनापति कीचक उसके रूप पर मोहित हो गया। उसने सुदेष्णा से कहा, "सुगन्धित मदिरा के समान उन्मादिनी यह देव रूपिणी कौन है ? इसने मेरे चित्त को मथ डाला है। आह ! इसका रूप कितना टटका है। यह तो मेरे गृह की शोभा बढ़ाने के योग्य है।" सुदेष्णा से राय मिलाकर कीचक ने द्रौपदी के पास जाकर अपना वह प्रस्ताव कहा। द्रौपदी ने उत्तर दिया, "हे सूतपुत्र! मैं तो केशकारिणी सैरन्ध्री हूं। तुम्हारे लिए अप्रार्थनीय हूं। परदारा में अपना मन मत लगाओ। मेरे वीर गन्धर्व पति मेरी रक्षा करते हैं। कहीं तुम्हारा अनिष्ट न हो।" द्रौपदी के उत्तर से निराश होकर कीचक ने बहन से कहा, "जैसे वह मुझे मिले, वैसा उपाय करो। उसके लिए कहीं मेरे प्राण न चले जायं !" उसे बेहाल देखकर रानी को दया आगई और उसने कीचक को सलाह दी, "तुम पूर्णिमा का उत्सव करके सुरा और अन्न तैयार कराओ। मैं उसे सुराहारी के रूप में तुम्हारे पास भेज दूंगी। तब एकान्त में उसे अनुकूल करना।" कीचक ने बहन की सलाह से वैसा ही किया। रानी ने द्रौपदी को कीचक के निवास में जाने की आज्ञा दी। द्रौपदी ने स्पष्ट निषेध

करते हुए कहा, "हे रानी, तुम उसकी निर्लज्जता जानती हो। मैं वहां न जाऊंगी। मैं पहले ही तुमसे शर्त कर चुकी हूं कि यहां रहते हुए किसी प्रकार कामभाव के वशीभूत न होऊंगी। तुम्हारे यहां सहस्रों दासियां हैं, और किसीको भेज दो।" किन्तु सुदेष्णा ने विश्वास दिलाया कि वैसा कुछ न होगा। तब द्रौपदी ने सूर्योदय के समय वहां जाना स्वीकार किया।

उसे देखते ही कीचक अपने को न रोक सका। द्रौपदी ने कहा, "मुझे रानी ने अपनी सुराहारी के रूप में तुम्हारे यहां से परिश्रुत नामक मधु लाने को भेजा है, क्योंकि उसे प्यास लगी है।" पर कीचक कहां माननेवाला था? जैसे ही उसने द्रौपदी का दाहिना हाथ पकड़ा उसने उसे झिड़ककर पृथिवी पर गिरा दिया और रक्षा के लिए दौड़ती हुई राजा के सामने पहुंची। दुष्ट कीचक ने विराट के देखते हुए उसे एक लात मारी। भीमसेन और युधिष्ठिर ने यह हाल देखा। भीम क्रोध से दांत पीसने लगा, पर युधिष्ठिर ने उसका अंगूठा दबाकर निषेध किया। तब द्रौपदी ने नेत्रों से चिनगारी छोड़ते हुए कहा, "हे सूतपुत्र, तुमने तेजस्वी पतियों की मानिनी भार्या का अपमान किया है; वे तुम्हारे इस दस्यु कर्म को सहन न करेंगे। तुम सद्धर्म में स्थित नहीं रहे और राजा ने भी न्याय का पालन नहीं किया। सब सभासद कीचक की इस अनीति को देखें।" राजा विराट ने द्रौपदी के वचनों को अपने ऊपर कटाक्ष समझकर कहा, "परोक्ष में तुम दोनों का क्या झगड़ा हुआ, इसका मुझे पता नहीं। बात के तत्त्व को न जानकर मैं क्या न्याय करूं?" सभासदों ने कीचक को बुरा-भला कहकर बात को टालना चाहा। तब युधिष्ठिर ने क्षुब्ध होकर कहा, "हे सैरन्ध्री! सुदेष्णा के भवन में जाओ। वीरों की पत्नियां अपने पतियों के कारण ऐसे ही क्लेश पाया करती हैं। यह क्रोध का समय नहीं है। तुम मत्स्यों की राजसभा में विघ्न मत करो। गन्धर्व तुम्हारा भला करेंगे।" किसी प्रकार द्रौपदी वहां से चली गई। सुदेष्णा ने पूछा, "हे सुन्दरी, किसने तुम्हें मारा है और तुम क्यों रोती हो?" द्रौपदी ने सब हाल कहा। सुदेष्णा ने उसे दिलासा देते हुए कहा, "यदि तुम चाहो तो मैं उस कीचक का वध करा सकती हूं, जिसने कामभाव से तुम्हारी ओर ताका है।" ज्ञात होता है कि द्रौपदी सुदेष्णा के चरित्र को समझ गई थी, जिसने कीचक के षड्यन्त्र में अपने आपको भागीदार बन जाने

दिया था। अतएव उसने अपने को संभालते हुए रानी से कहा, "वह जिनका अपराधी है वे ही उसे मारें। मैं समझती हूं, आज ही उसे परलोक जाना पड़ेगा।"

तब द्रौपदी अपने आवास में आकर बहुत दुःखी हुई। अपने मन में निश्चय करके वह रात में ही भीमसेन के कक्ष में पहुंची और उसे जगाकर सब हाल कहा, "हे भीम! युधिष्ठिर जिसका पति हो, क्या वह कभी शोक-रहित हो सकती है? सबकुछ जानते हुए भी मुझसे क्या पूछते हो?" कौरव सभा में दुःशासन ने, वनवास में दुरात्मा जयद्रथ ने और अब कीचक ने मेरा अपमान किया है। मेरे जीने का क्या फल है? मेरा हृदय पके फल के समान विदीर्ण क्यों नहीं हो जाता? कहां वे पूर्वकाल के राजा युधिष्ठिर और कहां विराट की सभा में पासा फेंकनेवाले ये कंक? अपना दुखड़ा कहां तक कहूं? जब तुम रनिवास में व्याघ्र, महिष और सिंहों से कुश्ती करते हो और मैं तुम्हारे कल्याण की चिन्ता से दुःखी हो जाती हूं तो रानी सुदेष्णा समझती है कि मेरा तुमसे प्रेम है और मुझे ताना मारती है। उससे मुझे मर्मान्तक कष्ट होता है। जिसने खाण्डव वन में अग्नि को तृप्त किया था, आज वह पार्थ यहां अन्तःपुर में कुएं में पड़ी हुई अग्नि के समान व्यर्थ है। जिसके जन्म से कुन्ती ने अपने को शोकविहीन माना था, आज उसी तुम्हारे भ्राता को कन्याओं से घिरा हुआ देखकर मैं शोकाकुल हूं। आर्या कुन्ती उसकी यह दशा नहीं जानती होगी, नहीं तो न जाने क्या हो जाता! मैं उस काल की प्रतीक्षा में जी रही हूं जब अपने पतियों का उदय फिर से देखूंगी। पाण्डवों की महिषी, राजा द्रुपद की पुत्री इस अवस्था में भी क्यों जीवित है? दैव ही उसका कारण है। चन्दन पीसने से घट्टे पड़े हुए ये मेरे हाथ देखो। जो मैं कुन्ती से या तुमसे भी नहीं डरती थी, वही आज विराट के सामने यह सोचकर किंकरी के समान कांपती हूं, 'सम्राट मुझसे पूछेंगे कि गन्धानुलेपन अभी तैयार हुआ या नहीं, क्योंकि और किसीका घिसा हुआ चन्दन मत्स्यराज को अच्छा नहीं लगता।'" उसके यह वचन सुनकर भीमसेन उसके सूजे हुए हाथों को मुख के पास लाकर रोने लगे और बोले, "मेरे बाहुबल को धिक्कार है! मैं तो आज विराट की सभा में ही मार-काट मचा देता, पर धर्मराज ने मुझे आंख के इशारे से रोक

दिया था। हे द्रौपदी ! धर्म को न छोड़ो। क्रोध का त्याग करो। तुम्हारे इस उपालम्भ को राजा युधिष्ठिर सुनते तो प्राण छोड़ देते। अर्जुन भी जीते न रहते। उनके बिना क्या मैं भी जी सकता ? शर्याति की पुत्री सुकन्या नारायणी चन्द्रसेना, वैदेही जानकी और लोपामुद्रा ने अपने पतियों के लिए क्या-क्या नहीं सहा ? हे कल्याणी, अब अधिक नहीं सहना होगा। डेढ़ मास और है, पुनः तेरह वर्ष पूरे होने पर तुम रानी बनोगी।" भीम के सान्त्वनापूर्ण वचन सुनकर द्रौपदी ने कहा, "हे भीम, मैंने राजा युधिष्ठिर को उपालम्भ नहीं दिया, अपने दुःख के कारण रोकर कुछ कहा। अब जो उचित हो, तुम करो। दुष्टात्मा कीचक अपने भाव को रानी सुदेष्णा से प्रकट करके मुझे तंग करता है। मैंने उसे अपने गन्धर्व पतियों का भय दिखलाया, पर वह नहीं मानता। यदि इसी प्रकार वह मुझे पीड़ित करता रहा तो मैं प्राण छोड़ दूंगी। आप लोग अपने समय का पालन करके राजा होंगे, पर आपकी भार्या न रहेगी। यदि कल सूर्योदय तक कीचक जीवित रह गया तो मैं विष घोलकर पी लूंगी, पर कीचक के हाथ नहीं पड़ूंगी।" यों कहकर द्रौपदी फिर रुदन करने लगी। तब भीम ने प्रतिज्ञा की, "हे भद्रे, जैसा कहती हो, मैं करूंगा। आज ही बान्धवों के साथ कीचक का मैं वध करूंगा।"

अगले दिन प्रातःकाल होते ही कीचक राजकुल में द्रौपदी के पास आकर कहने लगा, "राजा के देखते हुए मैंने लात से तुम्हें मारा, पर तुम्हें रक्षा प्राप्त नहीं हुई। मत्स्यराज तो नाम के राजा हैं, सच्चा राजा तो मत्स्यों का सेनापति मैं ही हूं। मैं तुम्हारा दास हूं, मेरे साथ सुख पाओ। दिन भर के लिए सौ निष्क तुम्हें देता हूं।" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "अच्छा कीचक, आज एक शर्त मुझसे करो। तुम्हारा कोई सखा या भाई मुझसे तुम्हारा मिलना न जान पावे, क्योंकि गन्धर्वों को सूचना मिल गई तो मुझे डर है। ऐसी प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हारे वश में हूं।" यह सुनते ही कीचक प्रसन्नता से उछल पड़ा और दोनों ने यह तय किया कि राजा के नर्तनागार में रात्रि के समय मिलेंगे। वहां अंधेरे में गन्धर्वों को भी क्या पता चलेगा। तब कीचक ने आधा दिन एक महीने के समान किसी प्रकार बिताया। उधर द्रौपदी ने रसोईघर में भीम को सूचना दी कि आज रात में शून्य नर्तनागार में पहुंच

कर मददर्पित कीचक का बध करो और मुझ दुःखिनी के आंसू पोंछो। भीमसेन ने उसे आश्वासन दिया।

रात्रि के समय भीमसेन पहले ही पहुंचकर वहां छिप गया। कीचक भी सजकर नर्तनागार के संकेतस्थल पर पहुंचा। उसने एकान्त में बैठे हुए भीम को देखकर उसे सैरन्ध्री समझकर छेड़ते हुए कहा, "देखो, मैं कैसा सुन्दर और दर्शनीय हूं।" "सचमुच तुम ऐसे ही हो", यह कहते हुए भीम ने केश पकड़कर उसे धरती में दे मारा। तब दोनों एक-दूसरे से गुथ गए। वह भवन उनके संघर्ष और धक्कों से कांप उठा। तब शार्दूल के समान भीम ने उसे मृग के समान पछाड़कर उसके हाथ-पैर और ग्रीवा तोड़कर प्राणान्त कर डाला और तत्काल अपने स्थान पर लौट आया। तभी द्रौपदी ने सभापालों को सूचित किया, "देखो, मेरे गन्धर्व पतियों ने कीचक का वध कर डाला है।" सूचना पाकर कीचक के भाई-बन्धु वहां दौड़े आये और उसके शरीर का संस्कार करने के लिए ले चले। तभी खम्भे के पीछे खड़ी हुई द्रौपदी को देखकर उपकीचक ने कहा, "अरे, इस असती को भी क्यों नहीं मार देते, जिसके कारण कीचक के प्राण गए? अथवा सूतपुत्र के साथ ही इसका दाह करना चाहिए।" तब उन्होंने बिराट से कहा, "आप आज्ञा दीजिए कि कीचक के साथ इसका हम दाह कर दें, क्योंकि इसीके लिए कीचक मारा गया है।" राजा विराट उन अपने सूत कीचकों के बल को जानता था। उसकी हिम्मत न हुई कि रोके। अतएव दबकर उसने अनुमति दे दी। तब उन कीचकों ने द्रौपदी को पकड़ लिया और उसे बांधकर श्मशान की ओर ले चले। दौपदी ने रोते हुए पुकारकर कहा, "जय, जयन्त, विजय, जत्सेन और जयद्बल नामक मेरे गन्धर्व पति कृपा कर सुनें। ये सूतपुत्र मुझे ले जा रहे हैं।" कृष्णा के रुदन को सुनकर भीमसेन बिना कुछ विचारकर वहां कूद पड़े और कहने लगे, "ए सैरन्ध्री, मैं तुम्हारी बात सुनता हूं। तुम मत डरो।" यह कहकर उसने वहीं प्राकार पर से एक वृक्ष उखाड़ लिया और कीचकों के पीछे दौड़ा। सिंह के समान क्रुद्ध भीम को आते हुए देखकर कीचक और उप-कीचक द्रौपदी को छोड़कर भागे, किन्तु भीम ने उनमें से सैकड़ों का वध कर डाला।

तब लोगों ने दौड़कर राजा विराट से पुकार की, "गान्धर्वों ने सैकड़ों

सूतपुत्रों को मार डाला है और वह सैरन्ध्री छूटकर फिर तुम्हारे घर आ रही है। सैरन्ध्री के कारण तुम्हारे इस पुर का नाश न हो, उसके पहले ही कुछ उपाय करो।" उनके वचन सुनकर विराट ने आज्ञा दी, "एक ही अग्नि में सब कीचकों की दाह-क्रिया करो।" फिर रानी सुदेष्णा से कहा, "सैरन्ध्री यहां आवे तो उससे कहो, जहां चाहे चली जाय। वह गन्धर्वों से रक्षित है। अतएव मैं स्वयं उससे कहने का साहस नहीं करता। पर स्त्रियों को दोष नहीं, अतः तुम कह सकती हो।"

भय से छूटकर जब द्रौपदी नगर में लौटी तो उसे देखकर लोग भागने लगे। गन्धर्वों के डर से कुछ ने नेत्र मूँद लिये। जब वह राजभवन में पहुंची तो सुदेष्णा ने राजा की आज्ञा से उससे कहा, "हे सैरन्ध्री, तुम शीघ्र यहां से चली जाओ। तुम्हारे गन्धर्वों से राजा को अपने पराभव का भय है।" द्रौपदी ने कहा, "हे रानी, तेरह दिन राजा मुझे और क्षमा करें। उसके बाद मेरे गन्धर्व पति मुझे यहां से ले जायंगे।"

४२ :: गोग्रहण

पाण्डवों के वनवास के बारह वर्ष बीतने पर अज्ञातचर्या का तेरहवां वर्ष भी लगभग पूरा हो रहा था। दुर्योधन के मन में खलबली थी और उसने चारों ओर अपने गुप्तचर छोड़ रखे थे। ग्राम, नगर, राष्ट्रों को खोजकर उन बहिश्चरों ने सभा के मध्य में दुर्योधन को सूचना दी कि हमने बहुत ढूंढा, पर पाण्डवों का पता नहीं चला। आपका भला होने को है, जो वे इस तरह से नष्ट हो गए। हां, हमने इतना सुना है कि मत्स्यराज के सेनापति जिस कीचक ने त्रिगर्तों को छकाया था, उसे किन्हीं अज्ञात गन्धर्वों ने मार डाला है। दुर्योधन ने कुछ देर तक अन्तर्मन में सोच कर फिर सभासदों का मत जानना चाहा। कर्ण ने कहा कि और भी चाक-चौबन्द चरों को इस काम में लगाना चाहिए। दुःशासन ने समर्थन किया। द्रोण ने कहा कि पाण्डव इस प्रकार से नष्ट हो जानेवाले नहीं हैं। नीति, धर्म और अर्थ के तत्त्वज्ञ युधिष्ठिर धृतिशील हैं और सब भाई उसके साथ हैं। हो नहीं

सकता कि वे नष्ट हुए हों। वे केवल समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। भीष्म ने द्रोण से सहमत होते हुए कहा, "मैं कुछ बुद्धि की बात कहता हूं, द्रोह-भाव से नहीं। मेरा मत है कि पाण्डव नष्ट नहीं हुए। युधिष्ठिर जिस पुर या जनपद में होंगे, वहां मनुष्य अपने-अपने धर्म में निरत होंगे। वहां वेद-घोष और पूर्णाहुतियों से युक्त भूरि दक्षिणा वाले यज्ञ होते होंगे। वहां सुकाल में मेघ बरसता होगा। भूमि निर्विघ्न कृषि-संपत्ति से भरी होगी। वहां के धान्यों में रस, फलों में गुण, पुष्पों में गंध भरी होगी। उस प्रदेश की वाणी में शुभ शब्दों का समावेश होगा। युधिष्ठिर जहां हों, वहां भय नहीं होगा। वहां बहुला गाएं, दूध-दही-घी से घरों को भर रही होंगी। वहां मनुष्य संतुष्ट, शुद्ध, प्रीतियुक्त, उत्साही धर्मपरायण होंगे। युधिष्ठिर की जहां सन्निद्धि हो, वहां की शुभमति प्रजाएं अवश्य ही सब सुन्दर मंगलों से भरी-पूरी होंगी। इन लक्षणों से युधिष्ठिर का पता लगेगा। सो भी अच्छे द्विजाति उन्हें जान पायंगे, साधारण व्यक्ति नहीं।" कृपाचार्य ने भीम की बात से तार मिलाते हुए कहा, "पाण्डव कहीं गूढ़ भाव से छिपे हैं, समय आने पर प्रकट होंगे। सामान्य रिपु की भी उपेक्षा नहीं की जाती। रणशूर पाण्डवों की तो बात ही क्या! अतएव अपना बल और कोष ठीक कर रखो, जिससे समय पर पांडवों के साथ उचित स्तर पर संधि की जा सके।" कृपाचार्य ने कुछ चुपड़ी बात कही, बाहर से शांति की, भीतर से लड़ानेवाली।

वहीं सभा में त्रिगर्तराज सुशर्मा भी बैठा था, जो कई बार शाल्वेय और मत्स्यों से करारी मार खा चुका था। कीचक के न रहने से अपना दांव आया जान उसने सलाह दी, "मेरे मत मे विराट पर चढ़ाई करने का यही समय है, जब हम उसके धन-धान्य और गोकुल को बलपूर्वक छीन लावें। या तो उसकी सेना को ठिकाने लगा देंगे या संधि करके उसकी शक्ति अपने पक्ष में कर लेंगे।" उसकी बात कर्ण को बहुत भाई। कर्ण ने कहा, "सुशर्मा ने क्या बढ़िया मौके की बात कही है! शीघ्र सेना जोड़कर वहां चलना चाहिए, यदि हमारे प्रज्ञाशाली पितामह की भी आज्ञा हो।" वाक्य का अन्तिम अंश कर्ण ने संभवतः भीष्म की चुटकी लेने के लिए ही कहा था। ऐसी झगड़ालू बात दुर्योधन के मन में घर कर गई। उसने दुःशासन से कहा, "बूढ़ों से सलाह करके जल्दी सेना सजाओ। पहले त्रिगर्त्तराज सुशर्मा सेना

के साथ मत्स्य पर चढ़ाई करें। पीछे एक दिन का अंतरा देकर हम भी वहां पहुंचेंगे। वे लोग जाकर ग्वालों से गोधन छीन लें।" ऐसा ही हुआ। जिस दिन तेरहवें वर्ष का अन्त था, उसी दिन सुशर्मा ने गोग्रहण किया। ग्वालों ने नगर में जाकर विराट से गुहार की कि त्रिगर्त्त-सेना बलपूर्वक गायों को हांके लिये जा रही है।

यह सुनकर राजा विराट और उसके भाई-बन्द भांति-भांति के ... पहन कर तैयार होगए। यहां कथाकार ने कई प्रकार के कवचों का ... किया है। राजकुमारों ने सूर्य के फुल्लों से अलंकृत तनुत्र धारण किये। विराट के छोटे भाई शतानीक ने भीतर से वज्रायसगर्भित और ऊपर से सुनहला चमचमाता हुआ कवच पहना। वज्रायस का तात्पर्य तार की बुनी हुई लोहे की जाली से था। चित्रसूत्र में वज्राकृति वर्तना को हैरिक कहा गया है। शतानीक से छोटे भाई मदिराश्व ने बिल्कुल लोहे का बना हुआ (सर्वपारशव) दृढ़ वर्म, जिसपर आच्छादन चढ़ा हुआ था, धारण किया। विराट के ज्येष्ठ पुत्र शंख ने आयसगर्भित श्वेत वर्म पहना, जिसपर शताक्षि (आंखों की आकृति सदृश) अलंकरण बना हुआ था। स्वयं राजा विराट ने ऐसा अभेद्य कवच धारण किया, जो शतसूर्य, शतावर्त, शतबिन्दु और शताक्षि नामक अभिप्रायों से अलंकृत था। इन भांतियों की व्याख्या इनके नामों से सूचित होती है। ये गुप्तयुग के वस्त्रों के अभिप्राय थे, जिनका बर्तनों और कवचों को सजाने के लिए भी उपयोग होता था। अहिच्छत्रा से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी के प्यालों पर ये आकृतियां स्पष्ट अंकित हैं। भारत से लेकर सासानी ईरान तक इन अलंकरणों का उस युग में प्रचलन था। सूर्यदत्त ने जो कवच पहना, उसमें नीचे से ऊपर तक सैकड़ों कमल और फुल्ले बने हुए थे।

सेना को सज्जित होने की आज्ञा देकर विराट के मन में विचार की एक नई रेखा दौड़ गई। उसने सोचा कि क्यों न अपने इन नए 'पुरुषों' को भी कवच पहनाकर युद्ध के लिए ले चला जाय। देखने में ये सब डील-डौलवाले हैं, ऐसा नहीं कि ये युद्ध न कर सकें। उसका तात्पर्य गुप्त पांडवों से था। उसने उन्हें भी सज्जित होने की आज्ञा दे दी। पूरी तैयारी के साथ विराट की सेना मैदान में पहुंची और त्रिगर्त्तों के साथ भिड़ गई। बड़ा घमासान

युद्ध हुआ। अन्त में सुशर्मा ने विराट को पकड़ लिया। तब युधिष्ठिर के संकेत से भीम ने अपना पराक्रम प्रकट करके त्रिगर्तराज को क्षुद्र मृग के समान मथकर विराट को छुड़ा लिया। दूतों को जय की सूचना के लिए नगर में भेजा गया और स्वयं विराटराज गायों को लौटा लेने के लिए त्रिगर्त्त की ओर बढ़े।

उसी समय दुर्योधन ने कौरवी सेना के साथ वहां पहुंचकर विराट के ग्वालों से उनकी गाएं छीन लीं। समस्त घोष में कुहराम मच गया। डरे हुए गवायध्क्ष ने राजमहल में जाकर पुकार की। उसकी भेंट विराट के राजकुमार भूमिजय उत्तर से हुई और उसने कहा, "हे राजपुत्र, कुरु लोग हमारी साठ हजार गायों को हांके लिये जाते हैं। राष्ट्र का वर्द्धन करनेवाले इस गोधन को बचाने का यत्न करो। राजा मत्स्य ने विश्वासपूर्वक तुम्हें जनपद का शून्य-पाल (वनपाल) नियुक्त किया है। आज वह समय आया है, जब तुम वीणा की जगह धनुष को ही वीणा बनाकर शत्रुओं के बीच प्रत्यंचारूपी तारों से बाण रूपी स्वरों को झंकृत करो।" उस समय तक विराट और दूसरे साथी लौट कर नगर तक नहीं पहुंच पाये थे। विराट का ज्येष्ठ पुत्र शंख भी उन्हीं के साथ था। अतः गवाध्यक्ष को अन्तःपुर में छोटे राजकुमार उत्तर से रक्षा के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। उसकी बात सुनकर उत्तर ने स्त्रियों के मध्य में गर्वित भाव से कहा, "मैं अकेला ही जाकर उन सबसे लड़ सकता हूं, यदि मुझे कोई अच्छा सारथि मिले।" उसके बार-बार ऐसा कहने पर द्रौपदी ने उसे अलग ले जाकर कहा, "यह बृहन्नड़ा कभी पार्थ का सारथि था। उसे अपना सारथि बनाओ। वह तुम्हारी छोटी बहन की बात मान सकता है।" यह संकेत पाकर उत्तर ने अपनी बहन उत्तरा को नर्तन-गृह में भेजा, जहां गुप्त वेश में महाबाहु अर्जुन थे। उत्तरा की बात मानकर जब अर्जुन ने कवच पहना तो उत्तरा की सखियों ने हँसी की, "हे बृहन्नड़ा, संग्राम जीत कर हमारी गुड़ियों के लिए सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लाना।" अर्जुन ने भी उसी बाल-भाव से उत्तर दिया, "हां-हां, अवश्य लाऊंगा, यदि यह उत्तर संग्राम में उन महारथियों को जीत लेगा।"

नगर से बाहर रथ के कुछ दूर पहुंचने पर उन्हें कौरवी सेना मिली। उन वीरों को देखकर उत्तर का मन बैठने लगा। अर्जुन ने पहले उसे उत्सा-

हित किया, फिर उसके अत्यन्त कातर हो जाने पर उसे रथ-संचालन के लिए रथ में रोक लिया। तब वह शीघ्रता से उस छतनार शमी वृक्ष की ओर बढ़ा, जहां उसने अपने अस्त्र छिपाये थे। उत्तर को वृक्ष पर चढ़ाकर उसने उन अस्त्रों को उतरवाया और उत्तर के आश्चर्यचकित होकर पूछने पर उनका परिचय दिया कि ये पाण्डवों के धनुष और वाण हैं। उत्तर ने और भी अचरज से कहा, "पाण्डव तो पासों से अपना राज्य खोकर न जाने कहां चले गए और द्रौपदी भी उन्हींके साथ वन में न जाने कहां चली गई!" अर्जुन ने उसे दिलासा देने के लिए रहस्य खोल दिया और कहा, "मैं ही अर्जुन हूं।" उत्तर ने कुछ पहचान जाननी चाही तो अर्जुन ने अपने दस नामों की सूची (धनञ्जय, विजय, श्वेतवाहन, फाल्गुन, किरीटी, बीभत्सु, सव्यसाची, अर्जुन, जिष्णु, कृष्ण) और उनकी हेतुयुक्त व्याख्या कही। इस सूची से ज्ञात होता है कि कृष्ण अर्जुन का जन्म-नाम था (कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ३९।२०)। नर-नारायण की कल्पना विकसित होने पर यह सूची भागवतों द्वारा सजाई गई ज्ञात होती है। सुनकर उत्तर ने कहा, "मेरा नाम भूमिजय है। मुझे उत्तर भी कहते हैं। हे पार्थ, मैं आपको प्रणाम करता हूं। मैंने अज्ञान से जो कहा हो, उसे क्षमा करें।" अर्जुन ने कहा, "हे वीर, मैं प्रसन्न हूं। इन सब अस्त्रों को रथ में बांध लो। मैं अभी तुम्हारे शत्रुओं को भगाता हूं। तुम स्वस्थ और निर्भय बनो। तब अपने भंगीयुक्त केशों को श्वेत वस्त्रों से बांधकर गांडीव पर प्रत्यंचा चढ़ाकर अर्जुन उसे टंकारने लगे। फिर उन्होंने अपने शंख का घोष किया। उसे सुनते ही द्रोणाचार्य पहचान गए—"रथ का यह शब्द, शंख का यह घोष और भूमि का इस प्रकार कंपन यह अर्जुन के सिवा दूसरे का काम नहीं।" उसी समय दुर्योधन ने भीष्म-द्रोणादि से कहा, "हे आचार्य, कर्ण ने जो बार-बार मुझसे कहा है, वही आपसे कह रहा हूं। बारह वर्ष बन में बिताकर पांडवों को एक वर्ष अज्ञात रहना है। उनका वह तेरहवां वर्ष अभी पूरा नहीं हुआ। यदि अर्जुन उससे पहले ही आ गया है तो फिर उन्हें बारह वर्ष के लिए जाना होगा। या तो लोभवश पांडवों को ही अवधि का ठीक विचार नहीं रहा या हमें ही भ्रांति हो रही है। अवधि की कमीबेशी को भीष्म ठीक कह सकते हैं। कभी सोचा कुछ और जाता है, पर होता कुछ और है। त्रिगर्त्त ने जब

मत्स्यों की छेड़छाड़ की मुझसे बहुत शिकायत की, तब हमने उसे सहायता का वचन देकर कहा कि सप्तमी के तीसरे पहर तुम मत्स्यों की गाएं पकड़ लेना, हम अष्टमी को प्रातः पहुंच जायंगे। पर यहां न गाएं हैं और न वे हैं। क्या वे हार गए या हमसे छल करके मत्स्यों से मिल गए या उनसे निपटकर मत्स्य-सेना हमसे लड़ने के लिए आ रही है और उन्हींमें से कोई महावीर आगे आ पहुंचा है? यदि यह विराट हो या स्वयं अर्जुन भी हो, तो भी हमें लड़ना ही है। आज ये सब महारथी घबड़ाये-से क्यों हैं? स्वयं यमराज या देवराज इन्द्र भी हमसे गोधन छीनने के लिए आवें तो भी हममें से कौन हस्तिनापुर लौटना चाहेगा ? आप थोड़ी देर के लिए आचार्य को पीछे कर दें और जैसी नीति हो, वैसा विधान करें। आचार्य सदा से अर्जुन के पक्षपाती रहे हैं। आचार्यों के मन में करुणा होती है।" उसके ये वचन सुनकर कर्ण ने भी बात-में-बात मिलाई, "क्या आप सबका मन युद्ध में नहीं है ? आप क्यों डर रहे हैं ? मेरे बाण टिड्डी दल की तरह छूट-कर अर्जुन को ढक लेंगे। मैं क्या अर्जुन से किसी प्रकार कम हूं ? आज मैं दुर्योधन के प्रति अपना ऋण चुकाऊंगा। सब कौरव चले जायं या रथ में बैठे हुए मेरा युद्ध देखें।"

कर्ण की बात से कृपाचार्य ने कुछ तमतमाकर कहा, "हे कर्ण, तुम्हारी क्रूर बुद्धि सदा युद्ध की बात सोचती है। शास्त्रों में कई प्रकार की नीतियां कही हैं, उनमें युद्ध सबसे बुरा है। देश और काल को समझकर पराक्रम दिखलाने से कल्याण होता है। इस समय अर्जुन से हमारा भिड़ना ठीक नहीं। वह अकेला ही बहुत है। अकेले अर्जुन ने कुरुओं की रक्षा, अग्नि की तृप्ति, सुभद्रा का हरण, इन्द्रकील पर्वत पर तप और अस्त्र-प्राप्ति, चित्रसेन गन्धर्व की विजय, क्या-क्या नहीं किया ? तुमने अकेले क्या कर लिया ? हमने तेरह वर्ष तक उस पर चोटें की हैं। आज पाशों से छूटे हुए सिंह की तरह यह हमारा सफाया करके रहेगा। हे कर्ण, व्यर्थ साहस मत करो। अर्जुन से लड़ना कंठ में शिला बांधकर समुद्र तरने के समान है।"

अश्वत्थामा को भी कर्ण की गर्वोक्ति खटकी थी। उसने कहा, "देखो, बहुत-से युद्ध जीतकर भी अपने पौरुष की यों डींग नहीं हांकी जाती। अग्नि चुप रहकर परिपाक करता है। सूर्य मौन ही प्रकाशित होता है। पृथिवी

सचराचर लोक को बिना कहे धारण करती है। मनीषियों ने चारों वर्णों के कर्म बताये हैं। जुए से राज्य प्राप्ति क्षत्रिय के लिए कहीं नहीं कही। किस दिन तुमने इन्द्रप्रस्थ को जीता और कौन-सा युद्ध लड़कर तुम द्रौपदी को जीत सके? द्रौपदी के उस क्लेश को अर्जुन कभी क्षमा न करेगा। धर्मवेदों का मत है कि पुत्र के समान शिष्य ही प्यारा होता है। इसीलिए द्रोण को अर्जुन प्रिय है। या तो तुम लड़ो या तुम्हारा मामा क्षात्र-धर्म का पंडित यह जुआरी शकुनि रण-क्षेत्र में उतरे। गांडीव कृत-द्वापर नाम के पासे नहीं फेंकता, वह जलते हुए तीक्ष्ण बाण फेंकता है। गांडीव के छोड़े हुए बाण बीच में अटककर नहीं रह जाते, वे चट्टानों को भी फोड़ डालते हैं। अन्तक यमराज या बड़वामुख अग्नि चाहे कुछ बचा रखें, पर अर्जुन कुछ न छोड़ेगा। द्रोण भले ही लड़ें, पर मैं अर्जुन से न लड़ूंगा। हां, विराट आवें तो हम अवश्य लड़ेंगे।" वस्तुतः कृपाचार्य का इस तरह कहना जहां कर्ण के लिए था, वहां उससे भी अधिक दुर्योधन पर चोट थी। बनवास का दुःख भोगे हुए पांडवों के प्रति बड़े-बूढ़ों के मन में करुणा का भाव स्वाभाविक था। वे यह भी सोचते होंगे कि अब पांडवों को न्याय मिलना चाहिए था। उलटे अर्जुन के साथ युद्ध का प्रसंग आया देख उनका क्षोभ स्वाभाविक था।

बात बढ़ते देख भीष्म ने कहा, "द्रोण का मत ठीक है और कृपाचार्य ने भी ठीक ही सोचा है। कर्ण भी क्षात्र-धर्म के अनुरोध से युद्ध चाहता है, पर जानबूझकर आचार्य पर कटाक्ष न करना चाहिए। देशकाल सोचकर युद्ध की बात करना ठीक है। जिसके सूर्य-जैसे तेजस्वी पांच बैरी हों, उनकी बढ़ती से वह कैसे विचलित न हो जाय? अच्छे धर्मात्मा भी स्वार्थ के कारण डिग जाते हैं। इसलिए हे दुर्योधन, यदि तुम्हें रुचे तो एक बात कहता हूं। कर्ण ने हम सबमें उत्साह भरने के लिए जो कहा, उसे आचार्य-पुत्र क्षमा करें। यह विरोध का समय नहीं। आचार्य में ब्राह्मणत्व और ब्रह्मास्त्र दोनों एक साथ इस प्रकार हैं जैसे चन्द्रमा में कान्ति और कलंक। एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर क्षात्र-धर्म। ये दोनों भारतों के आचार्य द्रोण और उनके पुत्र को छोड़कर एक साथ न मिलेंगे। इस समय अर्जुन को आया जान हमें मिलकर युद्ध करना चाहिए। यह फूट का समय नहीं, बल्कि जितने दोष हैं, उनमें फूट सबसे बुरी है।" भीष्म का यह सारा कथन

कुछ विचित्र-सा है। ऊपर से यह दुर्योधन का पक्षपात ज्ञात होता है; पर सोचने से जान पड़ता है कि आपस की 'तू-तू', 'मैं-मैं' की बिगड़ी हुई परिस्थिति को सम्हालने के लिए ही भीष्म ने तत्तो-थम्भो करना उचित समझा। मूलतः दोष दुर्योधन का था, जिसने द्रोण पर यों कटाक्ष किया था।

अश्वत्थामा ने कहा, "आचार्य ही क्षमा कर सकते हैं। जब आचार्य पर कटाक्ष किया गया तब उसकी प्रतिक्रिया से यह सबकुछ हो गया। अब शांति करनी चाहिए।" उस परिस्थिति में दुर्योधन को अपनी भूल मालूम हुई और उसने द्रोण से क्षमा मांगी। इस पर द्रोण ने कहा, "भीष्म ने पहले जो वाक्य मेरे संबंध में कहा, मैं तो उसी से संतुष्ट हो गया। अब आगे की बात सोचो। दुर्योधन असंयम, साहस या मोह भी करे, तो भी सैनिकों को आंच न आनी चाहिए। यही नीति है। बनवास के पूरा हुए बिना अर्जुन अपने को प्रकट न करेगा। इसलिए दुर्योधन ने जैसा कहा, भीष्म कृपया बतावें कि अवधि पूरी हुई या नहीं।" भीष्म ने काल-चक्र का ठीक हिसाब लगाते हुए कहा कि हर पांचवें वर्ष में दो महीने बढ़ जाते हैं, अतएव गणना के अनुसार पांच महीने और बारह दिन तेरह वर्ष से अधिक हो गए हैं। हिसाब का निश्चय करके ही अर्जुन आता है। पांडव ऐसी भूल न करेंगे। युद्ध से ही सिद्धि मिल जाय, मैं ऐसा नहीं समझता। इसीलिए या तो युद्ध या धर्म-जैसी नीति सोचो, करो, क्योंकि अर्जुन सामने आगया है।" भीष्म की बात सुनकर दुर्योधन ने सोचा कि कहीं धर्म का पल्ला पकड़ा तो आजतक के किये-धरे में अड़ंगा लग जायगा। उसने चट कहा, "हे पितामह, मैं पांडवों को राज्य कभी न दूंगा, जो नीति युद्ध की ओर चले, वही शीघ्र कीजिए।"

उसका यह हठ देखकर भीष्म ने अपनी सैनिक बुद्धि की तत्परता दिखलाते हुए कहा, "सेना के चार भाग करो। एक के साथ दुर्योधन हस्तिनापुर लौटे। दूसरा भाग गोधन को साथ लेकर जाय। आधी सेना से हम सब अर्जुन, विराट या इन्द्र भी आ जाय, तो उससे भी लड़ेंगे।" आचार्य बीच में, अश्वत्थामा बाईं ओर, कृप दाहिनी ओर, आगे कर्ण सुसज्जित हों। मैं सेना के पीछे रह कर उसकी रक्षा करूंगा।"

यों कौरवी सेना को सामने देख अर्जुन अपने रथ को गुंजाता हुआ

उनकी ओर बढ़ा। द्रोण ने स्थिति समझकर कहा, "वह महारथी अर्जुन गांडीव के साथ आया है। उसीके चलाये दो बाण मेरे पैरों में आकर गिरे हैं और दो कानों को छूते निकल गए हैं। वनवास से लौटकर वह मुझे प्रणाम कर रहा है और युद्ध के लिए मेरी आज्ञा चाहता है।" तब अर्जुन ने आगे बढ़कर सेना पर दृष्टि डाली और व्यूह बनाये हुए पांचों सेना-पतियों को ताड़ लिया और सोचा, यहां द्रोण, अश्वत्थामा, कर्ण, कृप और भीष्म तो हैं, पर दुर्योधन दिखाई नहीं पड़ता। ज्ञात होता है कि वह गायों के साथ अपनी जान लेकर भागा जा रहा है। यह सोचकर दुर्योधन की दिशा में ही अपना रथ बढ़ाया। द्रोण ने स्थिति समझ ली कि दुर्योधन को रोके बिना यह न रुकेगा। दुर्योधन अकेला इससे जूझ जायगा, फिर हम गाय या धन लेकर क्या करेंगे ? इसलिए इसका पृष्ठ भाग चांपते हुए हमें भी बढ़ना चाहिए। इस अवसर पर अर्जुन ने शंखध्वनि की, जिसे सुनकर गाएं रम्भाती हुई मत्स्य की ओर लौट पड़ीं। इसी बीच में कुरु-सेना ने उसपर हमला कर दिया। दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ और अर्जुन की मार के सामने कर्ण, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा, दुःशासन आदि सब महारथी क्रमशः पलायन कर गये। अपने दल को छितराया हुआ देखकर भीष्म भी युद्ध में उतर पड़े, किन्तु उन्हें भी विमुख होना पड़ा। जब सब कौरव योद्धा शांत हो गए तब अर्जुन ने उत्तरा की बात का स्मरण करके विराट-पुत्र से कहा, "हे उत्तर, कृपाचार्य के शुक्ल, कर्ण के पीले, अश्वत्थामा के नीले वस्त्रों को बटोर लाओ।"

कुरुओं को हराकर अर्जुन ने गोधन को एकत्र करके गोपालों से कहा कि इन सबको विराट नगरी में ले चलो। उधर राजा विराट भी त्रिगर्तों को परास्त कर गायों के साथ लौटे। तब उन्होंने पूछा कि उत्तर कहां गया तो स्त्रियों ने कहा कि कुरुओं ने गोधन का हरण किया था, वह बृहन्नड़ा की सहायता से अकेला उनसे युद्ध करने गया है। सुनकर राजा को चिंता हुई और उसने अपनी सेना को कुमार की सहायता के लिए शीघ्र भेजा। तब धर्मराज ने हँसकर कहा, "हे राजन्, बृहन्नड़ा के सारथि होते हुए तुम्हारी गायों को शत्रु न ले जा सकेंगे। उसी समय दूतों ने आकर उत्तर की विजय का शुभ संवाद सुनाया। सुनकर विराट ने प्रसन्नता से उत्सव

मनाने की आज्ञा दी और उत्तर के स्वागत के लिए धूमधाम से लोगों को भेजा।

प्रसन्न हुए महाराज ने कंक से कहा, "हे सैरन्ध्री, पांसे लाओ। हे कंक, द्यूत हो।" किन्तु कंक ने उत्तर दिया, "हमने सुना है कि हर्ष का समाचार पाकर पासों से न खेलना चाहिए। आज आपको पासों से खिलाने में मुझे उत्साह नहीं है। हे राजन्, द्यूत में बहुत दोष है। उसका त्याग ही उचित है। तुमने पांडव युधिष्ठिर को देखा या सुना होगा। उसने अपने भारी राज्य और भाइयों को भी जुए में खो दिया। फिर आपकी जैसी रुचि हो, वैसा करें।"

तब विराट पासों से खेलने लगे। खेलते हुए उन्होंने कहा, "देखो, आज मेरे पुत्र ने कौरवों को कैसा जीत लिया।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "वृहन्नड़ा जिसका सारथि हो, वह कैसे न जीतेगा?" यह सुनकर मत्स्यराज बहुत कुपित हुए, "अरे कंक, मेरे पुत्र के साथ उस नपुंसक की भी प्रशंसा करते हुए तुम मेरा अपमान करते हो! तुम वाच्य-अवाच्य नहीं जानते।" युधिष्ठिर ने फिर कहा, "द्रोण, भीष्म, कर्ण, कृप आदि महारथियों को बृहन्नड़ा के अतिरिक्त इन्द्र भी नहीं जीत सकते।" यह सुनते ही विराट आग-बबूला हो गए और उन्होंने पासों को युधिष्ठिर के मुंह पर फेंक कर मारा। तुरन्त युधिष्ठिर की नाक से रक्त बहने लगा। युधिष्ठिर ने उसे हाथों में ही रोक लिया। पास में खड़ी हुई द्रौपदी उसका कारण समझ गई और उसने आगे बढ़कर सोने के पात्र में उस शोणित को ले लिया।

उसी समय उत्तर नगर में प्रविष्ट हुआ। राजभवन के द्वार पर पहुंचकर उसने प्रतीहार द्वारा पिता को सूचना भेजी। द्वारपाल ने भीतर जाकर विराट से कहा, "बृहन्नड़ा के साथ आपका पुत्र उत्तर द्वार पर आया है।" मत्स्यराज ने प्रसन्नता से कहा कि उन दोनों को शीघ्र यहां लिवा लाओ। युधिष्ठिर ने चुपके से द्वारपाल के कान में कहा, "उत्तर को अकेले यहां लाना, बृहन्नड़ा को नहीं। उसका यह व्रत है कि संग्राम के अतिरिक्त जो मुझे चोट पहुंचायगा, या मेरे शरीर का रक्त गिरायगा, उसे वह जीवित न छोड़ेगा।"

तब उत्तर ने भीतर आकर पिता को प्रणाम किया, फिर धर्मराज को देखकर पूछा, "किसने इन्हें मारकर पाप किया है?" विराट ने कहा, "मैंने ही ऐसा किया है। यह तुम्हारी प्रशंसा सुनकर षण्ढ बृहन्नड़ा की प्रशंसा करने

लगता था।" उत्तर ने कहा, "हे राजन्, आपने बहुत अनुचित किया। शीघ्र इन्हें प्रसन्न कीजिए, नहीं तो दारुण ब्रह्मविष आपको समूल जला डालेगा।" पुत्र की बात सुनकर विराट ने युधिष्ठिर से क्षमा मांगी। युधिष्ठिर ने राजा से कहा, "हे महाराज, मैंने आपको पहले ही क्षमा कर दिया। मैंने अपने भीतर क्रोध नहीं रखा। यदि मेरी नाक का यह रक्त भूमि पर गिर जाता, तो राष्ट्रसहित आपका विनाश निश्चित था। मैं आपको दोष नहीं देता।" जब रक्त बन्द हो गया तो बृहन्नड़ा ने प्रवेश किया और विराट और कंक को प्रणाम करके वह एक ओर बैठ गया।

तब विराट ने अर्जुन के सामने फिर उत्तर की प्रशंसा की और उससे युद्ध का सब हाल पूछा। उत्तर ने कहा, "न मैंने गाएं जीतीं और न मैंने शत्रुओं को जीता। यह सब तो किसी देवपुत्र का कर्म है। मैं तो डरकर भाग रहा था, किन्तु उसने मुझे रोका। अकेले उस वीर ने छह महारथियों को परास्त किया।" विराट ने पूछा, "वह देवपुत्र कहां है? मैं उसे देखना चाहता हूं।" उत्तर ने कहा, "वह प्रतापी देवपुत्र अन्तर्धान हो गया। मैं समझता हूं, कल या परसों वह प्रकट होगा।" ऐसा कहे जाने पर विराट ने वहीं छिप कर रहते हुए अर्जुन को नहीं जान पाया। तब विराट की अनुमति से अर्जुन ने झीने और कीमती वस्त्र उत्तरा को प्रदान किये, जिन्हें पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। तब अर्जुन ने एकान्त में उत्तरा के साथ परामर्श करके निश्चित किया कि महाराज युधिष्ठिर के प्रति अब क्या व्यवहार करना चाहिए। तब तीसरे दिन पांचों पाण्डव स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण किये हुए और सब आभूषणों से अलंकृत हो युधिष्ठिर को आगे कर विराट की सभा में आये और राजा के योग्य आसनों पर बैठ गए। सबके बैठ जाने पर स्वयं विराट भी सभा में उपस्थित हुए। पांडवों को राजासन पर बैठा देख उन्होंने कंक से पूछा, "मैंने आपको पासों का अधिकार दिया था, आप राजासन पर कैसे आ बैठे?" सुनकर अर्जुन ने कहा, "ये कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर हैं, जो इन्द्रासन पर बैठने के योग्य हैं।" सुनकर विराट ने पूछा, "यदि ये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर हैं, तो इनके अन्य भ्राता अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव कहां हैं? और यशस्विनी द्रौपदी कहां है? जबसे पांडव जुए में हारे तबसे उनका कोई समाचार नहीं मिला। अर्जुन ने कहा, "आपका जो यह वल्लभ सूद है, यही

महाबाहु भीम हैं। यही वे गंधर्व हैं, जिन्होंने कीचक को मारा था। जो आपके अश्वपाल बने थे वे नकुल हैं और गोसंख्य रूप में सहदेव हैं। सुहासिनी सैरन्ध्री ही द्रौपदी है और मैं अर्जुन हूं। जैसे संतति गर्भ में सुख से रहती है, वैसे हम सब आपके घर में सुखपूर्वक रहे।" जब अर्जुन ने इस प्रकार परिचय दिया तब उत्तर ने अर्जुन के उस पराक्रम का वर्णन किया, जो उसने संग्राम में कुरुओं के पराजय के समय प्रकट किया था। उसका वचन सुनकर मत्स्यराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा, "हम युधिष्ठिर के अनुरक्त हैं, उनका सम्मान और प्रसादन करना चाहिए। यदि तुम सहमत हो तो उत्तरा का विवाह अर्जुन से कर दो।" उत्तर ने कहा, "अवश्य ही महाभाग पांडवों का पूजन-सम्मान करना उचित है।" विराट ने बताया कि मैं भी युद्ध में शत्रुओं के हाथों में पड़ गया था, मुझे भीमसेन ने छुड़ाया और गायों को जीता। तब विराट ने अपने आमात्यों के साथ कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर से क्षमा मांगी, "आपको न जानकर हमने जो कहा-सुना हो, कृपया उसे क्षमा करें।" और यह कहकर अपनी सेना और कोष युधिष्ठिर को समर्पित किया और कहा, "यह कैसे आनन्द की बात है कि हम सब इस कष्ट से सकुशल पार हुए? सव्यसाची अर्जुन उत्तरा को ग्रहण करें। ये ही उसके योग्य पति हैं।" यह सुनकर युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखा। उनका संकेत समझकर अर्जुन ने विराटसे कहा, "हे राजन्, मत्स्य वंश और भरत वंश का यह संबंध उचित ही है। मैं आपकी इस पुत्री को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करता हूं।" विराट ने पूछा, "आप इसे भार्या के रूप में क्यों नहीं स्वीकार करते?" अर्जुन ने उत्तर दिया, "आपके अन्तःपुर में रहते हुए मैंने इस पुत्री को गुप्त और प्रकट रूप में देखा है। इसने पिता तुल्य मेरा विश्वास किया। यह मुझे सदा प्यार करती रही और नृत्य एवं गान के शिक्षक आचार्य के रूप में मानती रही। मैं इसकी वयस्क अवस्था में वर्षभर इसके साथ शुद्ध जितेन्द्रिय भाव से रहा हूं। इसलिए अपनी पुत्रवधू के रूप में इसे स्वीकार करता हूं। वासुदेव कृष्ण का भांजा, उनका अत्यन्त प्रिय अभिमन्यु मेरा पुत्र है। वही आपकी इस पुत्री का अनुरूप पति और आपका जामाता होगा।" मत्स्यराज विराट ने अत्यन्त प्रसन्न होकर इसे स्वीकार किया।

तब युधिष्ठिर ने भी इस सम्बन्ध की अनुमति दी। फिर पांचों पांडव

विराट के उपलब्य नगर में आये और उन्होंने अपने सब संबंधियों को बुलाया। वहीं अर्जुन ने कृष्ण को और अभिमन्यु को भी बुलाया। आनर्त देश से दाशार्ह, काशिराज, शैब्य, यज्ञसेन, द्रौपदी के वीर पुत्र, शिखंडी, धृष्टद्युम्न और अनेक राजा एकत्र हुए। बड़े उत्सव के साथ विराट ने अपनी कन्या का अभिमन्यु के साथ विवाह किया। उसमें कृष्ण ने पांडवों को भात के रूप में बहुत से रत्न-वस्त्रादि प्रदान किये। अनेक रूपवती अलंकृत स्त्रियों ने राजपुत्री उत्तरा को सामने किया और अर्जुन ने उसे स्वीकार किया और तब कृष्ण की उपस्थिति में उसका विवाह अभिमन्यु के साथ हुआ। कृष्ण जो धन लाये थे, वह सब युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों में वितरण कर दिया। उस महोत्सव से मत्स्यराज विराट की वह पुरी अत्यन्त सुशोभित हुई।

(विराट पर्व समाप्त)

'मण्डल' द्वारा प्रकाशित

धर्म, अध्यात्म और दर्शन विषयक साहित्य

- विनय-पत्रिका
- भगवद्गीता
- गीता-माता
- गीता-बोध
- अनासक्ति योग
- गीता की महिमा
- उपनिषदों का बोध
- उपनिषद्
- वेदान्त
- गीता-प्रवेशिका
- महाभारत कथा
- महाभारत सार
- ज्ञानेश्वर की ज्ञान-गंगा
- भागवत-कथा
- कृष्ण-कथा
- भारत सवित्री (खण्ड १, २, ३)

सस्ता साहित्य मण्डल